प्रकाशकीय

वाचक उमास्वाति कृ 029250 न दर्शन'की अमर एवं अद्वितीय कृति है। ...ल, खगोल आदि समस्त महत्त्वपूर्ण विषयो का संक्षिप्त प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ जैन दर्शन की सर्वप्रथम सस्कृत कृति है। इसकी भाषा सरल एवं शैली प्रवाहशील है। इस लोकप्रिय ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ एव विवेचन लिखे गए हैं। उनमें पडितप्रवर सुखलालजी सघवीकृत प्रस्तुत विवेचन का प्रमुख स्थान है। हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओ में विरचित तत्त्वार्थ-विवेचनों में पडितजी की यह कृति नि सन्देह सर्वोपरि है। इसमें समस्त प्राचीन सस्कृत टीकाओ का सार समाहित है। प्रारम्भ में पंडितजी की विस्तृत प्रस्तावना ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह विवेचन गुजराती तथा अंग्रेजी में भी प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी विवेचन का यह तृतीय सस्करण प्रकाशित हो रहा है। इस सस्करण में प्रस्तावना के अन्त में जापानी विदुषी कुमारी सुजुको ओहिरा का चिन्तनपूर्ण निबन्ध दिया गया है जो तत्त्वार्थसूत्र की मूल पाठविषयक समस्या पर अच्छा प्रकाश डालता है। इस तरह प्रस्तुत संस्करण को प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन अमृतसर के स्व० लाला जगन्नाथ जैन की पुण्यस्मृति में किया गया है। आप सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति के सम्मान्य मन्त्री लाला हरजसराय जैन के पूज्य पिता थे। आपकी तथा आपकी सहधर्मिणी स्व० श्रीमती जीवनदेवी दोनों की स्मृति में 'जीवन-जगन चेरिटेवल ट्रस्ट' की स्थापना की गई है। इस ट्रस्ट से पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान को आर्थिक सहायता प्राप्त होती रहती है।

सस्थान ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद का विशेष आभारी है जिसने चार हजार रुपये का अनुदान देकर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन-व्यय का आधा भार सहर्ष वहन किया है। पूज्यप्रवर प० सुखलालजी एव परमादरणीय पं० दलसुखभाई मालवणिया का तो सस्थान प्रारम्भ से ही ऋणी है। हमारे सहयोगी श्री जमनालाल जैन ने सम्पादन कार्य एव ग्रन्थ को अधुनातन रूप में प्रस्तुत करने में पूर्ण सहयोग दिया है, अत उनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ। कुशल मुद्रण के लिए शिवलाल प्रिण्टर्स के सचालक श्री हरिप्रसाद निगम धन्यवाद के पात्र हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५
१. ७. ७६

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

प्राक्कथन

तत्त्वार्थसूत्र-विवेचन का प्रथम गुजराती संस्करण सन् १९३० में गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ था। उसी के हिन्दी सस्करण का प्रकाशन सन् १९३९ मे श्री आत्मानन्द जन्म-शताब्दी स्मारक ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रथम पुष्प के रूप मे हुआ। इस हिन्दी सस्करण के परिचय (प्रस्तावना) मे कुछ संशोधन किया गया था और इसमे सम्पादक श्री कृष्णचन्द्रजी और प० दलसुखभाई मालवणिया ने शब्दसूची और सूत्रपाठ उपलब्ध पाठान्तरो के साथ जोडा था। 'परिचय' मे विशेषत वाचक उमास्वाति की परम्परा के विषय में पुनर्विचार करते हुए यह कहा गया था कि वे श्वेताम्बर परम्परा के थे। इसी हिन्दी सस्करण के आधार पर गुजराती का दूसरा सस्करण सन् १९४० में श्री पूजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ और विवेचन मे दो-चार स्थानो पर विशेष स्पष्टीकरण बढाकर उसका तीसरा सस्करण उसी ग्रन्थमाला से सन् १९४९ मे प्रकाशित हुआ। बाद में हिन्दी का दूसरा सस्करण उक्त स्पष्टीकरणो के साथ जैन संस्कृति सशोधन मंडल, बनारस से सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ।

प्रथम गुजराती सस्करण (सन् १९३०) के वक्तव्य का आवश्यक अश यहाँ दिया जा रहा है, जिससे मुख्यतया तीन बातें ज्ञात होती हैं। पहली यह कि शुरू मे विवेचन किस ढग से लिखने की इच्छा थी और अन्त मे वह किस रूप मे लिखा गया। दूसरी यह कि हिन्दी में विवेचन लिखना प्रारभ करने पर भी वह प्रथम गुजराती मे क्यो और किस परिस्थिति मे समाप्त किया गया और फिर सारा का सारा विवेचन गुजराती में ही प्रथम क्यो प्रकाशित हुआ। तीसरी यह कि कैसे और किन अधिकारियो को लक्ष्य मे रखकर विवेचन लिखा गया है, उसका आधार क्या है और उसका स्वरूप तथा शैली कैसी रखी गई है।

"प्रथम कल्पना—लगभग १२ वर्ष पहले जब मैं अपने सहृदय मित्र श्री रमणिकलाल मगनलाल मोदी, बी० ए० के साथ पूना मे था तब हम दोनो ने मिलकर साहित्य-निर्माण के विषय मे बहुत विचार करने के

बाद तीन ग्रन्थ लिखने की स्पष्ट कल्पना की। श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों सम्प्रदायो में प्रतिदिन बढती हुई पाठशालाओ, छात्रालयो और विद्यालयो मे जैन-दर्शन के शिक्षण की आवश्यकता जैसे-जैसे अधिक प्रतीत होने लगी वैसे-वैसे चारो ओर से दोनो सम्प्रदायो मे मान्य नई शैली के लोकभाषा मे लिखे गए जैन-दर्शन विषयक ग्रंथो की मांग भी होने लगी। यह देखकर हमने निश्चय किया कि 'तत्त्वार्थ' और 'सन्मतितर्क' इन दोनो ग्रथो का तो विवेचन किया जाए और उसके परिणामस्वरूप तृतीय पुस्तक 'जैन पारिभाषिक शब्दकोश' स्वतन्त्र रूप से लिखी जाए। इस प्रथम कल्पना के अनुसार हम दोनो ने तत्त्वार्थ के विवेचन का काम आज से ११ वर्ष पूर्व (सन् १९१९ मे) आगरा मे प्रारम्भ किया।

"अपनी विशाल योजना के अनुसार हमने काम प्रारम्भ किया और इष्ट सहायको का समागम होता गया, पर वे आकर स्थिर रहे न रहे उसके पूर्व ही वे पक्षियो की तरह भिन्न-भिन्न दिशाओ मे तितर-वितर हो गए और बाद मे तो आगरा के इस घोसले मे अकेला मै ही रह गया। तत्त्वार्थ का आरम्भ किया गया कार्य और अन्य कार्य मेरे अकेले के बस के न थे और यह कार्य चाहे जिस तरह पूर्ण करने का निश्चय भी चुप न रहने देता था। सहयोग और मित्रो का आकर्षण देखकर मै आगरा छोडकर अहमदाबाद चला गया। वहाँ मैने 'सन्मति' का कार्य हाथ मे लिया और तत्त्वार्थ के दो-चार सूत्रो पर आगरा में जो कुछ लिखा वह ज्यो का त्यो पडा रहा।

"भावनगर मे सन् १९२१–२२ मे सन्मति का काम करते समय बीच-बीच मे तत्त्वार्थ के अधूरे काम का स्मरण हो आता और मै चिन्तित हो जाता। मानसिक सामग्री होने पर भी उपयुक्त इष्ट मित्रो के अभाव के कारण मैने तत्त्वार्थ के विवेचन की पूर्व निश्चित विशाल योजना दूर करके अपना उतना भार कम किया, पर इस कार्य का सकल्प ज्यो का त्यो था। इसलिए स्वास्थ्य के कारण जब मै विश्रान्ति के लिए भावनगर के पास वालुकड़ गाँव गया तब फिर तत्त्वार्थ का कार्य हाथ मे लिया और उसकी विशाल योजना सक्षिप्त करके मध्यममार्ग अपनाया। इस विश्रांति-काल मे भिन्न-भिन्न जगहो मे रहकर लिखा। इस काल मे लिखा तो कम गया पर उसकी एक रूपरेखा (पद्धति) मन मे निश्चित हो गई और कभी अकेले लिखने का विश्वास उत्पन्न हुआ।

'मैं उन दिनो गुजरात में ही रहता था और लिखता था। पूर्व-

निश्चित पद्धति को भी संकुचित करना पड़ा था, फिर भी पूर्व सस्कारों का एक साथ कभी विनाश नही होता, मानव-शास्त्र के इस नियम से मैं भी बद्ध था। आगरा में लिखने के लिए सोची गई और काम मे लाई गई हिन्दी भाषा का सस्कार मेरे मन मे कायम था। इसलिए मैंने उसी भाषा मे लिखना शुरू किया। हिन्दी भाषा में दो अध्याय लिखे गए। इतने मे ही बीच मे रुके हुए सन्मति के काम का सिलसिला पुनः प्रारम्भ हुआ और इसके प्रवाह मे तत्त्वार्थ के कार्य को वही छोडना पडा। स्थूल रूप से काम चलाने की कोई आशा नही थी, पर मन तो अधिकाधिक कार्य कर ही रहा था। उसका थोड़ा-बहुत मूर्त रूप आगे चलकर दो वर्ष बाद अवकाश के दिनो मे कलकत्ता में सिद्ध हुआ और चार अध्याय तक पहुँचा। उसके बाद अनेक प्रकार का मानसिक और शारीरिक दबाव बढ़ता ही गया, इसलिए तत्त्वार्थ को हाथ मे लेना कठिन हो गया और पूरे तीन वर्ष अन्य कामो मे बीत गए। सन् १९२७ के ग्रीष्मावकाश में लीमडी गया। तब फिर तत्त्वार्थ का काम हाथ में आया और वह थोडा आगे बढा भी, लगभग छ अध्याय तक पहुँच गया। पर अन्त मे मुझे प्रतीत हुआ कि अब सन्मति का कार्य पूर्ण करने के बाद ही तत्त्वार्थ को हाथ मे लेना श्रेयस्कर है। इसलिए सन्मतितर्क का कार्य दुगुने वेग से करने लगा। पर इतने समय तक गुजरात मे रहने से और इष्ट मित्रो के कहने से यह धारणा हुई कि पहले तत्त्वार्थ का गुजराती सस्करण निकाला जाए। यह नवीन संस्कार प्रबल था। पुराने सस्कार से हिन्दी भाषा मे छ अध्यायो का लेखन हो गया था। हिन्दी से गुजराती करना शक्य और इष्ट होने पर भी उसके लिए समय नही था। शेष अश गुजराती मे लिखूँ तो भी प्रथम हिन्दी मे लिखे हुए का क्या उपयोग? योग्य अनुवादक प्राप्त करना भी सरल बात नही थी। ये सभी असुविधाएँ थी, पर भाग्यवश इनका भी अन्त आ गया। विद्वान् और सहृदय मित्र रसिकलाल छोटालाल परीख ने हिन्दी से गुजराती मे अनुवाद किया और शेष चार अध्याय मैंने गुजराती मे ही लिख डाले। इन चार अध्यायो का हिन्दी अनुवाद श्री कृष्णचन्द्रजी ने किया है। इस तरह लगभग ग्यारह वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया हुआ सकल्प पूर्ण हुआ।

"पद्धति—पहले जब तत्त्वार्थ पर विवेचन लिखने की कल्पना आई तब निश्चित की गई योजना के पीछे दृष्टि यह थी कि सपूर्ण जैन तत्त्वज्ञान और जैन आचार का स्वरूप एक ही स्थान पर प्रामाणिक रूप मे

उसके विकासक्रमानुसार प्रत्येक अभ्यासी के लिए सुलभ हो जाए। जैन और जैनेतर तत्त्वज्ञान के अभ्यासियो की सकुचित परिभाषाभेद की दीवाल तुलनात्मक वर्णन से टूट जाए और आज तक के भारतीय दर्शनो में या पश्चिमी तत्त्वज्ञान के चिन्तन मे सिद्ध और स्पष्ट महत्त्व के विषयो द्वारा जैन ज्ञानकोश समृद्ध हो, इस प्रकार से तत्त्वार्थ का विवेचन लिखा जाए। इस धारणा मे तत्त्वार्थ विषयक दोनो सम्प्रदायो की किसी एक ही टीका के अनुवाद या सार को स्थान नही था। इसमे टीकाओ के दोहन के अतिरिक्त दूसरे भी महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थो के सार को स्थान था। परन्तु जब इस विशाल योजना ने मध्यममार्ग का रूप ग्रहण किया तब उसके पीछे की दृष्टि भी कुछ सकुचित हुई। फिर भी मैंने इस मध्यम-मार्गी विवेचन-पद्धति मे मुख्य रूप से निम्न बातो का ध्यान रखा है :

१. किसी एक ही ग्रन्थ का अनुवाद या सार न लिखकर या किसी एक ही सम्प्रदाय के मन्तव्य का बिना अनुसरण किए ही जो कुछ आज तक जैन तत्त्वज्ञान के अङ्ग के रूप मे पठन-चिन्तन मे आया हो उसका तटस्थ भाव से उपयोग करना।

२. विवेचन महाविद्यालय या कालेज के विद्यार्थियो की जिज्ञासा के अनुकूल हो तथा पुरातन प्रणाली से अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियो को भी रुचिकर लगे इस प्रकार से साम्प्रदायिक परिभाषा को कायम रख कर सरल विश्लेषण करना।

३ जहाँ ठीक प्रतीत हो और जितना ठीक हो उतने ही अश मे संवाद के रूप मे और शेष भाग मे बिना सवाद के सरलतापूर्वक चर्चा करना।

४. विवेचन मे सूत्रपाठ एक ही रखना और वह भी भाष्य-स्वीकृत और जहाँ महत्त्वपूर्ण अर्थभेद हो वहाँ भेदवाला सूत्र देकर नीचे टिप्पणी[1] मे उसका अर्थ देना।

५. जहाँ तक अर्थ दृष्टिसंगत हो वैसे एक या अनेक सूत्रों को साथ रखकर उनका अर्थ लिखना और एक साथ ही विवेचन करना। ऐसा करते हुए जहाँ विषय लम्बा हो वहाँ उसका विभाग करके शीर्षक द्वारा वक्तव्य का विश्लेषण करना।

६. बहुत प्रसिद्ध स्थल में बहुत अधिक जटिलता न आ जाए,

---

१. अब ऐसी टिप्पणियाँ मूल सूत्रों में दे दी गई हैं। देखें—पृ० १११-१३८।

इसका ध्यान रखते हुए जैन परिभाषा की जैनेतर परिभाषा के साथ तुलना करना।

७ किमी एक ही विषय पर जहाँ केवल श्वेताम्बर या दिगम्बर अथवा दोनो के मिलकर अनेक मन्तव्य हो वहाँ कितना और क्या लेना और कितना छोडना इसका निर्णय सूत्रकार के आशय की निकटता और विवेचन के परिमाण की मर्यादा को ध्यान मे रखकर स्वतन्त्र रूप से करना और किसी एक ही सम्प्रदाय के वशीभूत न होकर जैन तत्त्वज्ञान या सूत्रकार का ही अनुसरण करना।

"इतनी बातें ध्यान मे रखने पर भी प्रस्तुत विवेचन मे भाष्य, उसकी वृत्ति, सर्वार्थसिद्धि एव राजवार्तिक के ही अशो का विशेष रूप से आना स्वाभाविक है। क्योंकि ये ही ग्रन्थ मूल सूत्रो की आत्मा को स्पर्श तथा स्पष्ट करते हैं। इनमे भी मैने प्राय भाष्य को ही प्राधान्य दिया है क्योंकि यह प्राचीन एव स्वोपज्ञ होने से सूत्रकार के आशय को अधिक स्पर्श करता है।

"प्रस्तुत विवेचन मे पहले की विशाल योजना के अनुसार तुलना नही की गई है। इसलिए न्यूनता को थोडे-बहुत अशों मे दूर करने और तुलनात्मक प्रधानतावाली आधुनिक रसप्रद शिक्षण-प्रणाली का अनुसरण करने के लिए 'प्रस्तावना' मे तुलना सम्बन्धी कार्य किया गया है। प्रस्तावना मे की गई तुलना पाठक को ऊपर-ऊपर से बहुत ही अल्प प्रतीत होगी। यह ठीक है, पर सूक्ष्म अभ्यासी देखेंगे कि यह अल्प प्रतीत होने पर भी विचारणीय अधिक है। प्रस्तावना में की जाने-वाली तुलना में लम्बे-लम्बे विषयो और वर्णनो का स्थान नही होता, इसलिए तुलनोपयोगी मुख्य मुद्दो को पहले छाँटकर बाद मे संभाव्य मुद्दो की वैदिक और बौद्ध दर्शनो के साथ तुलना की गई है। उन-उन मुद्दों पर ब्योरेवार विचार के लिए उन-उन दर्शनो के ग्रन्थों के स्थलों का निर्देश कर दिया गया है। इससे अभ्यास करनेवालों को अपनी बुद्धि का उपयोग करने का भी अवकाश रहेगा। इसी बहाने उनके लिए दर्शनांतर के अवलोकन का मार्ग भी खुल जाएगा, ऐसी आशा है।"

गुजराती विवेचन के करीब २१ वर्ष बाद सन् १९५२ में हिन्दी विवे-चन का दूसरा सस्करण प्रकाशित हुआ। इतने समय में तत्त्वार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला साहित्य पर्याप्त परिमाण में प्रकाशित हुआ है। भाषा-दृष्टि से सस्कृत, गुजराती, अंग्रेजी और हिन्दी इन चार भाषाओं में

तत्त्वार्थ विषयक साहित्य प्रकाशित हुआ है। इसमें भी न केवल प्राचीन ग्रन्थों का ही प्रकाशन समाविष्ट है अपितु समालोचनात्मक, अनुवादात्मक, संशोधनात्मक और विवेचनात्मक आदि अनेकविध साहित्य समाविष्ट है।

प्राचीन टीका-ग्रन्थों मे से सिद्धसेनीय और हारिभद्रीय दोनो भाष्य-वृत्तियो को पूर्णतया प्रकाशित करने-कराने का श्रेय वस्तुत श्रीमान् सागरानन्द सूरीश्वर को है। उनका एक समालोचनात्मक निबन्ध भी हिन्दी मे प्रकाशित हुआ है, जिसमे वाचक उमास्वाति के श्वेताम्बर या दिगम्बर होने के विषय मे मुख्यरूप से चर्चा है। तत्त्वार्थ के मूल सूत्रों का गुजराती अनुवाद श्री हीरालाल कापडिया, एम० ए० का तथा तत्त्वार्थभाष्य के प्रथम अध्याय का गुजराती अनुवाद विवेचनसहित प० प्रभुदास बेचरदास परीख का प्रकाशित हुआ है। तत्त्वार्थ का हिन्दी अनुवाद जो वस्तुत. मेरे गुजराती विवेचन का अक्षरशः अनुवाद है वह फलोदी (मारवाड़) के श्री मेघराजजी मुणोत के द्वारा तैयार होकर प्रकाशित हुआ है। स्थानकवासी मुनि (बाद मे आचार्य) आत्मारामजी उपाध्याय के द्वारा 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम समन्वय' नामक दो पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुई हैं। इनमें से एक हिन्दी अर्थयुक्त है और दूसरी हिन्दी अर्थ-रहित आगमपाठवाली है।

श्री रामजीभाई दोशी का गुजराती तत्त्वार्थ-विवेचन सोनगढ से प्रकाशित हुआ है। प्रो० जी० आर० जैन का तत्त्वार्थ के पचम अध्याय का विवेचन आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से अंग्रेजी मे प्रकाशित हुआ है।[1] प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित श्रुतसागराचार्यकृत तत्त्वार्थवृत्ति, पं० लालबहादुर शास्त्रीकृत तत्त्वार्थसूत्र का हिन्दी अनुवाद और प० फूलचंद्रजी का हिन्दी विवेचन बनारस से प्रकाशित हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र की भास्करनंदिकृत सुखबोधवृत्ति ओरिएण्टल लायब्रेरी पब्लिकेशन की सस्कृत सीरीज मे ८४वी पुस्तक रूप से प्रकाशित हुई है जो प० शान्तिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित है। यह वृत्ति १४वी शताब्दी की है। तत्त्वार्थत्रिसूत्रीप्रकाशिका नामक व्याख्या जो श्री विजयलावण्यसूरिकृत है और जो श्री विजयनेमिसूरि ग्रन्थमाला के २२ वें रत्न के रूप में प्रकाशित हुई है, वह पंचमाध्याय के

---

1. Cosmology : Old and New.

उत्पादव्ययादि तीन सूत्रो (५ २९-३१) की सभाष्य सिद्धसेनीय वृत्ति का विस्तृत विवरण है।

पिछले २१ वर्षो में प्रकाशित व निर्मित तत्त्वार्थविषयक साहित्य का उल्लेख यहाँ इसलिए किया है कि २१ वर्षो के पहले जो तत्त्वार्थ के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार था वह पिछले वर्षो में किस तरह और कितने परिमाण मे बढ़ गया है और दिन-प्रतिदिन उसके बढने की कितनी अधिक सम्भावना है। पिछले वर्षों के तत्त्वार्थ-विषयक तीनो सम्प्रदायों के परिशीलन मे मेरे 'गुजराती विवेचन' का कितना हिस्सा है यह बतलाना मेरा काम नही। फिर भी इतना अवश्य कह सकता हूँ कि तीनो सम्प्रदायो के योग्य अधिकारियों ने मेरे 'गुजराती विवेचन' को इतना अधिक अपनाया कि मै उसकी कल्पना भी नही करता था।

तत्त्वार्थ के प्रथम हिन्दी सस्करण के प्रकाशित होने के बाद तत्त्वार्थ सूत्र, उसका भाष्य, वाचक उमास्वाति और तत्त्वार्थ की अनेक टीकाएँ इत्यादि विषयो पर अनेक लेखको के अनेक लेख निकले हैं।[1] परन्तु यहाँ मुझे श्रीमान् नाथूरामजी प्रेमी के लेख के विषय मे ही कुछ कहना है। प्रेमीजी का 'भारतीय विद्या' के सिंघी स्मारक अक मे 'वाचक उमास्वाति का सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र और उनका सम्प्रदाय' नामक लेख प्रकाशित हुआ है। उन्होने दीर्घ ऊहापोह के बाद यह बतलाया है कि वाचक उमास्वाति यापनीय सघ के आचार्य थे। उनकी अनेक दलीलें ऐसी हैं जो उनके मंतव्य को मानने के लिए आकृष्ट करती हैं, इसलिए उनके मन्तव्य की विशेष छानबीन करने के लिए सटीक भगवती आराधना का खास परिशीलन प० दलसुख मालवणिया ने किया। फलस्वरूप जो नोट उन्होने तैयार किए उन पर हम दोनो ने विचार किया। विचार करते समय भगवती आराधना, उसकी टीकाएँ और बृहत्कल्पभाष्य आदि ग्रन्थो का आवश्यक अवलोकन भी किया गया। यथासम्भव इस प्रश्न पर मुक्त मन से विचार किया गया। आखिर हम दोनो इस नतीजे पर पहुँचे कि वाचक उमास्वाति यापनीय न थे, वे सचेल परम्परा के थे, जैसा कि हमने प्रस्तावना में दरसाया है। हमारे अवलोकन और विचार का निष्कर्ष सक्षेप मे इस प्रकार है :

---

१. देखें—अनेकान्त, वर्ष ३, अक १, ४, ११, १२; वर्ष ४, अक १, ४, ६, ७, ८, ११, १२, वर्ष ५, अंक १–११; जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष ८ और ९; जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ६, अंक ४; भारतीय विद्या का सिंघी स्मारक अंक।

१. भगवती आराधना और उसके टीकाकार अपराजित दोनो यदि यापनीय हैं तो उनके ग्रन्थ से यापनीय संघ के आचारविषयक निम्न लक्षण फलित होते है—

(क) यापनीय आचार का औत्सर्गिक अंग अचेलत्व अर्थात् नग्नत्व है।

(ख) यापनीय सघ में मुनि की तरह आर्याओं का भी मोक्षलक्षी स्थान है। अवस्थाविशेष मे उनके लिए भी निर्वसनभाव का उपदेश है।

(ग) यापनीय आचार मे पाणितल-आहार का विधान है और कमण्डलु-पिच्छी के अतिरिक्त और किसी उपकरण का औत्सर्गिक विधान नही है।

उक्त लक्षण उमास्वाति के भाष्य और प्रशमरति जैसे ग्रन्थों के वर्णन के साथ बिलकुल मेल नही खाते, क्योंकि उनमें स्पष्ट रूप से मुनि के वस्त्र-पात्र का वर्णन है। कही भी नग्नत्व का औत्सर्गिक विधान नही है एवं कमण्डलु-पिच्छी जैसे उपकरण का तो नाम तक नही है।

२. श्री प्रेमीजी की एक दलील यह भी है कि पुण्य-प्रकृति आदि विषयक उमास्वाति का मन्तव्य अपराजित की टीका मे पाया जाता है। परन्तु गच्छ तथा परम्परा की तत्त्वज्ञानविषयक मान्यताओ के इतिहास से स्पष्ट है कि कभी-कभी एक ही परम्परा मे परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाली सामान्य एवं छोटी मान्यताएँ पाई जाती हैं। इतना ही नही अपितु दो परस्पर विरोधी मानी जानेवाली परम्पराओ मे भी कभी-कभी ऐसी सामान्य व छोटी-छोटी मान्यताओ का एकत्व मिलता है। ऐसी स्थिति मे वस्त्रपात्र के समर्थक उमास्वाति का वस्त्रपात्र के विरोधी यापनीय संघ की अमुक मान्यताओ के साथ साम्य हो तो कोई अचरज की बात नही।

पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री ने तत्त्वार्थसूत्र के अपने विवेचन की प्रस्तावना मे गृध्रपिच्छ को सूत्रकार और उमास्वाति को भाष्यकार बतलाने का प्रयत्न किया है। पर यह प्रयत्न जितना इतिहास-विरुद्ध है उतना ही तर्कबाधित भी है। उन्होने जब यह लिखा कि शुरू की कारिकाओ में ऐसी कोई कारिका नही है जो उमास्वाति को सूत्रकार सूचित करती हो तब जान पड़ता है वे एकमात्र अपना मन्तव्य स्थापित करने की ओर इतने झुक गए कि जो अर्थ स्पष्ट है वह भी या तो उनके ध्यान मे आया नही या उन्होने उसकी उपेक्षा कर दी। अन्य कारिकाओ की कथा छोड़

दें तो भी कारिकाएँ २२ और ३१ इतनी स्पष्ट हैं कि जिनके उमा-स्वातिकर्तृक सूत्रसग्रह या उमास्वातिकर्तृक मोक्षमार्ग शास्त्ररूप अर्थ में सन्देह को लेशमात्र अवकाश नही रहता।

प० कैलाशचन्द्रजी ने अपने हिन्दी अर्थसहित तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना में तत्त्वार्थभाष्य की उमास्वातिकर्तृकता तथा भाष्य के समय के बारे में जो विचार व्यक्त किए हैं उन्हे ध्यानपूर्वक देखने के बाद कोई तटस्थ इतिहासज्ञ उनको प्रमाणभूत नही मान सकता। पडितजी को जहाँ कही भाष्य की स्वोपज्ञता या राजवार्तिक आदि मे भाष्य के उल्लेख की संभावना दीख पड़ी वहाँ उन्होने प्राय सर्वत्र निराधार कल्पना के बल पर अन्य वृत्ति को मानकर उपस्थित ग्रन्थ को अर्वाचीन बतलाने का प्रयत्न किया है। इस विषय में पं० फूलचन्द्रजी आदि अन्य पडित भी एक ही मार्ग के अनुगामी है।

हिन्दी का पहला सस्करण समाप्त हो जाने पर इसकी निरन्तर बढती हुई माग को देखकर जैन सस्कृति सशोधन मडल, बनारस के मन्त्री और मेरे मित्र प० दलसुख मालवणिया दूसरा सस्करण प्रकाशित करने का विचार कर रहे थे। इसी बीच सहृदय श्री रिषभदासजी राका का उनसे परिचय हुआ। श्री राकाजी ने यह सस्करण प्रकाशित करने का और यथासभव कम मूल्य मे सुलभ कराने का अपना विचार व्यक्त किया और उसका प्रबघ भी किया, एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

इस हिन्दी तत्त्वार्थ के ही नही अपितु अपनी लिखी हुई किसी भी गुजराती या हिन्दी पुस्तक-पुस्तिका या लेख के पुन. प्रकाशन मे साँधे भाग लेने की मेरा रुचि बहुत समय से नही रही है। मैंने यही सोच रखा है कि अभी तक जो कुछ सोचा और लिखा गया है वह यदि किसी भी दृष्टि से किसी संस्था या किन्ही व्यक्तियो को उपयोगी जँचेगा तो वे उसके लिए जो कुछ करना होगा, करेंगे। मैं अब अपने लेख आदि में क्यो उलझा रहूँ? इस विचार के बाद मेरा जो जीवन या जो शक्ति अवशिष्ट है उसे मै आवश्यक नए चिन्तन आदि मे लगाता रहा हूँ। ऐसी स्थिति मे हिन्दी तत्त्वार्थ के दूसरे सस्करण के प्रकाशन मे विशेष रुचि लेना मेरे लिए संभव नही था। यदि यह भार मुझ पर ही रहता तो दूसरा संस्करण निकल ही न पाता। एतद्विषयक सारा दायित्व अपनी इच्छा और उत्साह से प० श्री मालवणिया ने अपने ऊपर ले लिया और उसे अन्त तक भलीभाँति निभाया भी। द्वितीय सस्करण के प्रकाशन के लिए

जितना और जो कुछ साहित्य पढना पडा, समुचित परिवर्तन के लिए जो कुछ ऊहापोह करना पड़ा और अन्य व्यावहारिक बातों को सुलझाना पडा, यह सब श्री मालवणिया ने स्वयं स्फूर्ति से किया है। हम दोनो का जो संबन्ध है वह आभार मानने को प्रेरित नही करता। फिर भी इस बात का उल्लेख इसीलिए करता हूँ कि जिज्ञासु पाठक वस्तुस्थिति जान सकें।

प्रस्तुत तृतीय सस्करण की प्रस्तावना मे केवल अगस्त्यसिंहचूर्णि का तथा नयचक्र का निर्देश बढा दिया गया है जो सूत्रभाष्य की एक-कर्तृकता की सिद्धि मे सहायक है।

विवेचन मे ध्यान (९.२७) सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार के उस मत का टिप्पणी मे निर्देश किया गया है जिसका अनुसरण किसी ने भी नही किया।

—सुखलाल

विषयानुक्रम

— प्रस्तावना —

— विवेचन –

१/ज्ञान

२. जीव

३. अधोलोक-मध्यलोक

४. देवलोक

५. अजीव

६. आस्रव

८. बन्ध

९. संवर-निर्जरा

१०. मोक्ष

१. तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति

वंश दो प्रकार का होता है—जन्म-वंश और विद्या-वंश।[१] जब किसी के जन्म के इतिहास पर विचार करना हो तब रक्त से सम्बद्ध उसके पिता, पितामह, प्रपितामह, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परम्परा को ध्यान में रखना होता है। जब किसी के विद्या (शास्त्र) का इतिहास जानना हो तब उस शास्त्र-रचयिता के साथ विद्या से सम्बद्ध गुरु-प्रगुरु तथा शिष्य-प्रशिष्य आदि गुरु-शिष्य परम्परा का विचार करना आवश्यक होता है।

'तत्त्वार्थ' भारतीय दार्शनिक विद्या की जैन-शाखा का एक शास्त्र है अतः इसका इतिहास विद्या-वंश की परम्परा में आता है। तत्त्वार्थ में उसके रचयिता ने जिस विद्या का समावेश किया है उसे उन्होंने गुरु-परम्परा से प्राप्त किया है और उसे विशेष उपयोगी बनाने के उद्देश्य से अपनी दृष्टि के अनुसार अमुक रूप में व्यवस्थित किया है। उन्होंने उस विद्या का तत्त्वार्थ में जो स्वरूप व्यवस्थित किया, वह बाद में ज्यों का त्यों नहीं रहा। इसके अध्येताओं एवं टीकाकारों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपने-अपने समय में प्रचलित विचारधाराओं से बहुत-कुछ लेकर उस विद्या में सुधार, वृद्धि, पूर्ति और विकास किया है। अतएव प्रस्तुत 'प्रस्तावना' में तत्त्वार्थ और इसके रचयिता के अतिरिक्त वंश-लता के रूप में विस्तीर्ण टीकाओं तथा टीकाकारों का भी परिचय कराना आवश्यक है।

तत्त्वार्थाधिगम-शास्त्र के प्रणेता जैनों के सभी सम्प्रदायों में प्रारम्भ से ही समानरूप से मान्य हैं। दिगम्बर उन्हें अपनी शाखा का और श्वेताम्बर अपनी शाखा का मानते आए हैं। दिगम्बर परम्परा में ये 'उमास्वामी' और 'उमास्वाति' नामों से प्रसिद्ध हैं, श्वेताम्बर परम्परा

---

१ ये दोनों वंश आर्य-परम्परा और आर्य-साहित्य में हजारों वर्षों से प्रसिद्ध हैं। 'जन्म-वंश' योनि-सम्बन्ध की प्रधानता के कारण गृहस्थाश्रम-सापेक्ष है और 'विद्या-वंश' विद्या-सम्बन्ध की प्रधानता के कारण गुरुपरम्परा-सापेक्ष है। इन दोनों वंशों का पाणिनि के व्याकरणसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है, यथा 'विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ्' ४. ३. ७७। इसलिए इन दो वंशों की कल्पना पाणिनि से भी बहुत प्राचीन है।

में केवल 'उमास्वाति' नाम से। इस समय दिगम्बर परम्परा में कोई-कोई तत्त्वार्थशास्त्र-प्रणेता उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य[1] समझते हैं और श्वेताम्बरो में थोडी-बहुत ऐसी मान्यता दिखाई देती है कि प्रज्ञापनासूत्र के रचयिता श्यामाचार्य के गुरु हारितगोत्रीय 'स्वाति' ही तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति हैं।[2] ये दोनो मान्यताएँ प्रमाणभूत आधार के बिना बाद में प्रचलित हुई जान पड़ती हैं, क्योकि दसवी शताब्दी से पहले के किसी भी विश्वस्त दिगम्बर ग्रन्थ, पट्टावली या शिलालेख आदि में ऐसा उल्लेख दिखाई नही देता जिसमे उमास्वाति को तत्त्वार्थ-सूत्र का रचयिता कहा गया हो और उन्ही उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य भी कहा गया हो।[3] इस आशय के जो उल्लेख दिगम्बर-साहित्य मे अब तक देखने मे आए हैं, वे सभी दसवी-ग्यारहवी शताब्दी के बाद

---

१. देखें—स्वामी समन्तभद्र, पृ० १४४ तथा आगे।

२. आर्यमहागिरेस्तु शिष्यौ बहुल-बलिस्सहौ यमल-भ्रातरौ तत्र बलिस्सहस्य शिष्य स्वाति, तत्त्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव सम्भाव्यन्ते। तच्छिष्य. श्यामाचार्य प्रज्ञापनाकृत् श्रीवीरात् षट्सप्तत्यधिकशतत्रये (३७६) स्वर्गभाक्।
—धर्मसागरीय पट्टावली।

३. श्रवणबेलगोला के जिन-जिन शिलालेखो में उमास्वाति को तत्त्वार्थ-रचयिता और कुन्दकुन्द का शिष्य कहा गया है, वे सभी शिलालेख विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के बाद के हैं। देखें—माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित 'जैन शिलालेख-संग्रह' में नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५० और १०८ के शिलालेख।

नन्दिसघ की पट्टावली भी बहुत अपूर्ण तथा ऐतिहासिक तथ्य-विहीन होने से उसे आधार नही माना जा सकता, ऐसा पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अपनी परीक्षा में सिद्ध किया है। देखें—स्वामी समन्तभद्र, पृष्ठ १४४ और आगे। इससे इस पट्टावली तथा ऐसी ही अन्य पट्टावलियो में भी उपलब्ध उल्लेखो को अन्य विश्वस्त प्रमाणो के आधार के अभाव में ऐतिहासिक नही माना जा सकता।

तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥

यह तथा इसी आशय के अन्य गद्य-पद्यमय दिगम्बर अवतरण किसी भी विश्वस्त तथा प्राचीन आधार से रहित हैं, अतः इन्हें भी अन्तिम आधार के रूप में नही रखा जा सकता।

के हैं और उनका कोई भी प्राचीन विश्वस्त आधार दिखाई नही देता। विचारणीय बात तो यह है कि तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवी से नवीं शताब्दी तक के प्रसिद्ध और महान् दिगम्बर व्याख्याकारो ने अपनी व्याख्याओ मे कही भी स्पष्ट रूप से तत्त्वार्थसूत्र को 'उमास्वाति' प्रणीत नही कहा है और न इन उमास्वाति का दिगम्बर, श्वेताम्बर या तटस्थ रूप से उल्लेख किया है।[1] हाँ, श्वेताम्बर साहित्य मे विक्रम की आठवी शताब्दी के ग्रन्थो में तत्त्वार्थसूत्र के वाचक उमास्वाति-रचित होने के विश्वसनीय उल्लेख मिलते हैं और इन ग्रन्थकारो की दृष्टि मे उमास्वाति श्वेताम्बर थे, ऐसा मालूम होता है;[2] परन्तु १६-१७वी शताब्दी के धर्मसागर की तपागच्छ की 'पट्टावली' को यदि अलग कर दिया जाय तो किसी भी श्वेताम्बर ग्रन्थ या पट्टावली आदि में ऐसा निर्देश तक नही पाया जाता कि तत्त्वार्थसूत्र-प्रणेता वाचक उमास्वाति श्यामाचार्य के गुरु थे।

वाचक उमास्वाति की स्व-रचित अपने कुल तथा गुरु-परम्परा को दर्शानेवाली, लेशमात्र सदेह से रहित तत्त्वार्थसूत्र की प्रशस्ति के विद्यमान होते हुए भी इतनी भ्रान्ति कैसे प्रचलित हुई, यह आश्चर्य की बात है। परन्तु जब पूर्वकालीन साम्प्रदायिक व्यामोह और ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव की ओर ध्यान जाता है तब यह समस्या हल हो जाती है। वा० उमास्वाति के इतिहास-विषयक उनकी अपनी लिखी हुई छोटी-सी प्रशस्ति ही एक सच्चा साधन है। उनके नाम के साथ जोड़ी हुई अन्य बहुत-सी घटनाए[3] दोनो सम्प्रदायो की परम्पराओ मे चली आ रही हैं, परन्तु परीक्षणीय होने से अभी उन सबको अक्षरशः सही नही माना जा सकता। उनकी वह सक्षिप्त प्रशस्ति इस प्रकार है :

> वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
> शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥ १ ॥
>
> वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
> शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥ २ ॥

---

१. विशेष स्पष्टीकरण के लिए इसी प्रस्तावना का परिशिष्ट द्रष्टव्य है।

२. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना में पृ० १३ की टिप्पणी २।

३ जैसे कि दिगम्बरों में गृध्रपिच्छ आदि तथा श्वेताम्बरो में पाच सौ ग्रन्थो के रचयिता आदि।

न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥ ३ ॥
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य ।
दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥ ४ ॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६ ॥

इसका सार इस प्रकार है—

"जिनके दीक्षागुरु ग्यारह अंग के धारक 'घोषनन्दि' क्षमण थे और गुरु वाचकमुख्य 'शिवश्री' थे, वाचना (विद्याग्रहण) की दृष्टि से जिसके गुरु 'मूल' नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक 'मुण्डपाद' थे, जो गोत्र से 'कौभीषणि' थे, जो 'स्वाति' पिता और 'वात्सी' माता के पुत्र थे, जिनका जन्म 'न्यग्रोधिका' में हुआ था और जो 'उच्चनागर'[1]

१. 'उच्चैर्नागर' शाखा का प्राकृत नाम 'उच्चानागर' मिलता है। यह शाखा किसी ग्राम या शहर के नाम पर प्रसिद्ध हुई होगी, यह तो स्पष्ट दीखता है। परन्तु यह ग्राम कौन-सा था, यह निश्चित करना कठिन है। भारत के अनेक भागो में 'नगर' नाम के या अन्त में 'नगर' शब्दवाले अनेक शहर तथा ग्राम है। 'बडनगर' गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। बड़ का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा का अर्थ कदाचित् ऊँचा भी होता है। लेकिन गुजरात में बड-नगर नाम भी पूर्वदेश के उस अथवा उस जैसे नाम के शहर से लिया गया होगा, ऐसी भी विद्वानो की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखा का बडनगर के साथ ही सम्बन्ध है, यह जोर देकर नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जब उच्च-नागर शाखा उत्पन्न हुई, उस काल में बडनगर था या नही और था तो उसके साथ जैनों का कितना सम्बन्ध था, यह भी विचारणीय है। उच्चनागर शाखा के उद्भव के समय जैनाचार्यो का मुख्य विहार गगा-यमुना की तरफ होने के प्रमाण मिलते है। अत. बडनगर के साथ उच्चनागर शाखा के सम्बन्ध की कल्पना सबल नही रहती। इस विषय में कनिंघम का कहना है कि यह भौगोलिक नाम उत्तर-पश्चिम प्रान्त के आधुनिक बुलन्दशहर के अन्तर्गत 'उच्चनगर' नाम के किले के साथ मेल खाता है।

—आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट, भाग १४, पृ० १४७ ।

शाखा के थे; उन उमास्वाति वाचक ने गुरु-परम्परा से प्राप्त श्रेष्ठ आर्हत-उपदेश को भली प्रकार धारण करके तथा तुच्छ शास्त्रो द्वारा हतबुद्धि दु:खित लोक को देखकर प्राणियों की अनुकम्पा से प्रेरित होकर यह 'तत्त्वार्थाधिगम' नाम का स्पष्ट शास्त्र विहार करते हुए 'कुसुमपुर' नामक महानगर में रचा है। जो इस तत्त्वार्थशास्त्र को जानेगा और उसके कथनानुसार आचरण करेगा, वह अव्याबाधसुख नामक परमार्थ मोक्ष को शीघ्र प्राप्त होगा।"

इस प्रशस्ति में ऐतिहासिक घटना की द्योतक मुख्य छ: बातें हैं— १. दीक्षागुरु तथा दीक्षाप्रगुरु का नाम और दीक्षागुरु की योग्यता, २. विद्यागुरु तथा विद्याप्रगुरु का नाम, ३. गोत्र, पिता तथा माता का नाम, ४. जन्मस्थान तथा ग्रन्थरचना के स्थान का नाम, ५ शाखा तथा पदवी की सूचना तथा ६ ग्रन्थकार तथा ग्रन्थ का नाम।

यह मानने का कोई कारण नहीं कि यह प्रशस्ति जो कि इस समय भाष्य के अन्त में उपलब्ध होती है स्वयं उमास्वाति की रची हुई नहीं है। डा० हर्मन जैकोबी भी इस प्रशस्ति को उमास्वाति की ही मानते हैं और यह उन्ही के तत्त्वार्थ के जर्मन अनुवाद की भूमिका से स्पष्ट है। अत: इसमें जिस घटना का उल्लेख है उसे ही यथार्थ मानकर वा० उमा-स्वाति विषयक दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा में चली आई मान्यताओ का स्पष्टीकरण करना इस समय राजमार्ग है।

ऊपर निर्दिष्ट छ: बातों मे से दिगम्बरसम्मत पहली और दूसरी बात कुन्दकुन्द के साथ उमास्वाति के सम्बन्ध को असत्य सिद्ध करती है। कुन्दकुन्द के उपलब्ध अनेक नामों में से एक भी नाम ऐसा नही जो उमा-स्वाति द्वारा दर्शाए हुए अपने विद्यागुरु तथा दीक्षागुरु के नामो मे आता हो। इससे इस कल्पना को कोई स्थान नहीं कि कुन्दकुन्द का उमास्वाति के साथ विद्या अथवा दीक्षा-विषय में गुरुशिष्य-भावात्मक सम्बन्ध था। उक्त प्रशस्ति में उमास्वाति के वाचक-परम्परा में तथा उच्चनागर शाखा मे होने का स्पष्ट कथन है, जब कि दिगम्बर मान्यता कुन्दकुन्द के नन्दि-

---

नागरोत्पत्ति के निबन्ध में रा० रा० मानशंकर 'नागर' शब्द का सम्बन्ध दिखलाते हुए नगर नाम के अनेक ग्रामों का उल्लेख करते हैं। इसके लिए छठी गुजराती साहित्यपरिषद् की रिपोर्ट द्रष्टव्य है।

संघ[१] मे होने की है। उच्चनागर नाम की कोई शाखा दिगम्बर सम्प्रदाय में हुई हो, ऐसा आज भी ज्ञात नही है। दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द के शिष्यरूप में मान्य उमास्वाति यदि वास्तव में ऐतिहासिक व्यक्ति हो तो भी उन्होंने तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र लिखा था, यह मान्यता विश्वस्त आधार से रहित होने से बाद में कल्पित मालूम होती है।[२]

उक्त बातों मे से तीसरी बात श्यामाचार्य के साथ उमास्वाति के सम्बन्ध की श्वेताम्बरीय सम्भावना को असत्य सिद्ध करती है, क्योंकि वाचक उमास्वाति अपने को कौभीषणि कहकर अपना गोत्र 'कौभीषण' बताते हैं, जब कि श्यामाचार्य के गुरुरूप से पट्टावली में उल्लिखित 'स्वाति' को 'हारित' गोत्र[३] का कहा गया है। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थ-प्रणेता उमास्वाति को उक्त प्रशस्ति स्पष्ट रूप से 'वाचक' कहती है, जब कि श्यामाचार्य या उनके गुरुरूप मे निर्दिष्ट 'स्वाति' नाम के साथ वाचक विशेषण पट्टावली में दिखाई नही देता। इस प्रकार उक्त प्रशस्ति एक ओर दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं की भ्रान्त कल्पनाओं का निरसन करती है और दूसरी ओर वह ग्रन्थकार का संक्षिप्त किन्तु यथार्थ इतिहास प्रस्तुत करती है।

(क) वाचक उमास्वाति का समय

वाचक उमास्वाति के समय के सम्बन्ध मे उक्त प्रशस्ति में कुछ भी निर्देश नही है। समय का ठीक निर्धारण करनेवाला दूसरा भी कोई साधन अब तक प्राप्त नही हुआ। ऐसी स्थिति मे इस विषय मे कुछ विचार करने के लिए यहाँ तीन बातों का उपयोग किया जाता है—१. शाखानिर्देश, २ प्राचीन से प्राचीन टीकाकारो का समय और ३. अन्य दार्शनिक ग्रन्थों की तुलना।

१. प्रशस्ति में जिस 'उच्चैर्नागरशाखा' का निर्देश है वह कब निकली,

---

१ देखें—स्वामी समन्तभद्र, पृ० १५८ से आगे तथा प्रस्तुत प्रस्तावना का शिष्ट।

२. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना में पृ० २ की टिप्पणी ३ तथा परिशिष्ट।

३. हारियगत्तं साइं च वदिमो हारियं च सामज्जं ॥ २६ ॥

—नन्दिसूत्र की स्थविरावली, पृ० ४९।

यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, तो भी कल्पसूत्र की स्थविरावली में 'उच्चानागरी' शाखा का उल्लेख है।[1] यह शाखा आर्य 'शान्तिश्रेणिक' से निकली है। आर्य शान्तिश्रेणिक आर्य 'सुहस्ति' से चौथी पीढी मे आते हैं। आर्य सुहस्ति के शिष्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध और उनके शिष्य इन्द्रदिन्न, इन्द्रदिन्न के शिष्य दिन्न और दिन्न के शिष्य शान्तिश्रेणिक हैं। यह शान्तिश्रेणिक आर्य वज्र के गुरु आर्य सिंहगिरि के गुरुभाई थे, इसलिए वे आर्य वज्र की पहली पीढ़ी मे आते हैं। आर्य सुहस्ति का स्वर्गवास-काल वीरात् २९१ और वज्र का स्वर्गवास-काल वीरात् ५८४ उल्लिखित है। अर्थात् सुहस्ति के स्वर्गवास-काल से वज्र के स्वर्गवास-काल तक २९३ वर्ष के भीतर पाँच पीढ़ियाँ उपलब्ध होती हैं। सरसरी तौर पर एक-एक पीढी का काल साठ वर्ष का मान लेने पर सुहस्ति से चौथी पीढी में होनेवाले शान्तिश्रेणिक का प्रारम्भकाल वीरात् ४७१ आता है। इस समय के मध्य मे या कुछ आगे-पीछे शान्तिश्रेणिक से उच्चनागरी शाखा निकली होगी। वाचक उमास्वाति शांतिश्रेणिक की ही उच्चनागर शाखा मे हुए है, ऐसा मानकर और इस शाखा के निकलने का जो समय अनुमानित किया गया है उसे स्वीकार करके यदि आगे बढ़ा जाए तो भी यह कहना कठिन है कि वा० उमास्वाति इस शाखा के निकलने के बाद कब हुए हैं। क्योंकि प्रशस्ति में अपने दीक्षागुरु और विद्यागुरु के जो नाम उन्होंने दिए हैं, उनमें से एक भी नाम कल्पसूत्र की स्थविरावली मे या वैसी किसी दूसरी पट्टावली मे नही मिलता। अतः उमास्वाति के समय के संबंध में स्थविरावली के आधार पर अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीरात् ४७१ अर्थात् विक्रम संवत् के प्रारम्भ के लगभग किसी समय हुए है, उससे पहले नहीं, इससे अधिक परिचय अभी अन्धकार मे है।

२ इस अंधकार मे एक अस्पष्ट प्रकाश-किरण तत्त्वार्थसूत्र के प्राचीन-टीकाकार के समय सम्बन्धी उपलब्ध है, जो उमास्वाति के समय की अनिश्चित उत्तरसीमा को मर्यादित करती है। नयचक्र और उसकी टीका में तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य के वाक्यो को उद्धृत किया गया है

---

१. थेरेहिंतो णं अज्जसन्तिसेणिएहिंतो माढरसगुत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चानागरी साहा निग्गया।—कल्पसूत्रस्थविरावली, पृ० ५५। आर्य शान्तिश्रेणिक की पूर्व-परम्परा जानने के लिए इससे आगे के कल्पसूत्र के पृष्ठ देखने चाहिए।

—पृ० १९,११४, ५९६। नयचक्र का समय परंपरा-मान्य वि० ४८४ श्री जम्बूविजयजी ने स्वीकृत किया है—नयचक्र का प्राक्कथन पृ० २३, प्रस्तावना पृ० ६०। स्वोपज्ञ-भाष्य को यदि अलग रखा जाए तो तत्त्वार्थ-सूत्र पर उपलब्ध सीधी टीकाओ में आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि सबसे प्राचीन है। पूज्यपाद का समय विद्वानो ने विक्रम की पाँचवी-छठी शताब्दी निर्धारित किया है। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रकार वा० उमास्वाति विक्रम की पाँचवी शताब्दी से पूर्व किसी समय हुए हैं।

उक्त विचारसरणी के अनुसार वा० उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय विक्रम की पहली शताब्दी और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय तीसरी-चौथी शताब्दी निश्चित होता है। इन तीन-चार सौ वर्षो के बीच उमास्वाति का निश्चित समय शोधने का काम शेष रह जाता है।

३. समय-सम्बन्धी इस सम्भावना में और भावी शोध मे उपयोगी पड़नेवाली कुछ विशेष बातें भी है जो उनके तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य के साथ दूसरे दर्शनो तथा जैन-आगम की तुलना मे से निष्पन्न होती हैं। उन्हे भी यहाँ दिया जाता है। ऐसी बात नही है कि ये बातें सीधे तौर पर समय का ठीक निर्णय करने में इस समय सहायक हो, फिर भी यदि दूसरे ठोस प्रमाण मिल जाएँ तो इन बातों का महत्त्वपूर्ण उपयोग होने में कोई सन्देह नही है। इस समय तो ये बातें भी हमे उमास्वाति के उपर्युक्त अनुमानित समय की ओर ही ले जाती है।

(क) जैन-आगम 'उत्तराध्ययन' कणाद के सूत्रो से पूर्व का होना चाहिए, ऐसी सम्भावना परंपरा-दृष्टि से और अन्य दृष्टि से भी होती है। कणाद के सूत्र प्रायः ईस्वी पूर्व की पहली शताब्दी के माने जाते हैं। जैन आगमों के आधार पर रचित तत्त्वार्थसूत्र मे तीन सूत्र ऐसे हैं जिनमे उत्तराध्ययन की छाया के अतिरिक्त कणाद के सूत्रों का सादृश्य दिखाई देता है। इन तीन सूत्रो मे पहला द्रव्य का, दूसरा गुण का और तीसरा काल का लक्षणविषयक है।

उत्तराध्ययन के २८वें अध्ययन की छठी गाथा में द्रव्य का लक्षण गुणाणमासओ दव्वं (गुणानामाश्रयो द्रव्यम्) अर्थात् जो गुणो का आश्रय वह द्रव्य, इतना ही है। कणाद द्रव्य के लक्षण मे गुण के अतिरिक्त क्रिया और समवायिकारणता को समाविष्ट करके कहता है कि क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्—१. १ १५। अर्थात् जो क्रियावाला, गुणवाला तथा समवायिकारण हो वह द्रव्य है। वा०

उमास्वाति उत्तराध्ययन-कथित गुणपद को कायम रखकर कणादसूत्रो मे दिखाई देनेवाले 'क्रिया' शब्द की जगह जैन-परम्परा-प्रसिद्ध 'पर्याय' शब्द रखकर द्रव्य का लक्षण बांधते हैं—गुणपर्यायवद् द्रव्यम्–५ ३७। अर्थात् जो गुण तथा पर्यायवाला हो वह द्रव्य है।[1]

उत्तराध्ययन के २८वें अध्ययन की छठी गाथा मे गुण का लक्षण एगदव्वस्सिआ गुणा (एकद्रव्याश्रिता गुणाः) अर्थात् जो एक द्रव्य के आश्रित हो वे गुण, इतना ही है। कणाद के गुणलक्षण में विशेष वृद्धि दिखाई देती है। वह कहता है—द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्व-कारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्—१. १. १६। अर्थात् द्रव्य के आश्रित, निर्गुण और सयोग-विभाग में अनपेक्ष जो कारण नही होता वह गुण है। उमास्वाति के गुणलक्षण में उत्तराध्ययन के गुणलक्षण के अतिरिक्त कणाद के गुणलक्षण मे से एक 'निर्गुण' अंश है। वे कहते हैं—द्रव्या-श्रया निर्गुणा गुणाः—५. ४०। अर्थात् जो द्रव्य के आश्रित और निर्गुण हो वे गुण हैं।

उत्तराध्ययन के २८वें अध्ययन की दसवी गाथा मे काल का लक्षण वत्तणालक्खणो कालो (वर्तनालक्षणः कालः) अर्थात् वर्तना काल का स्वरूप है, इतना ही है। कणाद के काललक्षण मे 'वर्तना' पद तो नही है, परन्तु दूसरे शब्दो के साथ 'अपर' शब्द दिखाई देता है—अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि—२. २ ६। उमास्वाति-कृत काल-लक्षण मे 'वर्तना' पद के अतिरिक्त जो दूसरे पद दिखाई देते हैं उनमें 'परत्व' और 'अपरत्व' ये दो शब्द भी हैं, जैसे कि वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य—५. २२।

ऊपर दिए हुए द्रव्य, गुण तथा काल के लक्षणवाले तत्त्वार्थ के तीन सूत्रों के लिए उत्तराध्ययन के अतिरिक्त किसी प्राचीन श्वेताम्बर जैन-आगम अर्थात् अंग का उतना ही शाब्दिक आधार अब तक देखने में नही आया, परन्तु विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दो के माने जानेवाले कुन्दकुन्द के प्राकृत वचनों के साथ तत्त्वार्थ के संस्कृत सूत्रों का कही तो पूर्ण और कही बहुत ही कम सादृश्य है। श्वेताम्बर सूत्रपाठ मे द्रव्य के लक्षणवाले दो ही सूत्र हैं : उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्—५. २९ तथा गुण-

१. द्रव्य-लक्षण-विषयक विशेष जानकारी के लिए देखें–प्रमाणमीमांसा, भाषा-टिप्पण, पृ० ५४, न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, की प्रस्तावना, पृ० २५, १०४.११९।

पर्यायवद् द्रव्यम्—५ ३७। इन दोनों के अतिरिक्त द्रव्य का लक्षणविषयक एक तीसरा सूत्र दिगम्बर सूत्रपाठ मे है—सद् द्रव्यलक्षणम्—५, २९। ये तीनों दिगम्बर सूत्रपाठगत सूत्र कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय की निम्न प्राकृत गाथा मे पूर्णरूप से विद्यमान है :

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ १० ॥

इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थों के साथ तत्त्वार्थसूत्र का जो शाब्दिक तथा वस्तुगत महत्त्वपूर्ण सादृश्य है, वह आकस्मिक तो नही ही है।

(ख) उपलब्ध 'योगसूत्र' के रचयिता पतजलि माने जाते हैं। व्याकरण-महाभाष्य के कर्ता पतजलि ही योगसूत्रकार है या दूसरे कोई पतजलि, इस विषय मे अभी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। यदि महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतजलि एक है तो योगसूत्र विक्रम पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी की रचना मानी जा सकती है। योगसूत्र का 'व्यासभाष्य' कब की रचना है यह भी निश्चित नही, फिर भी उसे विक्रम की तीसरी शताब्दी से प्राचीन मानने का कोई कारण नही है।

योगसूत्र और उसके भाष्य के साथ तत्त्वार्थ के सूत्रों और उनके भाष्य का शाब्दिक तथा आर्थिक सादृश्य बहुत है और वह आकर्षक भी है, तो भी इन दोनो मे से किसी एक पर दूसरे का प्रभाव है यह ठीक-ठीक कहना सम्भव नही, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य को योग-दर्शन से प्राचीन जैन आगमग्रन्थो की विरासत मिली है, उसी प्रकार योगसूत्र और उसके भाष्य को पुरातन साख्य, योग तथा बौद्ध आदि परम्पराओं की विरासत प्राप्त है। फिर भी तत्त्वार्थ-भाष्य मे एक स्थल ऐसा है जो जैन अगग्रन्थो मे इस समय तक उपलब्ध नही है और योगसूत्र के भाष्य मे उपलब्ध है।

पहले निर्मित हुई आयु कम भी हो सकती है अर्थात् बीच मे टूट भी सकती है और नही भी, ऐसी चर्चा जैन अंगग्रन्थो मे है। परन्तु इस चर्चा मे आयु के टूटने के पक्ष की उपपत्ति करने के लिए भीगे कपडे तथा सूखी घास का उदाहरण अगग्रन्थो मे नही, तत्त्वार्थ-भाष्य मे ये

१. इसके सविस्तर परिचय के लिए देखें—हिन्दी योगदर्शन की प्रस्तावना, पृष्ठ ५२ तथा आगे।

दोनो उदाहरण है जो योगसूत्र के भाष्य मे भी हैं। विशेष बात यह है कि दोनों भाष्यों में शाब्दिक साहश्य भी बहुत अधिक है। एक विशेषता यह भी है कि गणित-विषयक एक तीसरा उदाहरण तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य मे पाया जाता है जिसका योगसूत्र के भाष्य मे अस्तित्व तक नही है। दोनों भाष्यो का पाठ क्रमश इस प्रकार है :

"... शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। ... अपवर्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोपभोग उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम्। ... संहतशुष्कतृणराशिदहनवत्। यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णापचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशुदाहो भवति। तद्वत्। यथा वा सख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्या राशि छेदादेवापवर्तयति न च सख्येयस्यार्थस्याभावो भवति तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदु खार्त्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति। किं चान्यत्—यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति न च संहते तस्मिन् प्रभूतस्नेहागमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोष तद्वद् यथोक्तनिमित्तापवर्तनैः कर्मण. क्षिप्रं फलोपभोगो भवति। न च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमाफल्यानि।"—तत्त्वार्थ-भाष्य, २ ५२.

"आयुर्विपाक कर्म द्विविध सोपक्रम निरुपक्रम च। तत्र यथार्द्रं वस्त्रं वितानितं ह्रसीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा वाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम्। तदैकभविकमायुष्कर कर्म द्विविधं सोपक्रम निरुपक्रमं च।"—योग-भाष्य, ३ २२।

(ग) अक्षपाद का 'न्यायदर्शन' लगभग ईस्वी सन् के आरम्भ का माना जाता है। उसका 'वात्स्यायनभाष्य' दूसरी-तीसरी शताब्दी के भाष्यकाल की प्राथमिक कृतियो में से एक है। इस कृति के कुछ शब्द और विषय तत्त्वार्थभाष्य मे मिलते हैं। न्यायदर्शन (१.१.३) मान्य प्रमाणचतुष्कवाद का निर्देश तत्त्वार्थ अ० १ सू० ६ और ३५ के भाष्य में

मिलता है।[1] तत्त्वार्थ १ १२ के भाष्य में अर्थापत्ति, सभव और अभाव आदि प्रमाणो के भेद का निरसन न्यायदर्शन (२. १ १.) आदि के जैसा ही है। न्यायदर्शन मे प्रत्यक्ष के लक्षण मे इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम् (१. १. ४) ये शब्द हैं। तत्त्वार्थ १ १२ के भाष्य मे अर्थापत्ति आदि भिन्न माने गए प्रमाणों को मति और श्रुतज्ञान मे समाविष्ट करते हुए इन्ही शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयो-रन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्।

इसी प्रकार पतजलि-महाभाष्य[2] और न्यायदर्शन (१ १. १५) आदि मे 'पर्याय' शब्द के स्थान पर 'अनर्थान्तर' शब्द के प्रयोग की पद्धति तत्त्वार्थसूत्र (१ १३) मे भी है।

(घ) बौद्ध-दर्शन की शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि शाखाओ के विशिष्ट मंतव्यों अथवा शब्दो का उल्लेख जैसा सर्वार्थसिद्धि में है, वैसा तत्त्वार्थभाष्य में नही है, तो भी बौद्धदर्शन के थोडे से सामान्य मन्तव्य तंत्रान्तर के मन्तव्यों के रूप मे दो-एक स्थल पर आते हैं। वे मन्तव्य पालिपिटक से लिए गए हैं या महायान के संस्कृत पिटको से अथवा तद्विषयक किसी दूसरे ही ग्रन्थ से, यह विचारणीय है। उनमें पहला उल्लेख जैनमत के अनुसार नरकभूमियो की सख्या बतलाते हुए बौद्धसम्मत संख्या का खंडन करने के लिए आ गया है। वह इस प्रकार है—अपि च तन्त्रान्तरीया असंख्येषु लोकधातुष्वसंख्येयाः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यव-सिताः। —तत्त्वार्थभाष्य, ३ १।

दूसरा उल्लेख जैनमत के अनुसार पुद्गल का लक्षण बतलाते हुए बौद्धसम्मत पुद्गल शब्द के अर्थ का निराकरण करते हुए आया है। यथा पुद्गला इति च तंत्रान्तरीया[3] जीवान् परिभाषन्ते—अ० ५ सू० २३ का उत्थानभाष्य।

---

१. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। —न्यायदर्शन, १ १ ३। चतुर्विधमित्येके नयवादान्तरेण—तत्त्वार्थभाष्य, १. ६ और यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैः प्रमाणैरेकोऽर्थः प्रमीयते। —तत्त्वार्थभाष्य, १ ३५।

२ देखें—१ १ ५६, २ ३ १. और ५. १. ५९ का महाभाष्य।

३. यद्यपि जैन आगम (भगवती श ८, उ. ३ और श. २०, उ २) मे 'पुद्गल' शब्द जीव अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, किन्तु जैन-दर्शन की परिभाषा तो

(ख) उमास्वाति की योग्यता

उमास्वाति के पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में लिखने की शक्ति का यदि विकास न किया होता और लिखने का प्रयास शुरू न किया होता तो प्राकृत परिभाषा में रूढ़ साम्प्रदायिक विचारों को उमास्वाति इतनी प्रसन्न संस्कृत शैली में सफलतापूर्वक निबद्ध कर सकते अथवा नहीं, यह एक प्रश्न ही है, तो भी उपलब्ध समग्र जैन वाङ्मय का इतिहास तो यही कहता है कि जैनाचार्यों में उमास्वाति ही प्रथम संस्कृत लेखक हैं। उनके ग्रन्थों की प्रसन्न, संक्षिप्त और शुद्ध शैली संस्कृत भाषा पर उनके प्रभुत्व की साक्षी है। जैन आगम में प्रसिद्ध ज्ञान, ज्ञेय, आचार, भूगोल, खगोल आदि से सम्बद्ध बातों का संक्षेप में जो संग्रह उन्होंने तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र में किया है वह उनके 'वाचक' वंश में होने का और वाचक-पद की यथार्थता का प्रमाण है। उनके तत्त्वार्थ-भाष्य की प्रारंभिक कारिकाओं तथा दूसरी पद्यकृतियों से स्पष्ट है कि वे गद्य की तरह पद्य के भी प्रांजल लेखक थे। उनके सभाष्य सूत्रों के सूक्ष्म अवलोकन से जैन-आगम संबंधी उनके सर्वग्राही अध्ययन के अतिरिक्त वैशेषिक, न्याय, योग और बौद्ध आदि दार्शनिक साहित्य के अध्ययन की प्रतीति होती है। तत्त्वार्थभाष्य (१. ५; २. १५) में उद्धृत व्याकरण के सूत्र उनके पाणिनीय व्याकरण-विषयक अध्ययन के परिचायक हैं।

यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इनकी प्रसिद्धि पाँच सौ ग्रंथों के रचयिता के रूप में है और इस समय इनकी कृतिरूप में कुछ ग्रन्थ प्रसिद्ध[1] भी हैं, तथापि इस विषय में आज संतोषजनक कुछ भी कहने की स्थिति नहीं है। ऐसी स्थिति में भी 'प्रशमरति'[2] की भाषा और विचारसरणी

मात्र जड़ परमाणु और तन्निर्मित स्कन्ध के रूप में ही प्रसिद्ध है। बौद्ध-दर्शन की परिभाषा जीव अर्थ में ही प्रसिद्ध है। इसी भेद को लक्ष्य में रखकर वाचक ने यहाँ 'तन्त्रान्तरीय' शब्द का प्रयोग किया है।

१ जम्बूद्वीपसमासप्रकरण, पूजाप्रकरण, श्रावकप्रज्ञप्ति, क्षेत्रविचार, प्रशमरति। सिद्धसेन अपनी वृत्ति में (पृ० ७८, पं० २) उनके 'शौचप्रकरण' नामक ग्रंथ का उल्लेख करते हैं, जो इस समय उपलब्ध नहीं है।

२ वृत्तिकार सिद्धसेन 'प्रशमरति' को भाष्यकार की ही कृति बतलाते हैं। यथा—'यत. प्रशमरतौ (का० २०८) अनेनैवोक्तम् —परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीय।' 'वाचकेन त्वेतदेव बलसंज्ञया प्रशमरतौ (का० ८०) उप त्तम्'—५ ६ तथा ९ ६ की भाष्यवृत्ति। →

तथा सिद्धसेन आदि के उल्लेख से उसकी उमास्वाति-कर्तृकता निश्चित रूप से सिद्ध होती है।

उमास्वाति अपने को 'वाचक' कहते हैं, इसका अर्थ 'पूर्ववित्'[1] कर के पहले से ही श्वेताम्बराचार्य उमास्वाति को 'पूर्ववित्' रूप से पहचानते आए हैं। दिगम्बर-परम्परा में भी उनको 'श्रुतकेवलिदेशीय' कहा गया है।[2]

तथा सिद्धसेन भाष्यकार और सूत्रकार को एक ही समझते हैं। यथा -

स्वकृतसूत्रसंनिवेशमाश्रित्योक्तम्।—९ २२, पृ० २५३।

इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपक सप्तमोऽध्यायः। —तत्त्वार्थभाष्य के सातवें अध्याय की टीका की पुष्पिका। ऐसे अन्य उल्लेखों के लिए आगे—'(ग) उमास्वाति की परम्परा' नामक उपशीर्षक, पृ० १५।

प्रशमरतिप्रकरण की १२०वीं कारिका 'आचार्य आह' कहकर निशीथचूर्णि में उद्धृत है। इस चूर्णि के प्रणेता जिनदास महत्तर का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है जिसका निर्देश उन्होंने अपनी नन्दिसूत्र की चूर्णि में किया है। अतः कहा जा सकता है कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है। इससे तथा ऊपर निर्दिष्ट कारणों से इस कृति के वाचक की होने में कोई बाधा नहीं है।

१ पूर्वों के चौदह होने का समवायांग आदि आगमों में वर्णन है। ऐसा भी उल्लेख है कि वे दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग का पाँचवाँ भाग जानते थे। पूर्वश्रुत अर्थात् भ० महावीर द्वारा सर्वप्रथम दिया हुआ उपदेश—ऐसी परम्परागत मान्यता है। पश्चिम के विद्वानों की इस विषय में कल्पना है कि भ० पार्श्वनाथ की परम्परा का जो पूर्वकालीन श्रुत भ० महावीर को अथवा उनके शिष्यों को मिला वह पूर्वश्रुत है। यह श्रुत क्रमशः भ० महावीर के उपदिष्ट श्रुत में ही मिल गया और उसी का एक भाग माना गया। जो भ० महावीर की द्वादशांगी के धारक थे वे इस पूर्वश्रुत को जानते थे। कण्ठस्थ रखने की परम्परा तथा अन्य कारणों से पूर्वश्रुत क्रमशः नष्ट हो गया और आज 'पूर्वगतगाथा' रूप में नाममात्र से शेष उल्लिखित मिलता है। 'पूर्व' के आधार पर बने कुछ ग्रन्थ मिलते हैं।

२. नगर ताल्लुका के एक दिगम्बर शिलालेख नं० ४६ में इन्हें 'श्रुतकेवलिदेशीय' कहा गया है। यथा—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥

तत्त्वार्थ इनके ग्यारह अग विषयक श्रुतज्ञान की तो प्रतीति करा ही रहा है। इससे इनकी ऐसी योग्यता के विषय मे तो कोई सदेह नही है। इन्होने विरासत में प्राप्त आर्हत श्रुत के सभी पदार्थों का सग्रह तत्त्वार्थ[1] मे किया है; एक भी महत्त्वपूर्ण बात इन्होने बिना कथन किये नही छोड़ी, इसी कारण आचार्य हेमचन्द्र संग्रहकार के रूप में उमास्वाति का स्थान सर्वोत्कृष्ट आँकते हैं।[2] इसी योग्यता के कारण इनके तत्त्वार्थ की व्याख्या करने के लिए श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्य प्रेरित हुए हैं।

(ग) उमास्वाति की परम्परा

दिगम्बर वाचक उमास्वाति को अपनी परम्परा का मानकर मात्र तत्त्वार्थसूत्र को ही इनकी रचना स्वीकार करते हैं, जब कि श्वेताम्बर इन्हे अपनी परम्परा का मानते हैं और तत्त्वार्थसूत्र के अतिरिक्त भाष्य को भी इनकी कृति स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न यह है कि उमास्वाति दिगम्बर परम्परा मे हुए हैं या श्वेताम्बर परम्परा मे अथवा दोनो से भिन्न किसी अन्य परम्परा मे हुए हैं? इस प्रश्न का उत्तर भाष्य के कर्तृत्व विषयक निर्णय से मिल जाता है। भाष्य स्वय उमास्वाति की कृति है, यह बात प्रमाणो से निर्विवाद सिद्ध है।[3]

१ भाष्य की उपलब्ध टीकाओ मे सबसे प्राचीन टीका सिद्धसेन की है। उसमे स्वोपज्ञतासूचक उल्लेख ये हैं:

प्रतिज्ञातं चानेन "ज्ञानं वक्ष्याम." इति। अतस्तदनुरोधेनैकवचनं चकार आचार्यः। —प्रथम भाग, पृ० ६९

शास्तीति च ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकारभाष्यकाराकारेणैवमाह····· ।—पृ० ७२

सूत्रकारादविभक्तोपि हि भाष्यकारो।—पृ० २०५

इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमें उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां · ·· ।—द्वितीय भाग, पृ० १२०

---

१. तत्त्वार्थ में वर्णित विषयो के मूल को जानने के लिए देखें—उ० आत्मारामजी द्वारा सम्पादित तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय।

२. उपोमास्वातिं संगृहीतारः।—सिद्धहेम, २ २. ३९।

३. देखें—'भारतीय विद्या' के सिंघी स्मारक अंक मे श्री नाथूरामजी प्रेमी का लेख, पृ० १२८ जिसमें उन्होने भाष्य को स्वोपज्ञ सिद्ध किया है।

२. भाष्यगत अन्तिम कारिकाओ मे से आठवी कारिका को याकिनी-सूनु हरिभद्राचार्य ने शास्त्रवार्तासमुच्चय मे उमास्वातिकर्तृक रूप में उद्धृत किया है।

३ भाष्य की प्रारम्भिक अगभूत कारिका के व्याख्यान मे आ० देवगुप्त भी सूत्र और भाष्य को एक-कर्तृक सूचित करते हैं (देखें—का० १–२)।

४ प्रारम्भिक कारिकाओ[1] मे और कुछ स्थानो पर भाष्य[2] मे भी वक्ष्यामि, वक्ष्यामः आदि प्रथम पुरुष का निर्देश है और इस निर्देश मे की गई प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद मे सूत्र मे कथन किया गया है।

५ भाष्य को प्रारम्भ से अन्त तक देख जाने पर एक बात जँचती है कि कही सूत्र का अर्थ करने में शब्दो की खीचतान नही हुई, कही सूत्र का अर्थ करने मे सन्देह या विकल्प नही किया गया, न सूत्र की किसी दूसरी व्याख्या को मन मे रखकर सूत्र का अर्थ किया गया और न कही सूत्र के पाठभेद का ही अवलम्बन लिया गया है।

यह वस्तु-स्थिति सूत्र और भाष्य के एक-कर्तृक होने की चिरकालीन मान्यता को सत्य सिद्ध करती है।[3] जहाँ मूल ग्रन्थकार और टीकाकार अलग अलग होते है वहाँ तत्त्वज्ञान-विषयक प्रतिष्ठित तथा अनेक सम्प्रदायो मे मान्य ग्रन्थो मे ऊपर जैसी वस्तु-स्थित्ति नही होती। उदाहरणार्थ वैदिक दर्शन मे प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' को लीजिए। यदि इसका रचयिता स्वयं ही व्याख्याकार होता तो इसके भाष्य मे शब्दो की खीचतान, अर्थ के विकल्प और अर्थ का सदेह तथा सूत्र का पाठभेद कदापि न दिखाई

---

१. तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥
नर्ते च मोक्षमार्गाद् व्रतोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्।
तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१ ॥

२ गुणान् लक्षणतो वक्ष्याम.। –५. ३७ का भाष्य, अगला सूत्र ५ ४०।
अनादिरादिमाश्च त परस्ताद्वक्ष्याम.। –५ २२ का भाष्य, अगला सूत्र ५ ४२।

३. अगस्त्यसिंह ने दशवैकालिकचूर्णि में उमास्वाति का नाम देकर सूत्र और भाष्य का उद्धरण दिया है—पृ० ८५। नयचक्र मूल में भाष्य उद्धृत है—पृ० ५९६।

पड़ता। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता ने ही यदि 'सर्वार्थसिद्धि', 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' आदि कोई व्याख्या लिखी होती तो उनमे अर्थ की खीचतान, शब्द की तोड़-मरोड़, अध्याहार, अर्थ का संदेह और पाठभेद[1] कभी न दिखाई देते। यह वस्तु-स्थिति निश्चित रूप से एक-कर्तृक मूल तथा टीका-ग्रन्थो को देखने से समझ में आ सकती है। यह चर्चा हमे मूल तथा भाष्य का कर्ता एक होने की मान्यता की निश्चित भूमिका पर लाकर छोड़ देती है।

मूल ग्रन्थकार और भाष्यकार एक ही हैं, यह निश्चय इस प्रश्न के हल करने मे बहुत उपयोगी है कि वे किस परम्परा के थे। उमास्वाति दिगम्बर परम्परा के नही थे, ऐसा निश्चय करने के लिए नीचे की युक्तियाँ काफी हैं :

१ प्रशस्ति में उल्लिखित उच्चनागर शाखा या नागरशाखा का दिगम्बर सम्प्रदाय मे होने का एक भी प्रमाण नही मिलता।

२. 'काल' किसी के मत से वास्तविक द्रव्य है, ऐसा सूत्र (५. ३८) और उसके भाष्य का वर्णन दिगम्बर मत (५ ३९) के विरुद्ध है। केवली मे (९. ११) ग्यारह परीषह होने की सूत्र और भाष्यगत सीधी मान्यता एव भाष्यगत वस्त्र-पात्रादि का स्पष्ट उल्लेख भी दिगम्बर परम्परा के विरुद्ध है (९ ५, ९ ७, ९ २६)। सिद्धो मे लिंगद्वार और तीर्थद्वार का भाष्यगत वक्तव्य दिगम्बर परम्परा के विपरीत है।

३. भाष्य मे केवलज्ञान के पश्चात् केवली के दूसरा उपयोग मानने न मानने का जो मन्तव्य-भेद (१. ३१) है वह दिगम्बर ग्रन्थो मे नहीं दिखाई देता।

उपर्युक्त युक्तियो से यद्यपि यह सिद्ध होता है कि वाचक उमास्वाति दिगम्बर परम्परा के नही थे तथापि यह देखना तो रह ही जाता है कि वे किस परम्परा के थे। निम्न युक्तियाँ उन्हे श्वेताम्बर परम्परा की ओर ले जाती हैं :

१. प्रशस्ति मे उल्लिखित उच्चनागर शाखा[2] श्वेताम्बर पट्टावली में मिलती है।

---

१. उदाहरणार्थ देखें—"चरमदेहा इति वा पाठ."—सर्वार्थसिद्धि, २. ५३। "अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्यशेष. कल्पनीय सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्"—सर्वार्थसिद्धि, ९. ११।

२. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० ४ तथा ६-७।

२. अमुक विषय-सम्बन्धी मतभेद या विरोध बतलाते हुए भी कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन श्वेताम्बर आचार्य नही हैं जिन्होने दिगम्बर आचार्यों की भाँति भाष्य को अमान्य कहा हो।

३. जिसे उमास्वाति की कृति मानने मे सन्देह का अवकाश नही उस प्रशमरति[1] ग्रन्थ मे मुनि के वस्त्र-पात्र का व्यवस्थित निरूपण है, जिसे श्वेताम्बर परम्परा निर्विवाद रूप से स्वीकार करती है।

४ उमास्वाति के वाचकवंश का उल्लेख और उसी वंश मे होनेवाले अन्य आचार्यों का वर्णन श्वेताम्बर पट्टावलियो, पन्नवणा और नन्दी की स्थविरावली मे मिलता है।

ये युक्तियाँ वाचक उमास्वाति को श्वेताम्बर परम्परा का सिद्ध करती हैं और समस्त श्वेताम्बर आचार्य पहले से उन्हे अपनी ही परम्परा का मानते आए हैं। वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा मे हुए और दिगम्बर परम्परा मे नही, ऐसा स्वयं मेरा मन्तव्य भी अधिक अध्ययन-चिन्तन के बाद स्थिर हुआ है। इस मन्तव्य की विशेप स्पष्टता के लिए दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद विषयक इतिहास के कुछ प्रश्नो पर प्रकाश डालना जरूरी है। पहला प्रश्न यह है कि इस समय दिगम्बर-श्वेताम्बर के भेद या विरोध का विपय जो श्रुत तथा आचार है उसकी प्राचीन जड़ कहाँ तक मिलती है और वह मुख्यतया किस बात मे थी? दूसरा प्रश्न यह है कि उक्त दोनो सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य श्रुत था या नही, और था तो वह समान मान्यता का विपय कब तक रहा, उसमे मतभेद कब से प्रविष्ट हुआ तथा उस मतभेद के अन्तिम परिणामस्वरूप एक-दूसरे के लिए परस्पर पूर्णरूपेण अमान्य श्रुतभेद कब पैदा हुआ? तीसरा और अन्तिम प्रश्न यह है कि उमास्वाति स्वयं किस परम्परा के आचार का पालन करते थे और उन्होने जिस श्रुत को आधार मानकर तत्त्वार्थ की रचना की वह श्रुत उक्त दोनो सम्प्रदायों को समान रूप से पूर्णतया मान्य था या किसी एक सम्प्रदाय को ही पूर्णरूपेण मान्य था और दूसरे को पूर्णरूपेण अमान्य था?

१. जो भी ऐतिहासिक सामग्री इस समय प्राप्त है उससे निर्विवाद-रूपेण इतना स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर पार्श्वापत्य

---

१. देखें—का० १३५ और आगे।

परम्परा[1] मे हुए थे और उन्होने शिथिल या मध्यम त्याग-मार्ग मे अपने उत्कट त्यागमार्गमय व्यक्तित्व द्वारा नवजीवन का सचार किया था। शुरू मे विरोध और उदासीनभाव रखनेवाले अनेक पार्श्वसन्तानिक साधु व श्रावक भी भगवान् महावीर के शासन में मिल गए।[2] भगवान् महावीर ने अपनी नायकत्वोचित उदार किन्तु तात्त्विक दृष्टि से अपने शासन मे उन दोनो दलो का स्थान निश्चित किया[3] जिनमे से एक बिलकुल नग्नजीवी तथा उत्कट विहारी था और दूसरा मध्यममार्गी था जो बिलकुल नग्न नही था। दोनो दलो का बिलकुल नग्न रहने या न रहने के विषय में तथा अन्य आचारो मे थोड़ा-बहुत अन्तर रहा[4], फिर भी वह भगवान् के व्यक्तित्व के कारण विरोध का रूप धारण नही कर पाया। उत्कट और मध्यम त्यागमार्ग के इस प्राचीन समन्वय मे ही वर्तमान दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद की जड़ है।

उस प्राचीन समय में जैन परम्परा मे दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे शब्द नही थे, फिर भी आचारभेद के सूचक नग्न, अचेल (उत्त० २३. १३, २९), जिनकल्पिक, पाणिप्रतिग्रह (कल्पसूत्र, ९. २८), पाणिपात्र आदि शब्द उत्कट त्यागवाले दल के लिए तथा सचेल, प्रतिग्रहधारी (कल्पसूत्र, ९ ३१), स्थविरकल्प (कल्पसूत्र, ९. ६३) आदि शब्द मध्यम-त्यागवाले दल के लिए मिलते हैं।

---

१. आचाराग, सूत्र १७८।

२. कालासवेसियपुत्त (भगवती, १ ९), केशी (उत्तराध्ययन, अध्ययन २३), उदकपेढालपुत्त (सूत्रकृताङ्ग, २. ७), गागेय (भगवती, ९. ३२) इत्यादि। विशेष के लिए देखें—'उत्थान' का महावीराक, पृ० ५८। कुछ पार्श्वापत्यों ने तो पचमहाव्रत और प्रतिक्रमण के साथ नग्नत्व भी स्वीकार किया था, ऐसा उल्लेख आज तक अंगो में सुरक्षित है। उदाहरणार्थ देखें—भगवती, १: ९।

३. आचाराग में सचेल और अचेल दोनो प्रकार के मुनियो का वर्णन है। अचेल मुनि के वर्णन के लिए प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन के १८३ से आगे के सूत्र और सचेल मुनि के वस्त्रविषयक आचार के लिए द्वितीय श्रुतस्कन्ध का ५वाँ अध्ययन द्रष्टव्य है। सचेल तथा अचेल दोनो मुनि मोह को कैसे जीतें, इसके रोचक वर्णन के लिए देखें—आचाराग, १. ८।

४ देखें—उत्तराध्ययन, अ० २३।

२ इन दो दलों में आचार-विषयक भेद होते हुए भी भगवान् के शासन के मुख्य प्राणरूप श्रुत में कोई भेद नही था, दोनो दल बारह अग के रूप मे मान्य तत्कालीन श्रुत को समान रूप से मानते थे। आचार-विषयक कुछ भेद और श्रुतविषयक पूर्ण अभेद की यह स्थिति तरतमभाव से महावीर के बाद लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक रही। इस बीच मे भी दोनो दलो के अनेक योग्य आचार्यों ने उसी अंग-श्रुत के आधार पर छोटे-बड़े ग्रन्थो की रचना की थी जिनको सामान्यरूप से दोनो दलो के अनुगामी तथा विशेषरूप से उस-उस ग्रन्थ के रचयिता के शिष्यगण मानते थे और अपने-अपने गुरु-प्रगुरु की कृति समझकर उस पर विशेष जोर देते थे। वे ही ग्रन्थ अगबाह्य, अनग या उपांग रूप मे व्यवहृत हुए।[1] दोनो दलो की श्रुत के विषय मे इतनी अधिक निष्ठा व प्रामाणिकता रही कि जिससे अंग और अगबाह्य का प्रामाण्य समान रूप से मानने पर भी किसी ने अग और अनग-श्रुत की भेदक रेखा को गौण नही किया जो कि दोनो दलो के वर्तमान साहित्य मे आज भी स्थिर है।

एक ओर अचेल-सचेल आदि आचार का पूर्वकालीन मतभेद जो पारस्परिक सहिष्णुता तथा समन्वय के कारण दबा हुआ था, धीरे-धीरे तीव्र होता गया और दूसरी ओर उसी आचारविषयक मतभेद का समर्थन दोनो दलवाले मुख्यतया अग-श्रुत के आधार पर करने लगे और साथ ही अपने-अपने दल के द्वारा रचित विशेष अगबाह्य श्रुत का उपयोग भी उसके समर्थन मे करने लगे। इस प्रकार मुख्यतया आचार-भेद में से जो दलभेद स्थिर हुआ उसके कारण सारे शासन मे अनेक गड़बड़ियाँ पैदा हुईं। फलस्वरूप पाटलिपुत्र की वाचना (वी० नि० १६० के लगभग) हुई।[2] इस वाचना तक और इसके आगे भी ऐसा अभिन्न अग-श्रुत रहा जिसे दोनो दल समान रूप से मानते थे, पर कहते जाते थे कि उस मूलश्रुत का क्रमश ह्रास होता जा रहा है। साथ ही वे अपने-अपने अभिमत-आचार के पोषक ग्रन्थो का भी निर्माण करते रहे। इसी आचारभेद-पोषक श्रुत के द्वारा अन्ततः उस प्राचीन अभिन्न अग-श्रुत मे मतभेद का जन्म हुआ, जो आरम्भ में अर्थ करने मे था पर

१. दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, आवश्यक, ऋषि-भाषित आदि।

२. परिशिष्टपर्व, सर्ग ९, श्लोक ५५ तथा आगे, वीरनिर्वाणसंवत् और जैन-कालगणना, पृ० ९४।

आगे जाकर पाठभेद की तथा प्रक्षेप आदि की कल्पना मे परिणत हो गया। इस प्रकार आचारभेदजनक विचारभेद ने उस अभिन्न अंगश्रुत-विषयक दोनो दलों की समान मान्यता में भी अन्तर पैदा किया। इससे एक दल तो यह मानने-मनवाने लगा कि वह अभिन्न मूल अगश्रुत बहुत अशों मे लुप्त ही हो गया है। जो है वह भी कृत्रिमता तथा नये प्रक्षेपो से रिक्त नही है, ऐसा कहकर भी उस दल ने उस मूल अगश्रुत को सर्वथा छोड नही दिया। लेकिन साथ ही साथ अपने आचारपोषक श्रुत का विशेष निर्माण करने लगा और उसके द्वारा अपने पक्ष का प्रचार भी करता रहा। दूसरे दल ने देखा कि पहला दल उस मूल अंगश्रुत मे कृत्रिमता के समाविष्ट हो जाने का आक्षेप भी करता है पर वह उसे सर्वथा छोडता भी नही और न उसकी रक्षा मे सहयोग ही देता है। यह देखकर दूसरे दल ने मथुरा में एक सम्मेलन आयोजित किया।[1] उसमे मूल अंगश्रुत के साथ अपने मान्य अंगबाह्य श्रुत का पाठनिश्चय, वर्गीकरण और सक्षेप-विस्तार आदि किया गया, जो उस सम्मेलन मे भाग लेनेवाले सभी स्थविरों को प्रायः मान्य रहा। यद्यपि इस अग और अनग-श्रुत का यह नव-संस्करण था तथा उसमे अग और अनंग की भेदक रेखा होने पर भी अग में अनंग का प्रवेश तथा प्रमाण[2], जो कि दोनों के समप्रामाण्य का सूचक है, आ गया था तथा उसके वर्गीकरण तथा पाठस्थापन में भी अन्तर आ गया था, फिर भी यह नया संस्करण उस मूल अंग-श्रुत के बहुत निकट था, क्योकि इसमें विरोधी दल की आचार-पोषक वे सभी बातें थी जो मूल अंगश्रुत में थी। इस माथुर-सस्करण के समय से तो मूल अंगश्रुत की समान मान्यता मे दोनो दलों का बड़ा ही अन्तर आ गया, जिसने दोनो दलो के तंत्र श्रुतभेद की नीव रखी। अचेलत्वसमर्थक दल का कहना था कि मूल अगश्रुत सर्वथा लुप्त हो गया है, जो श्रुत सचेल दल के पास है और जो हमारे पास है वह सब मूल अर्थात् गणधरकृत न होकर बाद के अपने-अपने आचार्यो द्वारा रचित व सकलित है। सचेल दलवाले कहते थे कि निःसन्देह बाद के आचार्यों द्वारा अनेकविध नया श्रुत निर्मित हुआ है

१ वी० नि० ८२७ और ८४० के बीच। देखें—वीरनिर्वाणसंवत् और जैनकालगणना, पृ० १०४।

२. जैसे भगवतीसूत्र में अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम और राजप्रश्नीय का उल्लेख है।

और उन्होने नई संकलना भी की है, फिर भी मूल अगश्रुत के भावों में कोई परिवर्तन या काट-छाँट नही की गई है। बारीकी से देखने तथा ऐतिहासिक कसौटी पर कसने पर सचेल दल की बात बहुत-कुछ सत्य ही जान पड़ती है, क्योकि सचेलत्व का समर्थन करते रहने पर भी इस दल ने अंगश्रुत मे से अचेलत्वसमर्थक, अचेलत्वप्रतिपादक किसी अश को उड़ा नही दिया।[1] जैसे अचेल दल का कहना था कि मूल अगश्रुत लुप्त हो गया वैसे ही सचेल दल का कहना था कि जिनकल्प अर्थात् पाणिपात्र या अचेलत्व का जिनसम्मत आचार भी काल-भेद के कारण लुप्त हो गया है।[2] फिर भी हम देखते हैं कि सचेल दल के द्वारा सस्कृत, सगृहीत और नव-सकलित श्रुत में अचेलत्व के आधारभूत सब पाठ तथा तदनुकूल व्यारयाएँ विद्यमान है। सचेल दल द्वारा अवलम्बित अगश्रुत के मूल अंगश्रुत से निकटतम होने का प्रमाण यह है कि वह उत्सर्ग—सामान्यभूमिकावाला है, जिसमे अचेल दल के सब अपवादो का या विशेष मार्गो का विधान पूर्णतया आज भी विद्यमान है, जब कि अचेल दल-सम्मत नग्नत्वाचारश्रुत औत्सर्गिक नही है, क्योकि वह मात्र अचेलत्व का ही विधान करता है। सचेल दल का श्रुत अचेल तथा सचेल दोनों आचारो को मोक्ष का अग मानता है, वास्तविक अचेल-आचार की प्रधानता भी स्वीकार करता है। उसका मतभेद उसकी सामयिकता मात्र मे है, जब कि अचेल दल का श्रुत सचेलत्व को मोक्ष का अंग ही नही मानता, उसे बाधक तक मानता है।[3] ऐसी स्थिति मे स्पष्ट है कि सचेल दल का श्रुत अचेल दल के श्रुत की अपेक्षा उस मूल अगश्रुत के अति निकट है।

मथुरा के बाद वलभी[4] में पुनः श्रुत-संस्कार हुआ, जिसमें स्थविर या सचेल दल का रहा-सहा मतभेद भी समाप्त हो गया। पर साथ ही

---

१. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० १९ का टिप्पणी ३।

२. गण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजमतिय-केवलि-सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिण्णा॥
—विशेषा० २५९३।

३. सर्वार्थसिद्धि में नग्नत्व को मोक्ष का मुख्य और अबाधित कारण माना गया है।

४ वी० नि० ८२७ और ८४० के बीच। देखें—वीरनिर्वाणसंवत् और जैनकालगणना, पृ० ११०।

अचेल दल का श्रुत-विषयक विरोध उग्रतर हो गया। अचेल दल मे से अमुक ने अब रहे-सहे औदासीन्य को छोड़ सचेल दल के श्रुत का सर्वथा बहिष्कार करने का ठान लिया।

३ वाचक उमास्वाति स्थविर या सचेल परम्परा के आचारवाले अवश्य रहे, अन्यथा उनके भाष्य एवं प्रशमरति ग्रन्थ में सचेल धर्मानुसारी प्रतिपादन कदापि न होता, क्योंकि अचेल दल के किसी भी प्रवर मुनि की सचेल प्ररूपणा बिलकुल सम्भव नहीं। अचेल दल के प्रधान मुनि कुन्दकुन्द ने भी एकमात्र अचेलत्व का ही निर्देश किया है[1], अतः कुन्दकुन्द के अन्वय में होनेवाले किसी अचेल मुनि द्वारा सचेलत्व-प्रतिपादन सगत नहीं। प्रशमरति की उमास्वाति-कर्तृकता भी विश्वसनीय है। स्थविर दल की प्राचीन और विश्वस्त वशावली मे उमास्वाति की उच्चानागर शाखा तथा वाचक पद का पाया जाना भी उनके स्थविरपक्षीय होने का सूचक है। उमास्वाति विक्रम की तीसरी शताब्दी से पाँचवी शताब्दी तक किसी भी समय में हुए हो, पर उन्होंने तत्त्वार्थ की रचना के आधाररूप मे जिस अग-अनंग श्रुत का अवलम्बन किया था वह स्थविरपक्ष को मान्य था।[2] अचेल दल उसके विषय में या तो उदासीन था या उसका त्याग ही कर बैठा था। यदि उमास्वाति माथुरी-वाचना के कुछ पूर्व हुए हों तब तो उनके द्वारा अवलम्बित अंग और अनग श्रुत के विषय मे अचेल पक्ष का प्रायः औदासीन्य था। यदि वे वालभी-वाचना के आसपास हुए हो तब तो उनके अवलम्बित श्रुत के विषय मे अचेल दल मे से अमुक उदासीन ही नहीं, विरोधी भी बन गए थे।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य होगा कि जब उमास्वाति द्वारा अवलम्बित श्रुत अचेल दल में से अमुक को मान्य न था तब उस दल के अनुगामियों ने तत्त्वार्थ को इतना अधिक क्यों अपनाया? इसका उत्तर भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की तुलना से तथा मूलसूत्र से मिल जाता है। उमास्वाति जिन सचेलपक्षावलबित श्रुत के धारक थे उसमें नग्नत्व का भी प्रतिपादन

---

१ प्रवचनसार, अधि० ३।

२ वृत्तिकार सिद्धसेन द्वारा अवलंबित स्थविरपक्षीय श्रुत वालभी-वाचनावाला रहा, जब कि उमास्वाति द्वारा अवलबित स्थविरपक्षीय श्रुत वालभी-वाचना के पहले का है, जो सम्भवत. माथुरी-वाचनावाला होना चाहिए। इसी से लगता है कि कहीं-कहीं सिद्धसेन को भाष्य में आगम-विरोध-सा दिखाई दिया है।

और आदर रहा ही, जो सूत्रगत नाग्न्य (९.९) शब्द से प्रकट है। उनके भाष्य में अंगबाह्य रूप मे जिस श्रुत का निर्देश है वह सब सर्वार्थसिद्धि में नही आया, क्योकि दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार आदि अचेल पक्ष के अनुकूल ही नही हैं। वह स्पष्टतया सचेल पक्ष का पोषक है, पर सर्वार्थसिद्धि में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन का नाम आता है, जो खास अचेल पक्ष के किसी आचार्य की कृतिरूप से निश्चित नँ होने पर भी अचेल पक्ष का स्पष्ट विरोधी नही है।

उमास्वाति के मूलसूत्रो की आकर्षकता तथा भाष्य को छोड देने मात्र से सूत्रों को अपने पक्षानुकूल बनाने की योग्यता देखकर ही पूज्यपाद ने उन सूत्रो पर ऐसी व्याख्या लिखी जिसमे केवल अचेलधर्म का ही प्रतिपादन हो और सचेल धर्म का स्पष्टतया निरसन हो। इतना ही नही, पूज्यपादस्वामी ने सचेलपक्षावलम्बित एकादश अग तथा अंगबाह्य श्रुत, जो वालभी-लेखन का वर्तमान रूप है, का भी स्पष्टतया अप्रामाण्य सूचित कर दिया है। उन्होने कहा है कि केवली को कवलाहारी- मानना तथा मांस आदि ग्रहण करनेवाला कहना क्रमश केवली-अवर्णवाद तथा श्रुत-अवर्णवाद है।[1] वस्तुस्थिति यह प्रतीत होती है कि पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, जिसमें मुख्यरूप से अचेलधर्म का स्पष्ट प्रतिपादन है, के बन जाने के बाद सचेलपक्षावलम्बित समग्र श्रुत का जैसा बहिष्कार अमुक अचेल पक्ष ने किया वैसा दृढ व ऐकान्तिक बहिष्कार सर्वार्थसिद्धि की रचना के पूर्व नही हुआ था। यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धि की रचना के बाद अचेल पक्ष में सचेलपक्षीय श्रुत का प्रवेश नाममात्र का ही रहा, जैसा कि उत्तरकालीन दिगम्बर विद्वानो की श्रुतप्रवृत्ति से स्पष्ट है। इस स्थिति में अपवाद है जो नगण्य है।[2] वस्तुतः पूज्यपाद के आसपास अचेल और सचेल पक्ष मे इतनी खीच-तान और पक्ष-प्रतिपक्षता बढ गई थी

---

१. भगवतीसूत्र (शतक १५), आचाराङ्ग (शीलाङ्कटीकासहित, पृ० ३३४, ३३५, ३४८, ३५२, ३६४), प्रश्नव्याकरण (पृ० १४८, १५०) आदि में मास-संबंधी जो पाठ आते हैं उनको लक्ष्य में रखकर सर्वार्थसिद्धिकार ने कहा है कि आगम में ऐसी बातों का होना स्वीकार करना श्रुत-अवर्णवाद है। भगवती (शतक १५) आदि के केवली-आहार वर्णन को लक्ष्य में रखकर उन्होंने कहा है कि यह केवली का अवर्णवाद है।

२. अकलङ्क और विद्यानन्द आदि सिद्धसेन के ग्रन्थो से परिचित रहे। देखें— राजवार्तिक, ८. १. १७ तथा श्लोकवार्तिक, पृ० ३।

कि उसी के फलस्वरूप सर्वार्थसिद्धि के बन जाने तथा उसके अति प्रतिष्ठित हो जाने पर अचेल पक्ष मे से तत्त्वार्थ-भाष्य का रहा-सहा स्थान भी हट गया। विचार करने पर भी इस प्रश्न का अब तक कोई उत्तर नही मिला कि जैसे-तैसे भी सचेल पक्ष ने अंगश्रुत को अभी तक किसी-न-किसी रूप में सम्हाल रखा, तब बुद्धि मे, श्रुत-भक्ति मे और अप्रमाद मे जो सचेल पक्ष से किसी तरह कम नहीं उस अचेल पक्ष ने अंग-श्रुत को समूल नष्ट क्यो होने दिया? जब कि अचेल पक्ष के अग्रगामी कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, समन्तभद्र आदि का इतना श्रुत-विस्तार अचेल पक्ष ने सम्हालकर रखा, तब कोई कारण नही था कि वह आज तक भी अंगश्रुत के अमुक मूल भाग को न सम्हाल सकता। अगश्रुत को छोडकर अग-बाह्य की ओर दृष्टिपात करने पर भी प्रश्न रहता ही है कि पूज्यपाद के द्वारा निर्दिष्ट दशवैकालिक, उत्तराध्ययन जैसे छोटे-से ग्रन्थ अचेलपक्षीय श्रुत में से लुप्त कैसे हो गए, जब कि उनसे भी बड़े ग्रन्थ उस पक्ष में बराबर रहे। सब बातों पर विचार करने से मै इसी निश्चित परिणाम पर पहुँचा हूँ कि मूल अंगश्रुत का प्रवाह अनेक अवश्यम्भावी परिवर्तनों की चोटें सहन करता हुआ भी आज तक चला आया है जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा अभी सर्वथा मान्य है और जिसे दिगम्बर सम्प्रदाय बिलकुल नही मानता।

श्रुत के इस सन्दर्भ मे एक प्रश्न की ओर इतिहास के विद्वानो का ध्यान खीचना आवश्यक है। पूज्यपाद तथा अकलङ्क ने दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन का निर्देश किया है। इतना ही नही, दशवैकालिक पर तो नग्नत्व के समर्थक अपराजित आचार्य ने टीका भी लिखी थी। इन्होने भगवती-आराधना पर भी टीका लिखी है।[1] ऐसी स्थिति मे सम्पूर्ण दिगम्बर परम्परा से दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का प्रचार क्यों उठ गया? जब हम देखते हैं कि मूलाचार, भगवती-आराधना जैसे अनेक ग्रन्थ जो कि वस्त्र आदि उपधि का भी अपवाद रूप से मुनि के लिए निरूपण करते है और जिनमे आर्यिकाओ के मार्ग का भी निरूपण है और जो दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन की अपेक्षा मुनि-आचार का उत्कट प्रतिपादन नही करते वे ग्रन्थ सम्पूर्ण दिगम्बर परम्परा में एक-से मान्य हैं और जिन पर कई प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानो ने संस्कृत तथा

१ देखें—भगवती आराधना, पृ० ११९६, अनेकान्त, वर्ष २, अंक १, पृ० ५७।

भाषा (हिन्दी) में टीकाएँ भी लिखी हैं, तब तो उपर्युक्त प्रश्न और भी बलवान् बन जाता है। मूलाचार तथा भगवती-आराधना जैसे ग्रन्थों को श्रुत में स्थान देनेवाली दिगम्बर परम्परा दशवैकालिक और उत्तराध्ययन को क्यों नही मानती ? अथवा दशवैकालिक आदि को छोड़ देनेवाली दिगम्बर परम्परा मूलाचार आदि को कैसे मान सकती है ? इस असंगतिसूचक प्रश्न का उत्तर सरल भी है और कठिन भी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करे तो सरल है और केवल पन्थ-दृष्टि से विचार करें तो कठिन है।

इतिहास से अनभिज्ञ लोग बहुधा यही सोचते हैं कि अचेल या दिगम्बर परम्परा एकमात्र नग्नत्व को ही मुनित्व का अंग मानती है या मान सकती है। नग्नत्व के अतिरिक्त थोडे भी उपकरण धारण करने को दिगम्बरत्व मे कोई स्थान नही। जब से दिगम्बर परंपरा में तेरापन्थ की भावना ने जोर पकड़ा और दूसरे दिगम्बर अवान्तर पक्ष या तो नामशेष हो गए या तेरापन्थ के प्रभाव मे दब गए तब से तो पन्थ-दृष्टिवालो का उपर्युक्त विचार और भी पुष्ट हो गया कि मुनित्व का अंग तो एकमात्र नग्नत्व है—थोड़ी भी उपधि उसका अंग नही हो सकती और नग्नत्व की असभावना के कारण न स्त्री ही मुनि-धर्म की अधिकारिणी बन सकती है। ऐसी पन्थ-दृष्टि के लोग उपर्युक्त असंगति का सच्चा समाधान प्राप्त हो नही कर सकते। उनके लिए यही मार्ग रह जाता है कि या तो वे कह दें कि वैसे उपधिप्रतिपादक सभी ग्रन्थ श्वेताम्बर हैं या श्वेताम्बर प्रभाववाले किन्ही विद्वानों के है या उन्हें पूर्ण दिगम्बर मुनित्व का प्रतिपादन अभिप्रेत नही है। ऐसा कहकर भी वे अनेक उलझनो से मुक्त नही हो सकते। अतएव उनके लिए प्रश्न का सच्चा उत्तर कठिन है।

परन्तु जैन-परम्परा के इतिहास के अनेक पहलुओ का अध्ययन तथा विचार करनेवाले के सामने वैसी कोई कठिनाई नही। जैन-परम्परा के इतिहास से स्पष्ट है कि अचेल या दिगम्बर पक्ष में भी अनेक सघ या गच्छ ऐसे हुए हैं जो मुनिधर्म के अगरूप मे उपधि का आत्यन्तिक त्याग मानने न मानने के विपय में पूर्णतया एकमत नही थे। कुछ सघ ऐसे भी थे जो नग्नत्व और पाणिपात्रत्व का पक्ष लेते हुए भी व्यवहार मे थोडी-बहुत उपधि अवश्य स्वीकार करते थे। वे एक प्रकार से [illegible] या मध्यममार्गी अचेल दलवाले थे। कोई सघ या कुछ सघ ऐसे भी थे जो मात्र नग्नत्व का समर्थन करते थे और व्यवहार में भी उसी का अनुसरण करते थे। वे

ही तीव्र या उत्कट अचेल दलवाले थे। जान पडता है कि संघ या दल कोई भी हो पर पाणिपात्रत्व सबका समान रूप मे था। इसीलिए वे सब दिगम्बर ही समझे जाते थे। इसी मध्यम और उत्कट भावनावाले भिन्न-भिन्न संघों या गच्छो के विद्वानो या मुनियो द्वारा रचित आचार-ग्रन्थो में नग्नत्व और वस्त्र आदि का विरोधी निरूपण आ जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त यापनीय आदि कुछ ऐसे भी संघ हुए जो न तो पूरे सचेल पक्ष के समझे गए और न पूरे अचेल पक्ष में ही स्थान पा सके। ऐसे संघ जब लुप्त हो गए तब उनके आचार्यों की कुछ कृतियाँ तो श्वेताम्बर पक्ष के द्वारा ही मुख्यतया रक्षित हुई जो उस पक्ष के विशेष अनुकूल थीं और कुछ कृतियाँ दिगम्बर पक्ष मे ही विशेषतया रह गईं और कालक्रम से दिगम्बर ही मानी जाने लगी। इस प्रकार प्राचीन और मध्यकालीन तथा मध्यम और उत्कट भावनावाले अनेक दिगम्बर सघो के विद्वानो की कृतियो मे समुचित रूप से कही नग्नत्व का आत्यन्तिक प्रतिपादन और कही मर्यादित उपधि का प्रतिपादन दिखाई दे तो यह कोई असगत बात नही है। इस समय दिगम्बर सम्प्रदाय मे नग्नत्व की आत्यन्तिक आग्रही जो तेरापन्थीय भावना दिखाई देती है वह पिछले दो-तीन सौ वर्षों का परिणाम है। केवल इस भावना के आधार पर पुराने सब दिगम्बर समझे जानेवाले साहित्य का स्पष्टीकरण कभी संभव नहीं। दशवैकालिक आदि ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में इतनी अधिक प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं कि जिनका त्याग आप ही आप दिगम्बर परम्परा में सिद्ध हो गया। यदि मूलाचार आदि ग्रन्थों को भी श्वेताम्बर परम्परा पूरी तरह अपना लेती तो वे दिगम्बर परम्परा में शायद ही अपना इतना स्थान बनाए रखते।

(घ) उमास्वाति की जाति और जन्म-स्थान

प्रशस्ति मे स्पष्ट रूप से जातिविषयक कोई कथन नहीं है, फिर भी माता का गोत्रसूचक 'वात्सी' नाम इसमें है और 'कौभीषणि' भी गोत्र-सूचक विशेषण है। गोत्र का यह निर्देश उमास्वाति के ब्राह्मण जाति का होने की सूचना देता है, ऐसा कहना गोत्र-परम्परा को ठेठ से पकड रखनेवाली ब्राह्मण जाति के वंशानुक्रम के अभ्यासी को शायद ही सदोष प्रतीत हो। प्रशस्ति वाचक उमास्वाति के जन्म-स्थान के रूप में 'न्यग्रोधिका' ग्राम का निर्देश करती है। यह न्यग्रोधिका स्थान कहाँ है, इसका इति-हास क्या है और आज उसकी क्या स्थिति है—यह सब अंधकार में है। इसकी छानबीन करना दिलचस्पी का विषय है। प्रशस्ति में तत्त्वार्थसूत्र

के रचना-स्थान के रूप में 'कुसुमपुर' का निर्देश है। यह कुसुमपुर ही इस समय बिहार का पटना है। प्रशस्ति मे कहा गया है कि विहार करते-करते पटना मे तत्त्वार्थ को रचना हुई। इस पर से नीचे की कल्पनाएँ स्फुरित होती है :

१. उमास्वाति के समय मे और कुछ आगे-पीछे भी मगध मे जैन भिक्षुओं का खूब विहार होता रहा होगा और उस तरफ जैन संघ का बल तथा आकर्षण भी रहा होगा।

२. विशिष्ट शास्त्र के लेखक जैन भिक्षु अपनी अनियत स्थानवास की परम्परा को बराबर कायम रख रहे थे और ऐसा करके उन्होंने अपने कुल को 'जगम विद्यालय' बना लिया था।

३. विहार-स्थान पाटलिपुत्र (पटना) और मगधदेश से जन्म-स्थान न्यग्रोधिका सामान्य तौर पर बहुत दूर नही रहा होगा।

२. तत्त्वार्थ के व्याख्याकार

तत्त्वार्थ के व्याख्याकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में हुए है, परन्तु इसमें अन्तर यह है कि श्वेताम्बर परम्परा में सभाष्य तत्त्वार्थ की व्याख्याओ की प्रधानता है और दिगम्बर परम्परा मे मूल सूत्रो की ही व्याख्याएँ हुई हैं। दोनो सम्प्रदायों के इन व्याख्याकारो में कितने ही ऐसे विशिष्ट विद्वान् हैं जिनका स्थान भारतीय दार्शनिकों में भी आ सकता है। अतः यहाँ ऐसे कुछ विशिष्ट व्याख्याकारों का ही सक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।

(क) उमास्वाति

तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्यरूप मे व्याख्या लिखनेवाले स्वयं सूत्रकार उमास्वाति ही है। इनके विषय में पहले लिखा जा चुका है। अत इनके विषय में यहाँ अलग से लिखना आवश्यक नही है। सिद्धसेनगणि[1] की भाँति आचार्य हरिभद्र भी भाष्यकार और सूत्रकार को एक ही समझते हैं, ऐसा उनकी भाष्य-टीका के अवलोकन से स्पष्ट ज्ञात होता है।[2] हरिभद्र

---

१ देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० १३, टि० १ और पृ० १५-१६।

२ "एतन्निबन्धनत्वात् ससारस्येति स्वाभिप्रायमभिधाय मतान्तरमुपन्यस्यन्नाह—एके त्वित्यादिना"—पृ० १४१।

प्रशमरति[1] को भाष्यकार की ही रचना समझते हैं। ऐसी स्थिति में भाष्य को स्वोपज्ञ न मानने की आधुनिक कल्पनाएँ भ्रांत ठहरती हैं। पूज्यपाद, अकलङ्क आदि किसी प्राचीन दिगम्बर टीकाकार ने ऐसी बात नही उठाई है जो भाष्य की स्वोपज्ञता के विपरीत हो।

(ख) गन्धहस्ती[2]

वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर व्याख्याकार या भाष्यकार के रूप में जैन परम्परा में दो गंधहस्ती प्रसिद्ध हैं। उनमे एक दिगम्बराचार्य और दूसरे श्वेताम्बराचार्य माने जाते हैं। गंधहस्ती विशेषण है। यह विशेषण दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान् आ० समन्तभद्र का समझा जाता है और इससे फलित होता है कि आप्तमीमासा के रचयिता गंध-हस्तिपदधारी स्वामी समन्तभद्र ने वा० उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर व्याख्या लिखी थी। श्वेताम्बर परम्परा मे गंधहस्ती विशेषण वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर का है। यह मान्यता इस समय प्रचलित है। इसके अनुसार फलित होता है कि सन्मति के रचयिता और वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर ने वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर व्याख्या लिखी थी। ये दोनो मान्यताएँ और उन पर से निष्पन्न उक्त मन्तव्य अप्रामाणिक होने से ग्राह्य नही हैं। दिगम्बराचार्य समन्तभद्र की कृति के लिए 'गधहस्ती' विशेषण व्यवहृत मिलता है, जो लघुसमन्तभद्रकृत अष्ट-सहस्री के टिप्पण से स्पष्ट है। लघुसमन्तभद्र का काल १४वी-१५वी शताब्दी के बीच का माना जाता है।[3] उनके प्रस्तुत उल्लेख का समर्थक एक भी सुनिश्चित प्रमाण अब तक उपलब्ध नही है। अब तक के अध्ययन-चिन्तन से मै इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि कही भाष्य, कही महाभाष्य,

---

१. "यथोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे" कहकर हरिभद्र ने भाष्यटीका मे प्रशमरति की कारिकाएँ २१० व २११ उद्धृत की हैं।

२. 'शक्रस्तव' नाम से प्रसिद्ध 'नमोत्थुण' के प्राचीन स्तोत्र में 'पुरिसवर-गन्धहत्थीणं' कहकर तीर्थंकर को गन्धहस्ती विशेषण दिया गया है। दसवी और ग्यारहवी शक शताब्दी के दिगम्बर शिलालेखों में एक वीर सैनिक को गन्धहस्ती उपनाम दिया गया मिलता है। एक जैन मन्दिर का नाम भी 'सवति गन्धवारण जिनालय' है। देखें—डा० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित जैन शिला-लेख सग्रह, पृ० १२३ व १२९ में चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख।

३. देखें—स्वामी समन्तभद्र, पृ० २१४-२२०।

कहीं तत्त्वार्थभाष्य, कही गन्धहस्तिभाष्य जैसे अलग-अलग अनेक उल्लेख दिगम्बर-साहित्य मे बिखरे हुए मिलते है और कही स्वामी समन्तभद्र नाम का निर्देश तत्त्वार्थ-महाभाष्य के साथ भी है। यह सब देखकर बाद के अर्वाचीन लेखको को यह भ्रान्तिमूलक विश्वास हुआ कि स्वामी समन्तभद्र ने उमास्वाति के तत्त्वार्थ पर गन्धहस्ती नामक महाभाष्य लिखा था। इसी विश्वास ने उन्हे ऐसा लिखने को प्रेरित किया। वस्तुतः उनके सामने न तो ऐसा कोई प्राचीन आधार था और न कोई ऐसी कृति थी जो तत्त्वार्थसूत्र पर गन्धहस्ती-भाष्य नामक व्याख्या को समन्तभद्रकर्तृक सिद्ध करते। भाष्य, महाभाष्य, गन्ध-हस्ती आदि बड़े-बडे शब्द तो थे ही, अतएव यह विचार आना स्वाभाविक है कि समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य के अतिरिक्त ऐसी कृति कौन रच सकता है? विशेषकर इस स्थिति मे कि जब अकलङ्क आदि बाद के आचार्यों के द्वारा रचित कोई कृति गन्धहस्ती-भाष्य नाम से निश्चित न की जा सकती हो। उमास्वाति के अतिप्रचलित तत्त्वार्थ पर स्वामी समन्तभद्र जैसे आचार्य की छोटी-मोटी कोई कृति हो तो उसके उल्लेख या किसी अवतरण का सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि अति-शास्त्रीय टीकाओ में सर्वथा न पाया जाना कभी संभव नही। यह भी सम्भव नही है कि वैसी कोई कृति सर्वार्थसिद्धि आदि के समय तक लुप्त ही हो गई हो जब कि समन्तभद्र के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विद्यमान है। जो हो, मुझे अब कोई सन्देह नही है कि तत्त्वार्थ पर समन्तभद्र का गन्धहस्ती नामक कोई भाष्य नही था।

पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अनेकान्त (वर्ष १, पृ० २१६) मे लिखा है कि 'धवला' मे गन्धहस्ती-भाष्य का उल्लेख आता है, पर हमे धवला की मूल प्रति को जाँच करनेवाले प० हीरालालजी न्यायतीर्थ के द्वारा विश्वस्त रूप से ज्ञात हुआ है कि धवला में गन्धहस्ती-भाष्य शब्द का उल्लेख नही है।

वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर के गन्धहस्ती होने की श्वेताम्बर-मान्यता सत्रहवी-अठारहवी शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी के एक उल्लेख पर से चली है।[1] उपाध्याय यशोविजयजी ने अपने 'महावीरस्तव' में गन्धहस्ती के कथन के रूप मे सिद्धसेन दिवाकर

---

१. "अनेनैवाऽभिप्रायेणाह गन्धहस्ती सम्मतौ"— न्यायखण्डखाद्य, पृ० १६।

के 'सन्मति' की एक गाथा उद्धृत की है। उस पर से आजकल यह माना जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर ही गन्धहस्ती हैं। परन्तु उपाध्याय यशोविजयजी का यह उल्लेख भ्रान्तिपूर्ण है। इसके दो प्रमाण इस समय स्पष्ट हैं। एक तो यह कि उ० यशोविजयजी से पूर्व के किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थकार ने सिद्धसेन दिवाकर के साथ या निश्चित रूप से उनकी मानी जानेवाली कृतियो के साथ या उन कृतियों से उद्धृत अवतरणो के साथ एक भी स्थल पर गन्धहस्ती विशेषण का उपयोग नही किया है। सिद्धसेन दिवाकर की कृति के अवतरण के साथ 'गन्धहस्ती' विशेषण का प्रयोग करनेवाले केवल यशोविजयजी ही हैं, अत उनका यह कथन किसी भी प्राचीन आधार से रहित है।' इसके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकर के जीवन-वृत्तान्तवाले जितने प्राचीन या अर्वाचीन प्रबन्ध मिलते हैं उनमे कही भी 'गन्धहस्ती' पद व्यवहृत दृष्टिगोचर नही होता,[1] जब कि दिवाकर पद प्राचीन प्रबन्धों तक में और दूसरे आचार्यो के ग्रन्थों मे भी प्रयुक्त मिलता है।[2] दूसरा प्रबल और अकाट्य प्रमाण यह है कि उपाध्याय यशोविजयजी से पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थो मे जो गन्धहस्ती के अवतरण[3] मिलते हैं वे सभी अवतरण कही

---

१. भद्रेश्वरकृत कथावलीगत सिद्धसेनप्रबन्ध, अन्य लिखित सिद्धसेनप्रबन्ध, प्रभावकचरित्रगत वृद्धवादिप्रबन्धान्तर्गत सिद्धसेनप्रबन्ध, प्रबन्धचिंतामणिगत विक्रम-प्रबन्ध और चतुर्विंशतिप्रबन्ध।

सिद्धसेन के जीवन-प्रबन्धो में जैसे दिवाकर उपनाम आता है और उसका समर्थन मिलता है वैसे गन्धहस्ती के विषय में कुछ भी नही है। यदि गन्धहस्ती पद का इतना प्राचीन प्रयोग मिलता है तो यह प्रश्न होता ही है कि प्राचीन ग्रंथकारो ने दिवाकर पद की तरह गन्धहस्ती पद सिद्धसेन के नाम के साथ या उनकी किसी निश्चित कृति के साथ प्रयुक्त क्यो नही किया ?

२. देखें—हरिभद्रकृत पंचवस्तु, गाथा १०४८।

३ तुलना के लिए देखें—

"निद्रादयो यत. समधिगताया एव दर्शनलब्धे उपयोगघाते प्रवर्त्तन्ते चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टय तूद्गमोच्छेदित्वात् मूलघातं निहन्ति दर्शनलब्धिम् इति।"	"आह च गन्धहस्ती—निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते दर्शनावरणचतुष्टयन्तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति।"

तो ज़रा भी परिवर्तन के बिना और कहीं बहुत थोड़े परिवर्तन के साथ और कही भावसाम्य के साथ सिंहसूर के प्रशिष्य और भास्वामी के शिष्य सिद्धसेनकृत तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति मे मिलते हैं। इस पर से इतना तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि प्रचलित परम्परा के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर नही किन्तु उपलब्ध तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति के

–तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, भाग २, पृ० १३५, पं० ४।

"या तु भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगाऽयोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीयसप्तकक्षयादपायसद्द्रव्यक्षयाच्चोदपादि सा सादिरपर्यवसाना इति।"
–तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ५९, पं० २७।

"तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी श्रेणिकादिना सद्द्रव्यापगमे च भवति अपायसहचारिणी सा सादिसपर्यवसाना।"
–तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ५९, पं० २७।

"प्राणापानावुच्छ्वासनि.श्वासक्रियालक्षणौ।"
–तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० १६१, पं० १३।

"अतएव च भेद. प्रदेशानामवयवानां च, ये न जातुचिद् वस्तुव्यतिरेकेणोपलभ्यन्ते ते प्रदेशा. ये तु विशकलिता. परिकलितमूर्तय प्रज्ञापथमवतरन्ति तेऽवयवा.।"
–तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ३२८, पं० २१।

—प्रवचनसारोद्धार की सिद्धसेनीय वृत्ति, पृ० ३५८, प्र० पं० ५; सितरीटीका मलयगिरिकृत गाथा ५; देवेन्द्रकृत प्रथम कर्मग्रन्थ टीका, गाथा १२।

"यदाह गन्धहस्ती—भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगायोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीसप्तकक्षयाविर्भूता सम्यग्दृष्टि सादिरपर्यवसाना इति।"—नवपदवृत्ति, पृ० ८८।

"यदुक्तं गन्धहस्तिना—तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी, अपायो—मतिज्ञानांश: सद्द्रव्याणि—शुद्धसम्यक्त्वदलिकानि तद्वर्तिनी श्रेणिकादीनां च सद्द्रव्यापगमे भवत्यपायसहचारिणी सा सादिसपर्यवसाना इति।"
—नवपदवृत्ति, पृ० ८८।

"यदाह गन्धहस्ती—प्राणापानौ उच्छ्वासनि श्वासौ इति।"—धर्मसंग्रहणीवृत्ति (मलयगिरि), पृ० ४२, प्र० पं० २।

"यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति।"
—स्याद्वादमंजरी, श्लो० ९, पृ० ६३।

रचयिता भास्वामी के शिष्य सिद्धसेन ही गन्धहस्ती हैं। नाम के सादृश्य से और प्रकाण्डवादी तथा कुशल ग्रन्थकार के रूप मे प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर ही गन्धहस्ती हो सकते हैं ऐसी धारणा से उ० यशोविजयजी ने दिवाकर के लिए गन्धहस्ती विशेषण का प्रयोग करने की भ्रान्ति की होगी, यही सम्भव है।

उपर्युक्त युक्तियो से स्पष्ट देखा जा सकता है कि श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध गंधहस्ती तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य की उपलब्ध विस्तीर्ण वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही हैं। इस से हमें निश्चित रूप से ऐसा मानने के कारण मिलते है कि दसवी शताब्दी के अभयदेव ने अपनी सन्मति की टीका[1] मे दो स्थानो पर गंधहस्ती पद का-प्रयोग कर उनकी तत्त्वार्थ-व्याख्या देखने की जो सूचना की है वह अन्य कोई नही, प्रत्युत उपलब्ध भाष्यवृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही हैं। इसलिए सन्मति-टीका में अभयदेव ने तत्त्वार्थ की जिस गंधहस्तिकृत व्याख्या को देखने की सूचना की है उसके लिए अब नष्ट या अनुपलब्ध साहित्य की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक नही है। इसी सिलसिले में यह मानना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि नवी-दसवी शताब्दी के ग्रन्थकार शीलाङ्क[2] ने अपनी आचारागसूत्र की टीका मे जिस गन्धहस्तिकृत[3] विवरण का

---

१. सन्मति के दूसरे काण्ड की प्रथम गाथा की व्याख्या की समाप्ति में टीकाकार अभयदेव ने तत्त्वार्थ के प्रथम अध्याय के सूत्र ९ से १२ तक उद्धृत किए हैं और उन सूत्रो की व्याख्या के विषय में गन्धहस्ती की सिफारिश करते हुए कहा है कि "अस्य च सूत्रसमूहस्य व्याख्या गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विहितेति न प्रदर्श्यते"—पृ० ५९५, पं० २४। इसी प्रकार तृतीय काण्ड की गाथा ४४ में 'हेतुवाद' पद की व्याख्या करते हुए उन्होने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' रखकर इसके लिए भी लिखा है—"तथा गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विक्रान्तमिति नेह प्रदर्श्यते।" —पृ० ६५१, पं० २०।

२. देखें—आचार्य जिनविजयजी द्वारा सम्पादित 'जीतकल्प' की प्रस्तावना के बाद परिशिष्ट में शीलाङ्काचार्य के विषय में अधिक विवरण, पृ० १९-२०।

३. "शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्"। तथा—

"शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनमितीव किल वृतं पूज्यैः।
श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम्॥"

—आचारांगटीका, पृ० १ तथा ८२ का प्रारंभ।

उल्लेख किया है वह भी तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन का ही होना चाहिए, क्योंकि बहुत ही निकट-काल के शीलाङ्क और अभयदेव दोनों का भिन्न-भिन्न आचार्यों के लिए गन्धहस्ती पद का प्रयोग करना असम्भव है। अभयदेव जैसे बहुश्रुत विद्वान् ने जैन आगमो में प्रथम स्थानीय आचाराङ्ग पर कुछ ही समय पूर्व के शीलाङ्कसूरि-रचित वृत्ति न देखी हो, यह कल्पना करना ही कठिन है। फिर, शीलाङ्क ने स्वय ही अपनी टीकाओ मे जहाँ-जहाँ सिद्धसेन दिवाकरकृत सन्मति की गाथाएँ उद्धृत की है वहाँ किसी भी स्थल पर गन्धहस्तिपद का प्रयोग नही किया, अतः शीलाङ्क के अभिप्रेत गन्धहस्ती सिद्धसेन दिवाकर नही हैं, यह स्पष्ट है।

ऊपर की विचारसरणी के आधार पर हमने पहले जो निर्णय किया था उसका संपूर्ण समर्थक उल्लिखित प्राचीन प्रमाण भी हमे मिल गया है, जो हरिभद्र की अपूर्ण वृत्ति के पूरक यशोभद्रसूरि के शिष्य ने लिखा है।[1] वह इस प्रकार है—

"सूरियशोभद्रस्य (हि) शिष्येण समुद्धृता स्वबोधार्थम् ।
तत्त्वार्थस्य हि टीका जडकायार्जना धृता यात्यां नूद्धृता ॥१॥

हरिभद्राचार्येणारब्धा विवृतार्धषडध्यायांश्च ।
पूज्यैः पुनरुद्धृतेयं तत्त्वार्थार्द्धस्य टीकान्त्या ॥ २ ॥

एतदुक्तं भवति—हरिभद्राचार्येणार्द्धषण्णामध्यायानामाद्यानां टीका-कृता, भगवता तु गन्धहस्तिना सिद्धसेनेन नव्या कृता तत्त्वार्थटीका नव्यै-र्वादस्थानैर्व्याकुला, तस्या एव शेषमुद्धृतं चाचार्येण [शेषं मया] स्वबोधार्थं सात्यन्तगुर्वी च डुपडुपिका टीका निष्पन्ना इत्यलं प्रसंगेन।"
—पृ० ५२१।[2]

(ग) सिद्धसेन

तत्त्वार्थभाष्य पर श्वेताम्बराचार्यों की दो पूर्ण वृत्तियाँ इस समय उपलब्ध है। इनमे एक बडी और दूसरी छोटी है। बड़ी वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही यहाँ अभिप्रेत हैं। ये सिद्धसेन दिन्नगणि के शिष्य सिंहसूर

1. देखें—गुजराती तत्त्वार्थविवेचन (प्रथम संस्करण), परिचय पृ० ३६।

2. यह पाठ अन्य लिखित प्रति से शुद्ध किया गया है। देखें—आत्मानंद प्रकाश, वर्ष ४५, अंक १०, पृ० १९३।

के शिष्य भास्वामी के शिष्य थे, यह बात इनकी भाष्यवृत्ति की अन्तिम प्रशस्ति से सिद्ध है।[1] गंधहस्ती के विचार-प्रसंग में प्रयुक्त युक्तियों से यह भी ज्ञात होता है कि गंधहस्ती ये ही सिद्धसेन हैं। जब तक दूसरा कोई विशेष प्रमाण न मिले तब तक उनकी दो कृतियाँ मानने में शंका नहीं रहती—एक तो आचारांग-विवरण जो अनुपलब्ध है और दूसरी तत्त्वार्थ-भाष्य की उपलब्ध बड़ी वृत्ति। इनका 'गंधहस्ती' नाम किसने और क्यों रखा, इस विषय में केवल कल्पना ही की जा सकती है। इन्होने स्वयं तो अपनी प्रशस्ति मे गंधहस्ती पद जोड़ा नही है। इससे मालूम होता है कि सामान्य तौर पर जैसा बहुतो के लिए घटित होता है वैसा ही इनके साथ भी घटित हुआ है अर्थात् इनके शिष्य या भक्त अनुगामी जनों ने इनको गंधहस्ती के तौर पर प्रसिद्ध किया है। यह बात यशोभद्रसूरि के शिष्य के उपर्युक्त उल्लेख से और भी स्पष्ट हो जाती है। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत सिद्धसेन सैद्धान्तिक थे और आगमशास्त्रों का विशाल ज्ञान धारण करने के अतिरिक्त वे आगमविरुद्ध प्रतीत होने-वाली चाहे जैसी तर्कसिद्ध बातो का भी बहुत ही आवेगपूर्वक खंडन करते थे और सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना करते थे। यह बात उनकी तार्किको के विरुद्ध की गई कटु चर्चा देखने से अधिक सम्भव प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त उन्होने तत्त्वार्थभाष्य पर जो वृत्ति लिखी है वह अठारह हजार श्लोक-प्रमाण है और कदाचित् उस वक्त की रची हुई तत्त्वार्थभाष्य की सभी व्याख्याओ मे बड़ी होगी। इस बड़ी वृत्ति और उसमें किए गए आगम के समर्थन को देखकर ऐसा लगता है कि उनके किसी शिष्य या भक्त अनुगामी ने उनके जीवनकाल में अथवा उनके बाद उनके लिए 'गंधहस्ती' विशेषण प्रयुक्त किया है। उनके समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना अभी संभव नहीं, फिर भी वे विक्रम की सातवी और नवी शताब्दी के मध्य के होने चाहिए, यह निःसंदेह है। उन्होंने अपनी भाष्यवृत्ति में वसुबंधु आदि अनेक बौद्ध विद्वानो[2]

---

१ यही सिंहसूर नयचक्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार हैं। देखें—आत्मानंद प्रकाश, वर्ष ४५, अंक १०, पृ० १९१।

२ प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् 'वसुबंधु' का वे 'आमिषगृद्ध' के रूप में निर्देश करते हैं—तस्मादेनःपदमेतत् वसुबन्धोरामिषगृद्धस्य गृध्रस्येवाऽप्रेक्ष्यकारिणः। जातिरुपन्यस्ता वसुबन्धुवैधेयेन।—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ६८, पं० १ तथा २९। नागार्जुन-रचित धर्मसंग्रह, पृ० १३ पर जो आनन्तर्य पाँच पाप आते हैं और

का उल्लेख किया है। उनमे से एक सातवी शताब्दी के धर्मकीर्ति भी हैं[1] अर्थात् सातवी शताब्दी के पहले वे नही हुए, इतना तो निश्चित है। दूसरी ओर नवी शताब्दी के विद्वान् शीलाङ्क ने गन्धहस्ती नाम से उनका उल्लेख किया है।[2] इससे वे नवी शताब्दी के पहले किसी समय हुए होगे। सिद्धसेन नयचक्र के वृत्तिकार सिंहसूर गणि क्षमाश्रमण के प्रशिष्य थे। सिंहसूर विक्रम की सातवी शताब्दी के मध्य मे अवश्य विद्यमान थे, अतएव सिद्धसेन का समय विक्रम की सातवी शताब्दी के अतिम पाद से लेकर आठवी शताब्दी के मध्यभाग तक का प्रतीत होता है। सिद्धसेन ने अपनी वृत्ति मे 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो अकलक का है, अत कहना चाहिए कि अकलंक और सिद्धसेन दोनो समकालीन थे। यह भी सभव है कि सिद्धसेन ने अकलक का राजवार्तिक देखा हो।

(घ) हरिभद्र

तत्त्वार्थभाष्य की लघु वृत्ति के लेखक हरिभद्र है। यह वृत्ति रतलाम की श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी नामक संस्था की ओर से प्रकाशित हुई है। यह वृत्ति केवल हरिभद्राचार्य की कृति नही है, किन्तु इसकी रचना मे कम-से-कम तीन आचार्यों का हाथ है।[3] उनमे से एक हरिभद्र है। इन्ही हरिभद्र का विचार यहाँ प्रस्तुत है। श्वेताम्बर परम्परा मे हरिभद्र नाम के अनेक आचार्य हो गए हैं।[4] इनमे से याकिनीसूनु रूप से

जिनका वर्णन शीलाक ने सूत्रकृताग की टीका (पृ० २१५) में किया है उनका उल्लेख भी सिद्धसेन करते है।—भाष्यवृत्ति, पृ० ६७।

१ भिक्षुवरधर्मकीर्तिनाऽपि विरोध उक्त प्रमाणविनिश्चयादौ। —तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ३९७, प० ४।

२ देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० ३३, टि० ३।

३. इस वृत्ति के रचयिता तीन से ज्यादा भी हो सकते हैं। हरिभद्र, यशोभद्र और यशोभद्र के शिष्य ये तीन तो निश्चित ही है, किन्तु अष्टम-नवम अध्याय के अन्त की पुष्पिका के आधार पर अन्य की भी कल्पना हो सकती है—"इति श्री तत्त्वार्थटीकायां हरिभद्राचार्यप्रारब्धायां डुपडुपिकाभिधानायां तस्यामेवान्यकर्तृकायां नवमोऽध्यायः समाप्त ।"

४. देखें—मुनि कल्याणविजयजी द्वारा लिखित धर्मसग्रहणी की प्रस्तावना, पृ० २ तथा आगे।

प्रसिद्ध सैकड़ों ग्रन्थों के रचयिता आ० हरिभद्र ही इस लघु वृत्ति के रचयिता माने जाते हैं। परन्तु इस विषय में कोई असंदिग्ध प्रमाण अभी हमारे सामने नही है।

मुनि श्री जंबूविजयजी ने हरिभद्र और सिद्धसेन दोनो की वृत्तियों की तुलना की है और बतलाया है कि हरिभद्र ने सिद्धसेनीय वृत्ति का अवलंबन लिया है।[1] यदि यह ठीक है तो कह सकते है कि सिद्धसेन की वृत्ति के बाद ही हरिभद्रीय वृत्ति लिखी गई है।

(ङ) यशोभद्र तथा यशोभद्र के शिष्य

हरिभद्र ने साढे पांच अध्यायों की वृत्ति लिखो। इसके बाद तत्त्वार्थ-भाष्य के शेष सारे भाग की वृत्ति की रचना दो व्यक्तियों के द्वारा हुई, यह निश्चित जान पडता है। इनमें से एक यशोभद्र नाम के आचार्य हैं और दूसरे उनके शिष्य हैं, जिनके नाम का पता नही चला। यशोभद्र के इस अज्ञातनामा शिष्य ने दसवें अध्याय के केवल अन्तिम सूत्र के भाष्य पर वृत्ति लिखी है। इसके पहले के अर्थात् हरिभद्र द्वारा छूटे हुए शेष भाष्य-अंश पर यशोभद्र की वृत्ति है। यह बात यशोभद्रसूरि के शिष्य के वचनो से ही स्पष्ट है।[2]

श्वेताम्बर परम्परा में यशोभद्र नामक अनेक आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं।[3] उनमें से प्रस्तुत वृत्ति के लेखक यशोभद्र कौन है, यह अज्ञात है। प्रस्तुत यशोभद्र भाष्य की अपूर्ण वृत्ति के रचयिता हरिभद्र के शिष्य थे, इसका कोई निर्णायक प्रमाण उपलब्ध नही है। इसके विपरीत यह तो कहा ही जा सकता है कि यदि ये यशोभद्र उन हरिभद्र के शिष्य होते तो यशोभद्र के जो शिष्य वृत्ति की समाप्ति करते हैं और जिन्होने हरिभद्र की अपूर्ण वृत्ति का अपने गुरु यशोभद्र के द्वारा निर्वाहित होना लिखा है वे अपने गुरु के नाम के साथ हरिभद्र-शिष्य इत्यादि कोई विशेषण लगाए बिना शायद ही रहते। जो हो, इतना तो अभी विचारणीय है कि ये यशोभद्र कब हुए और उनकी दूसरी कृतियाँ हैं या नही।

---

१. देखें—आत्मानन्द प्रकाश, वर्ष ४५, अंक १०, पृ० १९३।

२ देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० ३४।

३. देखें—मो० द० देसाई, जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, परिशिष्ट में यशोभद्र।

यह भी विचारणीय है कि यशोभद्र एकमात्र अन्तिम सूत्र की वृत्ति क्यो नही लिख पाए, वह उनके शिष्य को क्यों लिखनी पड़ी ?

तुलना करने से ज्ञात होता है कि यशोभद्र और उनके शिष्य की भाष्यवृत्ति गन्धहस्ती की वृत्ति के आधार पर ही लिखी गई है।

हरिभद्र के षोडशक प्रकरण पर वृत्ति लिखनेवाले एक यशोभद्रसूरि हो गए हैं, वे ही प्रस्तुत यशोभद्र हैं या अन्य, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

(च) मलयगिरि

मलयगिरि[1] की लिखी हुई तत्त्वार्थभाष्य की व्याख्या उपलब्ध नही है। ये विक्रम की १२वी-१३वी शताब्दी के विश्रुत श्वेताम्बर विद्वान् हैं। ये आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन है और इनकी प्रसिद्धि सर्वश्रेष्ठ टीकाकार के रूप में है। इनकी बीसों महत्त्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्ध है।[2]

(छ) चिरंतनमुनि

चिरंतनमुनि एक अज्ञातनामा श्वेताम्बर साधु थे। इन्होने तत्त्वार्थ पर साधारण टिप्पण लिखा है। ये विक्रम की चौदहवी शताब्दी के बाद किसी समय हुए हैं, क्योकि इन्होने अध्याय ५, सूत्र ३१ के टिप्पण मे चौदहवी शताब्दी के मल्लिषेण की 'स्याद्वादमंजरी' का उल्लेख किया है।

(ज) वाचक यशोविजय

वाचक यशोविजय की लिखी तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति का अपूर्ण प्रथम अध्याय ही मिलता है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे ही नही किन्तु सम्पूर्ण जैन समाज मे सबसे अन्त मे होनेवाले सर्वोत्तम प्रामाणिक विद्वान् के रूप मे प्रसिद्ध हैं। इनकी अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं।[3] सतरहवी-अठारहवी शताब्दी तक होनेवाले न्यायशास्त्र के विकास को अपनाकर

---

१ मलयगिरि ने तत्त्वार्थटीका लिखी थी ऐसी मान्यता उनकी प्रज्ञापनावृत्ति मे उपलब्ध निम्न उल्लेख तथा ऐसे ही अन्य उल्लेखो पर से रूढ हुई है — "तच्चाप्राप्तकारित्वं तत्त्वार्थटीकादौ सविस्तरेण प्रसाधितमिति ततोऽवधारणीयम्।"—प्रज्ञापना, पद १५, पृ० २९८।

२ देखें—'धर्मसंग्रहणी' की प्रस्तावना, पृ० ३६।

३. देखें—जैनतर्कभाषा, प्रस्तावना, सिंघी ग्रंथमाला।

इन्होने जैन श्रुत को तर्कबद्ध किया है और भिन्न-भिन्न विषयो पर अनेक प्रकरण लिखकर जैन तत्त्वज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया है।

(झ) गणी यशोविजय

गणी यशोविजय वाचक यशोविजय से भिन्न हैं। इनका समय अज्ञात है। इनके विषय मे अन्य ऐतिहासिक परिचय भी इस समय कुछ नही है। इनकी कृति के रूप मे केवल तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती टबा-टिप्पण प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इनकी और कोई रचना है या नही, यह ज्ञात नही। टिप्पण की भाषा और शैली को देखते हुए ये सत्तरहवी-अठारहवी शताब्दी के प्रतीत होते हैं। इनकी दो विशेषताएँ उल्लेखनीय है·

(१) जैसे वाचक यशोविजय आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने 'अष्ट-सहस्री' जैसे दिगम्बर-ग्रन्थो पर टीकाएँ लिखी हैं वैसे ही गणी यशोविजय ने भी तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धिमान्य दिगम्बर सूत्रपाठ पर मात्र सूत्रों का अर्थपूरक टिप्पण लिखा है और टिप्पण लिखते हुए उन्होने जहाँ-जहाँ श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद या मतविरोध आता है वहाँ सर्वत्र श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ही अर्थ किया है। सूत्रपाठ दिगम्बर होते हुए भी अर्थ श्वेताम्बरीय है।

(२) अब तक तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती में टिप्पण लिखनेवालों में प्रस्तुत यशोविजय गणी ही प्रथम माने जाते हैं, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती मे और किसी का कुछ लिखा हुआ अभी तक जानकारी में नही आया।

गणी यशोविजयजी के श्वेताम्बर होने की बात तो निश्चित है, क्योंकि टिप्पण के अन्त में ऐसा उल्लेख है,[1] और दूसरा सबल प्रमाण तो उनका बालावबोध-टिप्पण ही है। सूत्र का पाठभेद[2] और दिगम्बरीय

---

१. "इति श्वेताम्बराचार्यश्रीउमास्वामिगण (णि) कृततत्त्वार्थसूत्र तस्य बालावबोध श्रीयशोविजयगणिकृत· समाप्त.।"—प्रवर्तक श्री कान्तिविजय के शास्त्र-सग्रह की लिखित टिप्पणी की पुस्तक।

२ इसे स्वीकार करने में अपवाद भी है जो कि बहुत थोड़ा है। उदाहरणार्थ अध्याय ४ का १९ वाँ सूत्र इन्होंने दिगम्बर सूत्रपाठ से नही लिया, क्योकि

सूत्रों की संख्या स्वीकार करते पर भी अर्थ उन्होंने दिगम्बर परम्परा के अनुकूल कहीं नही किया। हाँ, यहाँ एक प्रश्न होता है कि श्वेताम्बर होते हुए भी यशोविजयजी ने दिगम्बर सूत्रपाठ क्यों लिया? क्या वे श्वेताम्बर सूत्रपाठ से परिचित नही थे, या परिचित होने पर भी उन्हे दिगम्बर सूत्रपाठ मे ही श्वेताम्बर सूत्रपाठ की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिखाई दिया? इसका उत्तर यही उचित जान पडता है कि वे श्वेताम्बर सूत्रपाठ से परिचित तो अवश्य ही होगे और उनकी दृष्टि मे उसी पाठ का महत्त्व भी होगा, क्योकि वैसा न होता तो वे श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार टिप्पणी लिखते ही नही। ऐसा होने पर भी दिगम्बर सूत्रपाठ ग्रहण करने का कारण यह होना चाहिए कि जिस सूत्रपाठ के आधार पर सभी दिगम्बर विद्वान् हजार वर्ष से दिगम्बर परम्परा के अनुसार ही श्वेताम्बर आगमो से विपरीत अर्थ करते आए हैं उसी सूत्रपाठ से श्वेताम्बर परम्परा के ठीक अनुकूल अर्थ निकालना और करना बिलकुल शक्य तथा संगत है, ऐसी छाप दिगम्बर पक्ष पर डालना और साथ ही श्वेताम्बर अभ्यासियो को दर्शाना कि दिगम्बर या श्वेताम्बर चाहे जो सूत्रपाठ लो, पाठभेद होते हुए भी अर्थ तो एक ही प्रकार का निकलता है और वह श्वेताम्बर परम्परा के अनुकूल ही है—दिगम्बर सूत्रपाठ से चौंकने की या उसे विरोधी पक्ष का समझकर फेंक देने की कोई आवश्यकता नही। चाहे तो भाष्यमान्य सूत्रपाठ सीखें या सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ याद करें। तत्त्व दोनो मे एक ही है। इस तरह एक ओर दिगम्बर विद्वानों को यह बतलाने के लिए कि उनके सूत्रपाठ में से सरलतापूर्वक सत्य अर्थ क्या निकल सकता है और दूसरी ओर श्वेताम्बर अभ्यासियों को पक्षभेद के कारण दिगम्बर सूत्रपाठ से न चौंके यह समझाने के उद्देश्य से ही इन यशोविजयजी ने दिगम्बर सूत्रपाठ पर टिप्पणी लिखी हो ऐसा जान पड़ता है।

(ञ) पूज्यपाद

पूज्यपाद का मूल नाम देवनन्दी है। ये विक्रम की पाँचवी-छठी शताब्दी मे हुए हैं। इन्होने व्याकरण आदि अनेक विषयो पर ग्रन्थ लिखे

दिगम्बर परम्परा सोलह स्वर्ग मानती है इसलिए इन्होने यहाँ बारह स्वर्गों के नामवाला श्वेताम्बर सूत्र लिया है।

१. देखें—सर्वार्थसिद्धि, २. ५३; ९. ११ और १०.९।

है, जिनमें से कुछ तो उपलब्ध हैं और कुछ अभी तक मिले नही।[1] दिगम्बर व्याख्याकारो मे पूज्यपाद से पहले केवल शिवकोटि[2] के ही होने की सूचना मिलती है। इन्ही पूज्यपाद की दिगम्बरत्व-समर्थक 'सर्वार्थसिद्धि' नामक तत्त्वार्थव्याख्या बाद में सम्पूर्ण दिगम्बर विद्वानो के लिए आधार-भूत बनी है।

(ट) भट्ट अकलङ्क

भट्ट अकलङ्क विक्रम की सातवी-आठवी शताब्दी के विद्वान् है। 'सर्वार्थसिद्धि' के बाद तत्त्वार्थ पर इनकी ही व्याख्या मिलती है जो 'राजवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध है। ये जैन-न्याय के प्रस्थापक विशिष्ट गण्यमान्य विद्वानों मे से एक है। इनकी कितनी ही कृतियां उपलब्ध हैं जो जैनन्याय के प्रत्येक अभ्यासी के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।[3]

(ठ) विद्यानन्द

विद्यानन्द विक्रम की नवीं-दसवी शताब्दी के विद्वान् है। इनकी कितनी ही कृतियां उपलब्ध हैं।[4] ये भारतीय दर्शनो के विशिष्ट ज्ञाता थे और इन्होंने तत्त्वार्थ पर 'श्लोकवार्तिक' नामक पद्यबद्ध विस्तृत व्याख्या लिखकर कुमारिल जैसे प्रसिद्ध मीमांसक ग्रन्थकारो की स्पर्द्धा की और जैनदर्शन पर किए गए मीमासकों के प्रचण्ड आक्रमण का सबल उत्तर दिया।

(ड) श्रुतसागर

'श्रुतसागर' नामक दिगम्बर सूरि १६वी शताब्दी के विद्वान् हैं। इन्होने तत्त्वार्थ पर टीका लिखी है। इनकी अन्य कई रचनाएँ हैं।[5]

---

१. देखें—जैन साहित्य संशोधक, प्रथम भाग, पृ० ८३।

२. शिवकोटिकृत तत्त्वार्थ-व्याख्या, उसके अवतरण आदि आज उपलब्ध नही है। उन्होंने तत्त्वार्थ पर कुछ लिखा था, ऐसी सूचना कुछ अर्वाचीन शिला-लेखों की प्रशस्तियो से मिलती है। शिवकोटि समन्तभद्र के शिष्य थे, ऐसी मान्यता है। देखें—स्वामी समन्तभद्र, पृ० ९६।

३. देखें—न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना।

४. देखें—अष्टसहस्री एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की प्रस्तावना।

५. देखें—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित श्रुतसागरी वृत्ति की प्रस्तावना पृ० ९८।

सूत्रों ... देव, लक्ष्मीदेव, योगदेव और अभयनन्दिसूरि आदि
... र विद्वानो ने तत्त्वार्थ पर साधारण सस्कृत व्याख्याएँ
... का मुझे विशेष परिचय नही मिला। इतने संस्कृत व्याख्या-
... तिरिक्त तत्त्वार्थ की हिन्दी आदि भाषाओ मे टीका लिखनेवाले
... दिगम्बर विद्वान् हो गए हैं, जिनमे से कुछ ने तो कन्नड भाषा मे
... एँ लिखी हैं और शेष ने हिन्दी भाषा मे टीकाएँ लिखी हैं।[1]

३. तत्त्वार्थसूत्र

तत्त्वार्थशास्त्र का बाह्य तथा आभ्यन्तर विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए मूल ग्रन्थ के आधार पर नीचे लिखी चार बातो पर विचार किया जाता है—(क) प्रेरक सामग्री, (ख) रचना का उद्देश्य, (ग) रचनाशैली और (घ) विषयवर्णन।

(क) प्रेरक सामग्री

ग्रन्थकार को जिस सामग्री ने 'तत्त्वार्थसूत्र' लिखने की प्रेरणा दी वह मुख्य रूप से चार भागो मे विभाजित की जाती है।

१. आगमज्ञान का उत्तराधिकार—वैदिक दर्शनो मे जैसे वेद वैसे ही जैनदर्शन मे आगम-ग्रन्थ मुख्य प्रमाण माने जाते हैं, दूसरे ग्रन्थो का प्रामाण्य आगम का अनुसरण करने मे ही है। इस आगमज्ञान का पूर्व परम्परा से चला आया उत्तराधिकार वाचक उमास्वाति को समुचित रूप मे मिला था, इसलिए सम्पूर्ण आगमिक विषयों का ज्ञान उन्हें स्पष्ट तथा व्यवस्थित रूप मे था।

२ संस्कृत भाषा—काशी, मगध, बिहार आदि प्रदेशो मे रहने तथा विचरने के कारण और कदाचित्, ब्राह्मणजाति के होने के कारण वाचक उमास्वाति ने अपने समय की प्रधान भाषा सस्कृत का गहरा अध्ययन किया था। ज्ञानप्राप्ति के लिए प्राकृत भाषा के अतिरिक्त सस्कृत भाषा का द्वार ठीक-ठीक खुलने से सस्कृत भाषा के वैदिक दर्शनसाहित्य और बौद्ध दर्शनसाहित्य को जानने का उन्हे अवसर मिला और उस अवसर का पूरा उपयोग करके उन्होने अपने ज्ञानभडार को खूब समृद्ध किया।

---

१ देखे—तत्त्वार्थभाष्य के हिन्दी अनुवाद की श्री नाथूरामजी प्रेमी की प्रस्तावना।

३. दर्शनान्तरों का प्रभाव—संस्कृत भाषा द्वारा वैदिक और बौद्ध साहित्य में प्रवेश करने के कारण उन्होंने तत्कालीन नई-नई रचनाएँ देखीं, उनकी वस्तुओं तथा विचारसरणियों को जाना, उन सबका उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और इसी ने उन्हें जैन साहित्य में पहले से स्थान न पानेवाली संक्षिप्त दार्शनिक सूत्रशैली तथा संस्कृत भाषा में ग्रन्थ लिखने को प्रेरित किया।

४. प्रतिभा—उक्त तीनों हेतुओं के होते हुए भी यदि उनमें प्रतिभा न होती तो तत्त्वार्थ का इस रूप में कभी उद्भव ही न होता। अतः उक्त तीनों हेतुओं के साथ प्रेरक सामग्री में उनकी प्रतिभा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(ख) रचना का उद्देश्य

कोई भी भारतीय शास्त्रकार जब स्वीकृत विषय पर शास्त्र-रचना करता है तब वह अपने विषयनिरूपण के अन्तिम उद्देश्य के रूप में मोक्ष को ही रखता है, फिर भले ही वह विषय अर्थ, काम, ज्योतिष या वैद्यक जैसा आधिभौतिक हो अथवा तत्त्वज्ञान और योग जैसा आध्यात्मिक। सभी मुख्य-मुख्य विषयों के शास्त्रों के प्रारम्भ में उस-उस विद्या के अन्तिम फल के रूप में मोक्ष का ही निर्देश हुआ और उपसंहार में भी उस विद्या से मोक्षसिद्धि का कथन किया गया है।

वैशेषिकदर्शन का प्रणेता कणाद प्रमेय की चर्चा करने से पूर्व उस विद्या के निरूपण को मोक्ष का साधनरूप बतलाकर ही उसमें प्रवर्तित होता है।[1] न्यायदर्शन का सूत्रकार गौतम प्रमाणपद्धति के ज्ञान को मोक्ष का द्वार मानकर ही उसके निरूपण में प्रवृत्त होता है।[2] सांख्यदर्शन का निरूपक भी मोक्ष के उपायभूत ज्ञान की पूर्ति के लिए अपनी विश्वोत्पत्ति विद्या का वर्णन करता है।[3] ब्रह्ममीमांसा में ब्रह्म और जगत् का निरूपण भी मोक्ष के साधन की पूर्ति के लिए ही हुआ है। योगदर्शन में योग-क्रिया और अन्य बहुत-सी प्रासंगिक बातों का वर्णन मात्र मोक्ष का उद्देश्य सिद्ध करने के लिए ही है। भक्तिमार्गियों के शास्त्रों का उद्देश्य भी, जिनमें जीव, जगत् और ईश्वर आदि विषयों का वर्णन है, भक्ति की

१. देखें—कणादसूत्र, १. १. ४।
२. देखें—न्यायसूत्र, १. १. १।
३. देखें—ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका, का० २।

पुष्टि द्वारा अन्त मे मोक्ष प्राप्त करना ही है। बौद्ध-दर्शन के क्षणिकवाद का अथवा चार आर्यसत्यो मे समाविष्ट आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विषय के निरूपण का उद्देश्य भी मोक्ष के अतिरिक्त और कुछ नही है। जैनदर्शन के शास्त्र भी इसी मार्ग का अवलम्बन लेकर लिखे गए है। वाचक उमास्वाति ने भी अन्तिम उद्देश्य मोक्ष रखकर ही उसकी प्राप्ति का उपाय सिद्ध करने के लिए निश्चित की हुई सभी वस्तुओ का वर्णन अपने तत्त्वार्थ मे किया है।[1]

(ग) रचना-शैली

पहले से ही जैन आगमो की रचना-शैली बौद्ध पिटको जैसी लम्बे और वर्णनात्मक सूत्रो के रूप मे प्राकृत भाषा मे चली आती थी। दूसरी ओर ब्राह्मण विद्वानो द्वारा संस्कृत भाषा की संक्षिप्त सूत्रो की रचना-शैली धीरे-धीरे बहुत प्रतिष्ठित हो गई थी। इस सस्कृत सूत्र-शैली ने वाचक उमास्वाति को आकर्षित किया और उसी मे उन्हे लिखने की प्रेरणा हुई। जहाँ तक हमारा खयाल है, जैन संप्रदाय मे सस्कृत भाषा मे छोटे-छोटे सूत्रो के रचयिता सर्वप्रथम उमास्वाति ही है। उनके बाद ही यह सूत्रशैली जैन परम्परा मे प्रतिष्ठित हुई और व्याकरण, अलकार, आचार, नीति, न्याय आदि अनेक विषयो पर श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनो विद्वानो ने इस शैली मे सस्कृत भाषाबद्ध ग्रन्थो की रचना की।

उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र कणाद के वैशेषिकसूत्रों की भाँति दस

१ वाचक उमास्वाति को तत्त्वार्थ-रचना की प्रेरणा 'उत्तराध्ययन' के २८वें *अध्ययन* से मिली है, ऐसा ज्ञात होता है। इस *अध्ययन* का नाम 'मोक्षमार्ग' है। इस अध्ययन में मोक्ष के मार्गो को सूचित कर उनके विषय के रूप में जैन तत्त्वज्ञान का अत्यन्त सक्षेप में निरूपण है। इसी वस्तु का उमास्वाति ने विस्तार करके उसमें समग्र आगम के तत्त्वो को गूँथ दिया है। उन्होंने अपने सूत्र-ग्रथ का प्रारम्भ भी मोक्षमार्ग प्रतिपादक सूत्र से ही किया है। दिगम्बर परम्परा में तो तत्त्वार्थसूत्र 'मोक्षशास्त्र' के नाम से ही प्रसिद्ध है। बौद्ध-परम्परा में विशुद्धिमार्ग नामक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसकी रचना पाँचवी सदी के आसपास पालि भाषा मे बुद्धघोष ने की है। इसमें समग्र पालि-पिटको का सार है। इसका पूर्ववर्ती विमुक्तिमार्ग नामक ग्रन्थ भी बौद्ध-परम्परा मे था जिसका अनुवाद चीनी भाषा में मिलता है। विशुद्धिमार्ग और विमुक्तिमार्ग दोनो शब्दो का अर्थ मोक्षमार्ग ही है।

अध्यायो मे विभक्त हैं, जिनकी सख्या ३४४ है, जब कि कणाद के सूत्रों की सख्या ३३३ है। इन अध्यायों मे वैशेषिक आदि सूत्रों के सदृश आह्निक-विभाग अथवा ब्रह्मसूत्र आदि के समान पाद-विभाग नही है। जैन साहित्य मे 'अध्ययन' के स्थान पर 'अध्याय' का आरभ करनेवाले भी उमास्वाति ही है। उनके द्वारा शुरू न किया गया आह्निक और पाद-विभाग भी आगे चलकर उनके अनुयायी अकलंक आदि द्वारा शुरू कर दिया गया है। बाह्य-रचना मे कणादसूत्र के साथ तत्त्वार्थसूत्र का विशेष साम्य होते हुए भी उसमे जानने योग्य एक विशेष अन्तर है, जो जैनदर्शन के परम्परागत मानस पर प्रकाश डालता है। कणाद अपने मंतव्यो को सूत्र मे प्रतिपादित करके उनको साबित करने के लिए अक्षपाद गौतम के सदृश पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष न करते हुए भी उनकी पुष्टि मे हेतुओं का उपन्यास तो बहुधा करते ही हैं, जब कि वाचक उमास्वाति अपने एक भी सिद्धान्त की सिद्धि के लिए कही भी युक्ति, प्रयुक्ति या हेतु नही देते। वे अपने वक्तव्य का स्थापित सिद्धान्त के रूप मे ही कोई भी युक्ति या हेतु दिए बिना अथवा पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष किए बिना ही योगसूत्रकार पतजलि की तरह वर्णन करते चले जाते हैं। उमास्वाति के सूत्रो और वैदिक दर्शनो के सूत्रो की तुलना करते हुए एक छाप मन पर पडती है कि जैन परम्परा श्रद्धा-प्रधान है, वह अपने सर्वज्ञ के वक्तव्य को अक्षरश स्वीकार कर लेती है और उसमे शका-समाधान का अवकाश नही देखती जिसके परिणामस्वरूप सशोधन, परिवर्धन और विकास करने योग्य बुद्धि के अनेक विषय तर्कवाद के युग में भी अचर्चित रह कर मात्र श्रद्धा के आधार पर आज तक टिके हुए हैं।[1] वैदिक दर्शन-परम्परा बुद्धिप्रधान होकर अपने माने हुए सिद्धान्तो की परीक्षा करती है, उसमे शका-समाधानपरक चर्चा करती है और बहुत बार तो पहले से माने गए सिद्धान्तों को तर्कवाद से उलट कर नए सिद्धान्तो की स्थापना करती है अथवा उनमें सशोधन-परिवर्धन करती है। सारांश यह है कि जैन परम्परा ने विरासत मे प्राप्त तत्त्वज्ञान और आचार को बनाए रखने में जितनी रुचि ली है उतनी नूतन सर्जन मे नही ली।

१ सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि अनेक धुरंधर तार्किकों द्वारा किया हुआ तर्कविकास और तार्किक चर्चा भारतीय विचार के विकास में विशिष्ट स्थान रखती है, इस बात से इनकार नही किया जा सकता, फिर भी प्रस्तुत कथन गौण-प्रधान भाव और दृष्टिभेद की अपेक्षा से ही है। तत्त्वार्थसूत्रो और उपनिषदों आदि को

(घ) विषय-वर्णन

विषय का चुनाव—कितने ही दर्शनो मे विषय का वर्णन ज्ञेय-मीमासा-प्रधान है, जैसे कि वैशेपिक, साख्य और वेदान्तदर्शन मे। वैशेषिकदर्शन अपनी दृष्टि से जगत् का निरूपण करते हुए उसमे मूल द्रव्य कितने है, कैसे है और उनसे सम्बन्धित दूसरे पदार्थ कितने तथा कैसे हैं, इत्यादि का वर्णन करके मुख्य रूप से जगत् के प्रमेयो की ही मीमासा करता है। साख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष का वर्णन करके प्रधान रूप से जगत् के मूलभूत प्रमेय तत्त्वों की ही मीमासा करता है। वेदान्तदर्शन भी जगत् के मूलभूत ब्रह्मतत्त्व की ही मीमांसा प्रधान रूप से करता है। परन्तु कुछ दर्शनो मे चारित्र की मीमासा मुख्य है, जैसे कि योग और बौद्ध-दर्शन मे। जीवन की शुद्धि क्या है, वह कैसे साध्य है, उसमे कौन-कौन बाधक हैं इत्यादि जीवन-सम्बन्धी प्रश्नो का हल योगदर्शन ने हेय (दु:ख), हेयहेतु (दु ख का कारण), हान (मोक्ष) और हानोपाय (मोक्ष का कारण) इस चतुर्व्यूह का निरूपण करके और बौद्ध-दर्शन ने चार आर्यसत्यो का निरूपण करके किया है। अर्थात् पहले दर्शनविभाग का विषय ज्ञेयतत्त्व और दूसरे दर्शनविभाग का चारित्र है।

भगवान् महावीर ने अपनी मीमासा मे ज्ञेयतत्त्व और चारित्र को समान स्थान दिया है। इस कारण उनकी तत्त्वमीमासा एक ओर जीव-अजीव के निरूपण द्वारा जगत् के स्वरूप का वर्णन करती है और दूसरी ओर आस्रव, संवर आदि तत्त्वो का वर्णन करके चारित्र का स्वरूप दरसाती है। उनकी तत्त्वमीमांसा का अर्थ है ज्ञेय और चारित्र का

लीजिए। तत्त्वार्थ के व्याख्याकार धुरंधर तार्किक होते हुए भी और सम्प्रदाय-भेद मे विभक्त होते हुए भी जो चर्चा करते हैं और तर्क का प्रयोग करते हैं वह सब पहले से स्थापित जैनसिद्धान्त को स्पष्ट करने अथवा उसका समर्थन करने के लिए ही। इनमें से किसी व्याख्याकार ने नया विचारसर्जन नही किया या श्वेताम्बर-दिगम्बर की तात्त्विक मान्यता में कुछ भी अन्तर नही डाला। दूसरी ओर उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के व्याख्याकार तर्क के जोर पर यहाँ तक स्वतन्त्र चर्चा करते है कि उनके बीच तात्त्विक मान्यता में पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर खडा हो गया है। इसमें क्या गुण और क्या दोष है, यह वक्तव्य नही, वक्तव्य केवल वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है। सापेक्ष होने से गुण और दोष दोनों परम्पराओं में हो सकते हैं और नही भी हो सकते हैं।

समान रूप से विचार। इस मीमांसा में भगवान् ने नौ तत्त्वों को रखकर इनके प्रति अचल श्रद्धा को जैनत्व की प्राथमिक शर्त मानकर उनका वर्णन किया है। त्यागी या गृहस्थ कोई भी महावीर के मार्ग का अनुयायी तभी माना जा सकता है जब कि वह इन पर श्रद्धा रखता हो, अर्थात् 'जिनकथित ये तत्त्व ही सत्य हैं' ऐसी रुचि-प्रतीतिवाला हो, फिर चाहे इन नौ तत्त्वों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त न भी किया हो। इस कारण जैन दर्शन मे नौ तत्त्वों के जैसा महत्त्व अन्य किसी विषय का नही है। इस वस्तुस्थिति के कारण ही वा० उमास्वाति ने अपने प्रस्तुत शास्त्र के विषय के रूप मे इन नौ तत्त्वो को उपयुक्त समझा और इन्ही का वर्णन सूत्रो मे सात संख्या द्वारा करके उन सूत्रो के विषयानुरूप 'तत्त्वार्थाधिगम' नाम दिया। उमास्वाति ने नौ तत्त्वो की मीमासा में ज्ञेयप्रधान और चारित्रप्रधान दोनो दर्शनो का समन्वय देखा, तो भी उन्होने उसमें अपने समय मे विशेष चर्चाप्राप्त प्रमाण-मीमासा के निरूपण की उपयोगिता अनुभव की। इस प्रकार उन्होने अपने ग्रन्थ को अपने ध्यान में आनेवाली सभी मीमासाओ से परिपूर्ण करने के लिए नौ तत्त्वो के अतिरिक्त ज्ञान-मीमासा को विषय के रूप में स्वीकार करके तथा न्यायदर्शन की प्रमाणमीमासा के स्थान पर जैन ज्ञानमीमासा बतलाने की अपने ही सूत्रो में योजना की। इस तरह समुच्चय रूप मे कहना चाहिए कि उमास्वाति ने अपने सूत्र के विषय के रूप मे ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीनो मीमासाओ को जैन दृष्टि के अनुसार अपनाया है।

विषय का विभाजन—तत्त्वार्थ के वर्ण्य विषय को उमास्वाति ने दस अध्यायो मे इस प्रकार से विभाजित किया है—पहले अध्याय मे ज्ञान की, दूसरे से पाँचवें तक चार अध्यायो मे ज्ञेय की और छठे से दसवें तक पाँच अध्यायों में चारित्र की मीमासा। यहाँ उक्त तीनो मीमासाओ की क्रमश. मुख्य व सारभूत बातें देकर प्रत्येक की दूसरे दर्शनो के साथ सक्षेप मे तुलना की जाती है।

ज्ञानमीमांसा की सारभूत बातें—पहले अध्याय मे ज्ञान से सम्बन्धित मुख्य आठ बातें इस प्रकार हैं—१. नय और प्रमाण रूप से ज्ञान का विभाजन। २. मति आदि आगम-प्रसिद्ध पाँच ज्ञान और उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष दो प्रमाणो मे विभाजन। ३. मतिज्ञान की उत्पत्ति के साधन, उनके भेद-प्रभेद और उनकी उत्पत्ति के क्रमसूचक प्रकार। ४. जैन-परम्परा मे प्रमाण माने गए आगम-शास्त्र का श्रुतज्ञान के रूप में वर्णन।

५. अवधि आदि तीन दिव्य प्रत्यक्ष और उनके भेद-प्रभेद तथा पारस्परिक अन्तर। ६ पाँचो ज्ञानो का तारतम्य बतलाते हुए उनका विषय-निर्देश और उनकी एक साथ शक्यता। ७. कुछ ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकते है तथा ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता के कारण। ८. नय के भेद-प्रभेद।

तुलना—ज्ञानमीमासा की ज्ञानचर्चा 'प्रवचनसार' के ज्ञानाधिकार जैसी तर्कपुरस्सर और दार्शनिक शैली की नही, बल्कि नन्दीसूत्र की ज्ञानचर्चा जैसी आगमिक शैली की होकर ज्ञान के सम्पूर्ण भेद-प्रभेदो का तथा उनके विषयो का मात्र वर्णन करनेवाली और ज्ञान अज्ञान के बीच का भेद बतानेवाली है। इसमे अवग्रह, ईहा आदि लौकिक ज्ञान की उत्पत्ति का जो क्रम[1] है वह न्यायशास्त्र[2] की निर्विकल्प-सविकल्प ज्ञान की और बौद्ध अभिधम्मत्थसगहो[3] की ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया का स्मरण कराता है। अवधि आदि तीन दिव्य प्रत्यक्ष ज्ञानो[4] का जो वर्णन है वह वैदिक[5] और बौद्धदर्शन के सिद्ध, योगी तथा ईश्वर के ज्ञान का स्मरण कराता है। दिव्य ज्ञान मे वर्णित मन.पर्याय का निरूपण योगदर्शन[6] और बौद्धदर्शन[7] के परचित्तज्ञान का स्मरण दिलाता है। प्रत्यक्षपरोक्ष रूप से प्रमाणो का विभाजन[8] वैशेषिक और बौद्धदर्शन में वर्णित दो प्रमाणो का[9], साख्य और योगदर्शन मे वर्णित तीन प्रमाणो का,[10] न्यायदर्शन मे प्ररूपित चार प्रमाणो का[11] और मीमासादर्शन मे प्रतिपादित छ· आदि

१ तत्त्वार्थ, १५–१९।

२. देखें—मुक्तावली, का० ५२ से आगे।

३ परिच्छेद ४, पैरेग्राफ ८ से आगे।

४. तत्त्वार्थ, १. २१–२६ और ३०।

५ प्रशस्तपादकंदली, पृ० १८७।

६ योगदर्शन, ३. १९।

७. अभिधम्मत्थसंगहो, परि० ९, पैरेग्राफ २४ और नागार्जुन का धर्म-संग्रह, पृ० ४।

८. तत्त्वार्थ, १. १०-१२।

९. प्रशस्तपादकदली, पृ० २१३, पं० १२ और न्यायबिन्दु, १. २।

१०. ईश्वरकृष्णकृत साख्यकारिका, का० ४ और योगदर्शन १ ७।

११. न्यायसूत्र, १. १ ३।

प्रमाणों[1] का समन्वय है। इस ज्ञानमीमांसा में ज्ञान-अज्ञान[2] का जो विवेक है वह न्यायदर्शन की यथार्थ-अयथार्थ बुद्धि[3] तथा योगदर्शन के प्रमाण और विपर्यय के विवेक[4] जैसा है। इसमें नय[5] का जैसा स्पष्ट निरूपण है वैसा दर्शनान्तर मे कहीं भी नही है। संक्षेप मे कह सकते हैं कि वैदिक तथा बौद्ध दर्शन में वर्णित प्रमाणमीमासा के स्थान पर जैन-दर्शनसम्मत मान्यता को प्रस्तुत ज्ञानमीमासा में उमास्वाति ने ब्योरेवार प्रतिपादित किया है।

ज्ञेयमीमांसा की सारभूत बातें—ज्ञेयमीमांसा में जगत् के मूलभूत जीव और अजीव इन दो तत्त्वों का वर्णन है, जिनमें से मात्र जीव तत्त्व की चर्चा दो से चार तक के तीन अध्यायो में है। दूसरे अध्याय मे जीव-तत्त्व के सामान्य स्वरूप के अतिरिक्त संसारी जीवों के अनेक भेद-प्रभेदो का और उनसे सम्बन्धित अनेक बातों का वर्णन है। तीसरे अध्याय में अधोलोकवासी नारकों व मध्यलोकवासी मनुष्यो तथा तिर्यंचों (पशु-पक्षी आदि) का वर्णन होने से उनसे सम्बन्धित अनेक बातों के साथ नरकभूमि एव मनुष्यलोक का सम्पूर्ण भूगोल आ जाता है। चौथे अध्याय में देव-सृष्टि का वर्णन होने से उसमे खगोल के अतिरिक्त अनेक प्रकार के दिव्यधामो एव उनकी समृद्धि का वर्णन है। पाँचवें अध्याय मे प्रत्येक द्रव्य के गुणधर्म का सामान्य स्वरूप बतलाकर साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा द्रव्य मात्र की विस्तृत चर्चा है।

ज्ञेयमीमासा में मुख्य सोलह बातें आती हैं, जो इस प्रकार हैं :

दूसरे अध्याय में—१. जीव तत्त्व का स्वरूप। २ संसारी जीव के भेद। ३. इन्द्रिय के भेद-प्रभेद, उनके नाम, उनके विषय और जीवराशि में इद्रियों का विभाजन। ४. मृत्यु और जन्म के बीच की स्थिति। ५. जन्मों के और उनके स्थानों के भेद तथा उनका जाति की दृष्टि से विभाजन। ६. शरीर के भेद, उनका तारतम्य, उनके स्वामी और एक साथ उनकी शक्यता। ७. जातियो का लिंग-विभाजन और न टूटनेवाले आयुष्य को भोगनेवालों का निर्देश। तीसरे व चौथे अध्याय में—८. अधोलोक के

१. शाबर-भाष्य, १. ५।

२. तत्त्वार्थ, १. ३३।

३. तर्कसग्रह—बुद्धिनिरूपण।

४. योगसूत्र, १ ६।

५. तत्त्वार्थ, १. ३४-३५।

विभाग, उसमें रहनेवाले नारक-जीव और उनकी दशा तथा आयुमर्यादा आदि। ९. द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र आदि द्वारा मध्यलोक का भौगोलिक वर्णन तथा उसमे रहनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जीवन-काल। १० देवो की विविध जातियाँ, उनके परिवार, भोग-स्थान, समृद्धि, जीवनकाल और ज्योतिर्मण्डल अर्थात् खगोल का वर्णन। पाँचवें अध्याय में—११ द्रव्य के भेद, उनका परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य, उनका स्थितिक्षेत्र और प्रत्येक का कार्य। १२. पुद्गल का स्वरूप, उसके भेद और उत्पत्ति के कारण। १३ सत् और नित्य का सहेतुक स्वरूप। १४. पौद्गलिक बन्ध की योग्यता और अयोग्यता। १५. द्रव्य-सामान्य का लक्षण, काल को द्रव्य माननेवाला मतान्तर और उसकी दृष्टि से काल का स्वरूप। १६. गुण और परिणाम के लक्षण और परिणाम के भेद।

तुलना—इनमें से अनेक बातें आगमो तथा प्रकरण ग्रन्थो में हैं, परन्तु वे सभी इस ग्रन्थ की तरह सक्षेप मे संकलित और एक ही स्थल पर न होकर बिखरी हुई हैं। 'प्रवचनसार' के ज्ञेयाधिकार मे और 'पंचास्तिकाय' के द्रव्याधिकार में ऊपर उल्लिखित पाँचवें अध्याय के ही विषय हैं, परन्तु उनका निरूपण इस ग्रन्थ से भिन्न पड़ता है। पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में तर्कपद्धति तथा विस्तार है, जब कि पाँचवें अध्याय में सक्षिप्त तथा सीधा वर्णन है।

ऊपर दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय की जो सारभूत बाते दी हैं वैसा अखण्ड, व्यवस्थित और सागोपांग वर्णन किसी भी ब्राह्मण या बौद्ध मूल दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थ मे दिखाई नही देता। बादरायण ने अपने ब्रह्म-सूत्र के तीसरे एव चौथे अध्याय में जो वर्णन दिया है वह उक्त दूसरे, तीसरे एव चौथे अध्याय की कितनी ही बातो के साथ तुलना के योग्य है; क्योकि इसमे मरण के बाद की स्थिति, उत्क्रांति, भिन्न-भिन्न जातियो के जीव, भिन्न-भिन्न लोक और उनके स्वरूप का वर्णन है।[1]

दूसरे अध्याय में जीव का लक्षण उपयोग[2] कहा गया है, वह आत्म-वादी सभी दर्शनो द्वारा स्वीकृत उनके ज्ञान या चैतन्य लक्षण से भिन्न नही है। वैशेषिक और न्यायदर्शन के इन्द्रियवर्णन की अपेक्षा तत्त्वार्थ के दूसरे अध्याय का इन्द्रियवर्णन[3] भिन्न दिखाई देते हुए भी उसके इन्द्रिय-

१ देखें—हिन्द तत्त्वज्ञाननो इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० १६२ तथा आगे।

२. तत्त्वार्थ, २ ८।

३. तत्त्वार्थ, २ १५-२१।

सम्बन्धी भेद, उनके नाम और प्रत्येक का विषय न्याय[1] तथा वैशेषिक दर्शन के साथ लगभग शब्दश समान हैं। वैशेषिक दर्शन[2] में जो पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय शरीरो का वर्णन है तथा साख्यदर्शन[3] में जो सूक्ष्म लिंग और स्थूल शरीर का वर्णन है वह तत्त्वार्थ[4] के शरीर-वर्णन से भिन्न दिखाई देते हुए भी वास्तव मे एक ही अनुभव के भिन्न पहलुओ (पार्श्वों) का सूचक है। तत्त्वार्थ[5] में जो बीच में टूट सके और न टूट सके ऐसी आयु का वर्णन है और उसकी जो उपपत्ति बतलाई गई है उसका योगसूत्र[6] और उसके भाष्य के साथ शब्दश. साम्य है। तत्त्वार्थ के तीसरे तथा चौथे अध्याय मे प्रतिपादित भूगोलविद्या का किसी भी दूसरे दर्शन के सूत्रकार ने स्पर्श नही किया। ऐसा होते हुए भी योगसूत्र ३.२६ के भाष्य मे नरकभूमियो का, उनके आधारभूत घन, सलिल, वात, आकाश आदि तत्त्वो का, उनमें रहनेवाले नारको का, मध्यलोक का, मेरु का, निषध, नील आदि पर्वतों का, भरत, इलावृत्त आदि क्षेत्रों का, जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि द्वीपसमुद्रों का, ऊर्ध्वलोक-सम्बन्धी विविध स्वर्गों का, उनमे रहनेवाली देवजातियों का, उनकी आयु का, उनके स्त्री, परिवार आदि भोगो का और रहन-सहन का जो विस्तृत वर्णन है वह तत्त्वार्थ के तीसरे एवं चौथे अध्याय की त्रैलोक्य-प्रज्ञप्ति की अपेक्षा न्यून प्रतीत होता है। इसी प्रकार बौद्ध-ग्रंथो[7] मे वर्णित द्वीप, समुद्र, पाताल, शीत-उष्ण, नारक और विविध देवो का वर्णन भी तत्त्वार्थ की त्रैलोक्य-प्रज्ञप्ति की अपेक्षा सक्षिप्त ही है। फिर भी इन वर्णनों का शब्दसाम्य और विचार-पद्धति की समानता देखकर आर्य-दर्शनों की विभिन्न शाखाओं का एक मूल शोधने की प्रेरणा मिलती है।[8]

---

१ न्यायसूत्र, १ १ १२ और १४।

२. देखें—तर्कसग्रह में पृथ्वी से वायु तक का निरूपण।

३. साख्यकारिका, का० ४० से ४२।

४. तत्त्वार्थ, २. ३७-४९।

५ तत्त्वार्थ, २. ५२।

६ योगसूत्र, ३.२२, विस्तार के लिए देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० [illegible]।

७ धर्मसंग्रह, पृ० २९-३१ तथा अभिधम्मत्थसंगहो, परि० ५ पैरा ३ से आगे।

८ तत्त्वार्थ की श्रुतसागरकृत वृत्ति की प्रस्तावना (पृ० ८६) में प० महेन्द्रकुमार ने बौद्ध, वैदिक आदि ग्रन्थो से लोक का जो विस्तृत वर्णन उद्धृत किया है वह पुरातन भूगोल-खगोल के जिज्ञासुओ के देखने योग्य है।

Jain Vishva Bharati
22250
Accn No

पाँचवें अध्याय की वस्तु, शैली और परिभाषा का दूसरे दर्शनों की अपेक्षा वैशेषिक और सांख्य दर्शनों के साथ अधिक साम्य है। इसका षड्-द्रव्यवाद वैशेषिक दर्शन[1] के षट्पदार्थवाद की याद दिलाता है। इसमें प्रयुक्त साधर्म्य-वैधर्म्यवाली शैली वैशेषिक दर्शन[2] के प्रतिबिम्ब जैसी भासित होती है। यद्यपि धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय[3] इन दो द्रव्यों की कल्पना दूसरे किसी दर्शनकार ने नही की और जैन दर्शन का आत्म-स्वरूप[4] भी दूसरे सभी दर्शनो की अपेक्षा भिन्न प्रकार का है, तो भी आत्मवाद और पुद्गलवाद से सम्बन्धित बहुत-सी बातो का वैशेषिक, सांख्य आदि के साथ अधिक साम्य है। जैन दर्शन[5] की तरह न्याय, वैशेषिक[6], सांख्य[7] आदि दर्शन भी आत्मबहुत्ववादी ही हैं। जैन दर्शन का पुद्गलवाद[8] वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद[9] और सांख्य दर्शन के प्रकृति-वाद[10] के समन्वय का भान कराता है, क्योकि इसमे आरंभ और परिणाम उभयवाद का स्वरूप आता है। एक ओर तत्त्वार्थ मे कालद्रव्य को मानने-वाले मतान्तर[11] का उल्लेख और दूसरी ओर उसके निश्चित रूप से निर्दिष्ट लक्षणों[12] से ऐसा मानने को जी चाहता है कि जैन तत्त्वज्ञान के व्यवस्थापकों के ऊपर कालद्रव्य के विषय मे वैशेषिक[13] और सांख्य दोनो दर्शनों के मन्तव्य की स्पष्ट छाप है, क्योकि वैशेषिक दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानता है, जब कि सांख्य दर्शन नही मानता। तत्त्वार्थ मे

---

१. वैशेषिकसूत्र, १. १. ४।

२. प्रशस्तपाद, पृ० १६ तथा आगे।

३. तत्त्वार्थ, ५. १ और ५ १७, विशेष विवरण के लिए देखें—जैन साहित्य संशोधक, खण्ड ३, अङ्क १ तथा ४।

४. तत्त्वार्थ, ५ १५-१६।

५. तत्त्वार्थ, ५. २।

६. व्यवस्थातो नाना— ३ २ २०।

७ पुरुषबहुत्वं सिद्धम् सांख्यकारिका, का० १८।

८. तत्त्वार्थ, ५. २३-२८।

९. देखें—तर्कसंग्रह, पृथ्वी आदि भूतों का निरूपण।

१०. सांख्यकारिका, का० २२ से आगे।

११. तत्त्वार्थ, ५. ३८।

१२. तत्त्वार्थ, ५. २२।

१३. २. २. ६।

वर्णित कालद्रव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व-नास्तित्व विषयक दोनों पक्ष, जो आगे चलकर दिगम्बर[1] और श्वेताम्बर भिन्न-भिन्न मान्यता के रूप मे विभाजित हो गए है, पहले से ही जैन दर्शन मे होगे या उन्होने वैशेषिक और साख्य दर्शन के विचार-सघर्ष के परिणामस्वरूप किसी समय जैन दर्शन मे स्थान प्राप्त किया, यह शोध का विषय है। परन्तु एक बात तो स्पष्ट है कि मूल तत्त्वार्थ और उसकी व्याख्याओ[2] मे काल के लिंगो का प्रतिपादन वैशेषिक सूत्रों के साथ शब्दश मिलता-जुलता है। सत् और नित्य की तत्त्वार्थगत व्याख्या साख्य और योग दर्शन के साथ साहृश्य रखती है। इनमे वर्णित परिणामिनित्य का स्वरूप तत्त्वार्थ के सत् और नित्य के साथ शब्दश· मिलता है। वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं मे द्रव्यारम्भ की जो योग्यता[3] वर्णित है वह तत्त्वार्थ मे वर्णित पौद्गलिक बन्ध (द्रव्यारम्भ) की योग्यता[4] की अपेक्षा अलग प्रकार की है। तत्त्वार्थ[5] की द्रव्य और गुण की व्याख्या का वैशेषिक दर्शन[6] की व्याख्या के साथ अधिक साहृश्य है। तत्त्वार्थ और सांख्य-योग की परिणाम-सम्बन्धी परिभाषा समान है। तत्त्वार्थ का द्रव्य, गुण और पर्याय के रूप मे सत् पदार्थ का विवेक साख्य के सत् और परिणामवाद की तथा वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण और कर्म को मुख्य सत् मानने की प्रवृत्ति का स्मरण दिलाता है।

चारित्रमीमासा की सारभूत बातें—जीवन मे कौन-कौन-सी प्रवृत्तियाँ हेय हैं, इनका मूल बीज क्या है, हेय प्रवृत्तियो का सेवन करनेवालों के जीवन का परिणाम क्या होता है, हेय प्रवृत्तियो का त्याग शक्य हो तो वह किन-किन उपायो से सम्भव है और इनके स्थान पर किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ अगीकार की जाएँ, उनका जीवन मे क्रमश· और अन्त मे क्या परिणाम आता है—ये सब विचार छठे से दसवें अध्याय तक की चारित्र-मीमासा मे आते है। ये सब विचार जैन दर्शन की बिलकुल अलग परिभाषा और साम्प्रदायिक प्रणाली के कारण मानो किसी भी दर्शन के साथ

---

१ देखें—कुन्दकुन्द के प्रवचनसार और पचास्तिकाय का कालनिरूपण तथा सर्वार्थसिद्धि, ५. ३९।

२. देखें—भाष्यवृत्ति, ५. २२ और प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० १०।

३. प्रशस्तपाद, वायुनिरूपण, पृ० ४८।

४. तत्त्वार्थ, ५ ३२-३५।

५ तत्त्वार्थ, ५, ३७ और ४०।

६. प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० १०-११।

साम्य नहीं रखते, ऐसा आपाततः भास होता है, तो भी बौद्ध या योग दर्शन के सूक्ष्म अध्येता को यह ज्ञात हुए बिना नही रहता कि जैन चारित्रमीमांसा का विषय चारित्र-प्रधान उक्त दो दर्शनो के साथ अधिक से अधिक और अद्भुत रूप से साम्य रखता है। यह साम्य भिन्न-भिन्न शाखाओ मे विभाजित, विभिन्न परिभाषाओ मे संगठित और उन-उन शाखाओं मे न्यूनाधिक विकास-प्राप्त परन्तु मूल मे आर्य जाति के एक ही आचारदाय—आचारविषयक उत्तराधिकार का भान कराता है।

चारित्रमीमांसा की मुख्य बातें ग्यारह हैं : छठे अध्याय में—१. आस्रव का स्वरूप, उसके भेद तथा किस-किस प्रकार के आस्रवसेवन से कौन-कौन से कर्म बँधते हैं, इसका वर्णन है। सातवें अध्याय मे—२ व्रत का स्वरूप, व्रत लेनेवाले अधिकारियों के भेद और व्रत की स्थिरता के मार्ग का वर्णन है, ३. हिंसा आदि दोषो का स्वरूप, ४ व्रत में सभाव्य दोष, ५. दान का स्वरूप और उसके तारतम्य के हेतु का वर्णन है। आठवें अध्याय में—६. कर्मबन्ध के मूलहेतु और कर्मबन्ध के भेद हैं। नवें अध्याय मे—७. सवर और उसके विविध उपाय तथा उसके भेद-प्रभेद, ८. निर्जरा और उसका उपाय, ९. भिन्न-भिन्न अधिकारवाले साधक और उनकी मर्यादा का तारतम्य दर्शाया है। दसवे अध्याय में—१० केवल-ज्ञान के हेतु और मोक्ष का स्वरूप तथा ११. मुक्ति प्राप्त करनेवाली आत्मा को किस रीति से कहाँ गति होती है, इसका वर्णन है।

तुलना—तत्त्वार्थ की चारित्रमीमांसा प्रवचनसार के चारित्र-वर्णन से भिन्न पड़ती है, क्योंकि उसमे तत्त्वार्थ के सदृश आस्रव, संवर आदि तत्त्वों की चर्चा नही है। उसमे तो केवल साधु की दशा का और वह भी दिगम्बर साधु के लिए विशेष अनुकूल दशा का वर्णन है। पंचास्तिकाय और समयसार मे तत्त्वार्थ के सदृश ही आस्रव, सवर, बध आदि तत्त्वो को लेकर चारित्र-मीमासा की गई है, तो भी इन दोनो मे अन्तर यह है कि तत्त्वार्थ के वर्णन मे निश्चय की अपेक्षा व्यवहार का चित्र अधिक खीचा गया है, इसमे प्रत्येक तत्त्व से सम्बन्धित सभी बातें हैं और त्यागी गृहस्थ तथा साधु के सभी प्रकार के आचार तथा नियम वर्णित हैं जो जैनसघ का सगठन सूचित करते हैं, जब कि पचास्तिकाय और समयसार मे वैसा नही है। उनमे तो आस्रव, संवर आदि तत्त्वो की निश्चयगामी तथा उपपत्तिवाली चर्चा है, उनमे तत्त्वार्थ के सदृश जैन गृहस्थ तथा साधु के प्रचलित व्रतों का वर्णन नही है।

योगदर्शन के साथ प्रस्तुत चारित्रमीमांसा की तुलना को जितना अवकाश है उतना ही यह विषय दिलचस्प है, परन्तु यह एक स्वतंत्र लेख का विषय होने से यहाँ उसको स्थान नही, तो भी जिज्ञासुओ का ध्यान खीचने के लिए उनकी स्वतन्त्र तुलनाशक्ति पर विश्वास रखकर नीचे सक्षेप मे तुलना करने योग्य सारभूत बातों की एक सूची दी जाती है :

तत्त्वार्थसूत्र	योगदर्शन
१. कायिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्तिरूप आस्रव (६. १)	१. कर्माशय (२. १२)
२ मानसिक आस्रव (८. १)	२. निरोध के विषयरूप मे ली जानेवाली चित्तवृत्तियाँ (१.६)
३. सकषाय व अकषाय—यह दो प्रकार का आस्रव (६ ५)	३. क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार का कर्माशय (२. १२)
४ सुख दुःखजनक शुभ व अशुभ आस्रव (६ ३-४)	४. सुख-दुःखजनक पुण्य व अपुण्य कर्माशय (२. १४)
५ मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के पाँच हेतु (८ १)	५. अविद्या आदि पाँच बन्धक क्लेश (२ ३)
६ पाँचो मे मिथ्यादर्शन की प्रधानता	६. पाँचों मे अविद्या की प्रधानता (२. ४)
७ आत्मा और कर्म का विलक्षण सम्बन्ध ही बन्ध (८. २-३)	७. पुरुष और प्रकृति का विलक्षण संयोग ही बन्ध (२. १७)
८ बन्ध ही शुभ-अशुभ हेय विपाक का कारण	८. पुरुष व प्रकृति का संयोग ही हेय दुःख का हेतु (२. १७)
९ अनादि बन्ध मिथ्यादर्शन के अधीन	९. अनादि संयोग अविद्या के अधीन (२. २४)
१०. कर्मो के अनुभागबन्ध का आधार कषाय (६. ५)	१०. कर्मो के विपाकजनन का मूल क्लेश (२. १३)
११ आस्रवनिरोध ही संवर (९ १)	११. चित्तवृत्तिनिरोध ही योग (१.२)
१२ गुप्ति, समिति आदि और विविध तप आदि संवर के उपाय (९ २-३)	१२ यम, नियम आदि और अभ्यास, वैराग्य आदि योग के उपाय (१. १२ से और २. २९ से)

१३. अहिंसा आदि महाव्रत (७.१)	१३. अहिंसा आदि सार्वभौम यम (२ ३०)
१४ हिंसा आदि वृत्तियो मे ऐहिक, पारलौकिक दोपो का दर्शन करके उन्हे रोकना (७. ४)	१४ प्रतिपक्ष भावना द्वारा हिंसा आदि वितर्कों को रोकना (२ -३-३४)
१५. हिंसा आदि दोपो मे दु.खपने की ही भावना करके उन्हे त्यागना (७ ५)	१५ विवेकी की दृष्टि मे सम्पूर्ण कर्माशय दु खरूप (२ १५)
१६ मैत्री आदि चार भावनाएँ (७ ६)	१६. मैत्री आदि चार भावनाएँ[१] (१ ३३)
१७. पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कनिर्विचार आदि चार शुक्ल ध्यान (९ ४१-४६)	१७ सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचाररूप चार संप्रज्ञात समाधियाँ[२] (१. १६ और ४१, ४४)
१८. निर्जरा और मोक्ष (९. ३ और १०. ३)	१८. आंशिकहान–बन्धोपरम और सर्वथाहान[३] (२ २५)
१९ ज्ञानसहित चारित्र ही निर्जरा और मोक्ष का हेतु (१. १)	१९ सागयोगसहित विवेकख्याति ही हान का उपाय (२ २६)
२०. जातिस्मरण, अवधिज्ञानादि दिव्यज्ञान और चारण-विद्यादि लब्धियाँ (१. १२ और १०.७ का भाष्य)	२०. संयमजनित वैसी ही विभूतियाँ[४] (२. ३९ और ३ १६ से आगे)
२१. केवलज्ञान (१०. १)	२१. विवेकजन्य तारक ज्ञान(३ ५४)

इनके अतिरिक्त कितनी ही बातें ऐसी भी है जिनमे से एक बात

---

१ ये चार भावनाएँ बौद्ध परम्परा में 'ब्रह्मविहार' कहलाती है और उन पर बहुत जोर दिया गया है।

२ ध्यान के ये चार भेद बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध है।

३. इसे बौद्धदर्शन में 'निर्वाण' कहते है, जो तीसरा आर्यसत्य है।

४. बौद्धदर्शन में इनके स्थान पर पाँच अभिज्ञाएँ है। देखें—धर्मसंग्रह, पृ० ४ और अभिधर्मत्थसगहो, परिच्छेद ९ पैरा २४।

पर एक दर्शन द्वारा तो दूसरी बात पर दूसरे दर्शन द्वारा जोर दिया गया है, अतः वह बात उस-उस दर्शन के एक विशिष्ट विषय के रूप मे अथवा एक विशेषता के रूप मे प्रसिद्ध हो गई। उदाहरणार्थ कर्म-सिद्धान्त को लीजिए। बौद्ध एवं योग दर्शन[1] मे कर्म के मूल सिद्धान्त तो है ही। योग दर्शन मे तो इन सिद्धान्तो का ब्योरेवार वर्णन भी है, फिर भी कर्म-सिद्धान्त विषयक जैन दर्शन मे एक विस्तृत और गहरा शास्त्र बन गया है वैसा कि दूसरे किसी भी दर्शन मे नही है। इसी कारण चारित्रमीमांसा मे कर्म-सिद्धान्त का वर्णन करते हुए जैनसम्मत सम्पूर्ण कर्मशास्त्र[2] वाचक उमास्वाति ने संक्षेप मे ही समाविष्ट कर दिया है। इसी प्रकार तात्त्विक दृष्टि से चारित्र की मीमांसा जैन, बौद्ध और योग तीनो दर्शनो मे समान होते हुए भी कुछ कारणो से व्यवहार मे अन्तर दिखाई देता है और यह अन्तर ही उस उस दर्शन के अनुगामियो की विशेषता बन गया है। क्लेश और कषाय का त्याग सभी के मत मे चारित्र है, उसे सिद्ध करने के अनेक उपायों में से कोई एक पर तो दूसरा दूसरे पर अधिक जोर देता है। जैन-आचार के संगठन में देह-दमन[3] की प्रधानता दिखाई देती है, बौद्ध-आचार के संगठन मे ध्यान पर जोर दिया गया है और योग दर्शनानुसारी परिव्राजको के आचार के संगठन मे प्राणायाम, शौच आदि पर। यदि मुख्य चारित्र की सिद्धि मे ही देहदमन, ध्यान तथा प्राणायाम आदि का उचित उपयोग हो तब तो इन सबका समान महत्त्व है, परन्तु जब ये बाह्य अंग मात्र व्यवहार की लीक बन जाते है और उनमे से मुख्य चारित्र की सिद्धि की आत्मा निकल जाती है तभी इनमें विरोध की गंध आती है और एक सम्प्रदाय का अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय के आचार की निरर्थकता बतलाने लगता है। बौद्ध साहित्य मे और बौद्ध-अनुगामी वर्ग मे जैनो के देहदमनप्रधान तप की निन्दा[4] दिखाई पड़ती है, जैन साहित्य और जैन-अनुगामी वर्ग मे बौद्धो के सुखशीलवर्तन और ध्यान का तथा परिव्राजको के प्राणायाम व शौच का परिहास[5] दिखाई देता

---

१ देखो—योगसूत्र, २. ३-१४।

२. तत्त्वार्थ, ६. ११-२६ और ८. ४-२६।

३ तत्त्वार्थ, ९. ९; "देहदुक्खं महाफलं"—दशवैकालिक, ८. २७।

४ मज्झिमनिकाय, सुत्त १४।

५. सूत्रकृताङ्ग, अ. ३ उ. ४ गा. ६ की टीका तथा अ ७ गा १४ से आगे।

है। ऐसा होने से उस-उस दर्शन की चारित्रमीमासा के ग्रंथों मे व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित वर्णन का विशेष भिन्न दिखाई देना स्वाभाविक है। यही कारण है कि तत्त्वार्थ की चारित्रमीमासा मे प्राणायाम या शौच विषयक एक भी सूत्र दिखाई नही देता, तथा ध्यान का अधिक वर्णन होते हुए भी उसकी सिद्धि के लिए बौद्ध या योग दर्शन मे वर्णित व्यावहारिक उपाय तत्त्वार्थ में नही है। इसी भाँति तत्त्वार्थ मे परीषह और तप का जैसा विस्तृत तथा व्यापक वर्णन है वैसा योग या बौद्ध दर्शन की चारित्रमीमांसा मे नही दिखाई देता।

इसके अतिरिक्त चारित्रमीमांसा के सम्बन्ध मे एक बात विशेष ध्यान मे रखने जैसी है। उक्त तीनों दर्शनो मे ज्ञान और चारित्र(क्रिया) दोनो का स्थान है, फिर भी जैन दर्शन में चारित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण स्वीकार करके ज्ञान को उसके अंगरूप में स्वीकार किया गया है, जब कि बौद्ध और योग दर्शनों मे ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानकर ज्ञान के अंगरूप में चारित्र को स्थान दिया गया है। यह बात उक्त तीनों दर्शनो के साहित्य तथा उनके अनुयायी-वर्ग के जीवन का बारीकी से अध्ययन करनेवाले को ज्ञात हो जाती है। इस कारण तत्त्वार्थ की चारित्रमीमासा मे चारित्रलक्षी क्रियाओ का और उनके भेद प्रभेदो का अधिक वर्णन स्वाभाविक ही है।

तुलना पूरी करने के पूर्व चारित्र-मीमांसा के अन्तिम साध्य मोक्ष के स्वरूप के विषय मे उक्त दर्शनो की क्या कल्पना है, यह जान लेना भी आवश्यक है। दु.ख के त्याग में से ही मोक्ष की कल्पना उद्भूत होने से सभी दर्शन दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं। न्याय[1], वैशेषिक[2], योग और बौद्ध ये चारों दर्शन ऐसा मानते हैं कि दु ख-नाश के अतिरिक्त मोक्ष में दूसरी कोई भावात्मक वस्तु नही है। अत' उनके अनुसार मोक्ष मे यदि सुख हो तो वह कोई स्वतन्त्र वस्तु नही अपितु उस दु ख के अभाव मे ही पर्यवसित है, जब कि जैन दर्शन वेदान्त की तरह यह मानता है कि मोक्ष-अवस्था मात्र दु'खनिवृत्ति नही बल्कि इसमे विषय-निरपेक्ष स्वाभाविक सुख जैसी स्वतन्त्र वस्तु भी है—मात्र सुख ही नही, उसके अतिरिक्त ज्ञान जैसे अन्य स्वाभाविक गुणो का आविर्भाव जैन दर्शन इस अवस्था मे स्वीकार करता है, जब कि

---

१ देखें—न्यायसूत्र, १. १. २२।

२. देखें—वैशेषिकसूत्र, ५ २ १८।

दूसरे दर्शनों की प्रक्रिया इसे स्वीकार नहीं करती। मोक्ष के स्थान के संबंध में जैन दर्शन का मत सबसे निराला है। बौद्ध दर्शन में तो स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व का स्पष्ट स्थान न होने से मोक्ष के स्थान के संबंध में उसमें में किसी भी विचार-प्राप्ति की आशा को अवकाश नहीं है। सभी प्राचीन वैदिक दर्शन आत्मविभुत्व-वादी होने से उनके मत में मोक्ष के किसी पृथक् स्थान की कल्पना ही नहीं है, परन्तु जैन दर्शन स्वतंत्र आत्मतत्त्व-वादी है, फिर भी आत्मविभुत्व-वादी नहीं है, अतः उसके लिए मोक्ष के स्थान का विचार करना आवश्यक हो गया और यह विचार उसने किया भी है। तत्त्वार्थ के अन्त में वाचक उमास्वाति कहते हैं कि मुक्त हुए जीव हरएक प्रकार के शरीर से छूटकर ऊर्ध्वगामी होकर अन्त में लोक के अग्रभाग में स्थिर होते हैं और सदा वहीं रहते हैं।

४. तत्त्वार्थ की व्याख्याएँ

साम्प्रदायिक व्याख्याओं के विषय में 'तत्त्वार्थाधिगम' सूत्र की तुलना 'ब्रह्मसूत्र' के साथ की जा सकती है। जिस प्रकार बहुत-से विषयों में परस्पर नितान्त भिन्न मत रखनेवाले अनेक आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर व्याख्याएँ[1] लिखी हैं और उन्होंने अपने वक्तव्य को उपनिषदों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने तत्त्वार्थ पर व्याख्याएँ लिखी हैं और उन्होंने परस्पर विरोधी मन्तव्यों को भी आगम के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इससे सामान्य बात इतनी ही सिद्ध होती है कि जैसे वेदान्त-साहित्य में प्रतिष्ठा होने के कारण भिन्न-भिन्न मत रखनेवाले प्रतिभाशाली आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र का आश्रय लेकर उसी के द्वारा अपने विशिष्ट वक्तव्य को दर्शाने की आवश्यकता अनुभव की, वैसे ही जैन वाङ्मय में स्थापित तत्त्वार्थाधिगम की प्रतिष्ठा के कारण उसका आश्रय लेकर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों को अपने-अपने मन्तव्यों को प्रकट करने की आवश्यकता हुई। इतना स्थूल साम्य होते हुए भी ब्रह्मसूत्र की और तत्त्वार्थ की साम्प्रदायिक व्याख्याओं में एक विशेष महत्त्व का भेद है कि तत्त्वज्ञान के जगत्, जीव, ईश्वर आदि मौलिक विषयों में ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार एक-दूसरे से बहुत ही भिन्न पड़ते हैं और बहुत बार तो उनके विचारों में पूर्व-पश्चिम जितना अंतर दिखाई देता

---

१ शंकर, निम्बार्क, मध्व, रामानुज, वल्लभ आदि।

है; जबकि तत्त्वार्थ के दिगम्बर या श्वेताम्बर किसी भी सम्प्रदाय के व्याख्याकारों में वैसी बात नही है। उनमे तत्त्वज्ञान के मौलिक विषयों मे कोई अन्तर नही है और जो थोड़ा-बहुत अंतर है वह भी बिलकुल साधारण बातों मे है ,और ऐसा नहीं कि जिसमे समन्वय को अवकाश ही न हो अथवा वह पूर्व-पश्चिम जितना हो। वस्तुतः जैन तत्त्वज्ञान के मूल सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायों में खास मतभेद पडा ही नही, इससे उनकी तत्त्वार्थ-व्याख्याओ में दिखाई देनेवाला मतभेद बहुत गम्भीर नहीं माना जाता।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर प्राचीन-अर्वाचीन, छोटी-बडी, सस्कृत तथा लौकिक भाषा की अनेक व्याख्याएँ हैं, परन्तु उनमें से जिनका ऐतिहासिक महत्त्व हो, जैन तत्त्वज्ञान को व्यवस्थित करने में तथा विकसित करने मे जिनका प्राधान्य हो और जिनका खास दार्शनिक महत्त्व हो ऐसी चार ही व्याख्याएँ इस समय मौजूद हैं। उनमे से तीन तो दिगबर सम्प्रदाय की हैं, जो साम्प्रदायिक भेद की ही नही बल्कि विरोध की तीव्रता बढने के बाद प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानो द्वारा लिखी गई हैं; और एक स्वयं सूत्रकार वाचक उमास्वाति की स्वोपज्ञ ही है। अत इन चार व्याख्याओं के विषय मे ही यहाँ कुछ चर्चा करना उचित होगा।

(क) भाष्य और सर्वार्थसिद्धि

'भाष्य' और 'सर्वार्थसिद्धि' इन दोनो टीकाओं के विषय में कुछ विचार करने के पहले इन दोनो के सूत्रपाठो के विषय मे विचार करना आवश्यक है। यथार्थ मे एक ही होते हुए भी बाद में साम्प्रदायिक भेद के कारण सूत्रपाठ दो हो गए है, जिनमे एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर के रूप मे प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर मानेजानेवाले सूत्रपाठ के स्वरूप का भाष्य के साथ मेल बैठने से उसे भाष्यमान्य कह सकते हैं और दिगम्बर मानेजानेवाले सूत्रपाठ के स्वरूप का सर्वार्थसिद्धि के साथ मेल बैठने से उसे सर्वार्थसिद्धिमान्य कह सकते हैं। सभी श्वेताम्बर आचार्य भाष्यमान्य सूत्रपाठ का अनुसरण करते हैं[1] और सभी दिगम्बर आचार्य सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ का। सूत्रपाठ के सम्बन्ध मे नीचे लिखी चार बातें यहाँ ज्ञातव्य हैं —१. सूत्रसख्या, २. अर्थभेद, ३. पाठान्तरविषयक भेद और ४. यथार्थता।

---

१ इसमें यशोविजयगणि अपवाद है। देखें—प्रस्तावना, पृ० ३८-४०।

१ सूत्रसंख्या—भाष्यमान्य सूत्रो की संख्या ३४४ है और सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रो की सख्या ३५७ है।

२. अर्थभेद—सूत्रो की संख्या और कही-कही शाब्दिक रचना में अन्तर होते हुए भी मूलसूत्रो से ही अर्थ मे महत्त्वपूर्ण अन्तरवाले तीन स्थल हैं, शेष सब मूलसूत्रो से खास अर्थ मे अन्तर नही पडता। इन तीन स्थलो में स्वर्ग को बारह और सोलह सख्या विषयक पहला (४ २०), काल का स्वतन्त्र अस्तित्व-नास्तित्व विषयक दूसरा (५. ३८) और तीसरा पुण्य-प्रकृतियों मे हास्य आदि चार प्रकृतियों के होने न होने का (८. २६) है।

३. पाठान्तरविषयक भेद—दोनो सूत्रपाठो के पारस्परिक भेद के अतिरिक्त इस प्रत्येक सूत्रपाठ मे भी भेद आता है। सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता ने जो पाठान्तर निर्दिष्ट किया है[1] उसको यदि अलग कर दिया जाए तो सामान्यत: यही कहा जा सकता है कि सब दिगम्बर टीकाकार सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ में कुछ भी पाठ-भेद सूचित नही करते। अत. कहना चाहिए कि पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि लिखते समय जो सूत्रपाठ प्राप्त किया तथा सुधारा-बढाया गया उसी को निर्विवाद रूप से बाद के सभी दिगम्बर टीकाकारो ने मान्य रखा, जब कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ के विषय मे ऐसी बात नही है। यह सूत्रपाठ श्वेताम्बररूप मे एक होने पर भी उसमें कितने ही स्थानो पर भाष्य के वाक्य सूत्ररूप मे दाखिल हो जाने का, कितने ही स्थानो पर सूत्ररूप मे माने जानेवाले वाक्यो का भाष्यरूप मे गिने जाने का, कही-कही मूलत: एक ही सूत्र के दो भागो मे बँट जाने का और कही मूलत: दो सूत्र मिलकर एक ही सूत्र हो जाने का सूचन भाष्य की लभ्य दोनो टीकाओ मे सूत्रो की पाठान्तर विषयक चर्चा से स्पष्ट होता है।[2]

४. यथार्थता—उक्त दोनों सूत्रपाठों मे मूल कौन-सा है और परिवर्तित कौन-सा है, यह प्रश्न सहज उत्पन्न होता है। अब तक किए गए विचार से मै इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ ही मूल है अथवा वह सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ की अपेक्षा मूल सूत्रपाठ के अत्यन्त निकट है।

---

१. देखें—२. ५३।

२. देखें—२. १९, २. ३७, ३. ११, ५ २–३; ७. ३ और ५ इत्यादि।

सूत्रपाठ के विषय में इतनी चर्चा करने के पश्चात् अब सूत्रों पर सर्व-प्रथम रचित भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि इन दो टीकाओ के विषय मे कुछ विचार करना आवश्यक लगता है। भाष्यमान्य सूत्रपाठ का मूल होना अथवा मूलपाठ के विशेष निकट होना तथा पूर्व कथनानुसार भाष्य का वाचक उमास्वातिकृत होना—इन बातो मे दिगम्बर आचार्यों का मौन स्वाभाविक है। क्योकि पूज्यपाद के बाद के सभी दिगम्बर आचार्यों की टीकाओ का मूल आधार सर्वार्थसिद्धि और उसका मान्य सूत्रपाठ ही है। यदि वे भाष्य या भाष्यमान्य सूत्रपाठ को उमास्वातिकर्तृक कहते है तो पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और उसकी व्याख्या का प्रामाण्य पूरा-पूरा नही रह सकता। दिगम्बर परम्परा सर्वार्थसिद्धि और उसके मान्य सूत्र-पाठ को प्रमाणसर्वस्व मानती है। ऐसी स्थिति में भाष्य और सर्वार्थसिद्धि दोनों की प्रामाण्य-विषयक जाँच किए बिना यह प्रस्तावना अधूरी ही रहती है। भाष्य की स्वोपज्ञता के विषय मे कोई सन्देह न होते हुए भी दलील के लिए यदि ऐसा मान लिया जाए कि यह स्वोपज्ञ नही है तो भी इतना तो निर्विवाद रूप से कहा ही जा सकता है कि भाष्य सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा प्राचीन है तथा तत्त्वार्थसूत्र की प्रथम टीका है, क्योकि वह सर्वार्थसिद्धि की भाँति साम्प्रदायिक नही है। इस तत्त्व को समझने के लिए यहाँ तीन बातों की पर्यालोचना की जाती है—(क) शैली-भेद, (ख) अर्थ-विकास और (ग) साम्प्रदायिकता।

(क) **शैली-भेद**—किसी एक ही सूत्र के भाष्य और उसकी सर्वार्थ-सिद्धिवाली व्याख्या को सामने रखकर तुलना की दृष्टि से देखनेवाले को यह मालूम हुए बिना नही रहता कि सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य की शैली प्राचीन है तथा पद-पद पर सर्वार्थसिद्धि मे भाष्य का प्रतिबिम्ब है। इन दोनों टीकाओ से भिन्न और दोनो से प्राचीन तीसरी किसी टीका के होने का यथेष्ट प्रमाण जब तक नही मिलता तब तक भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की तुलना करनेवाले ऐसा कहे बिना नही रह सकते कि भाष्य को सामने रखकर सर्वार्थसिद्धि की रचना हुई है। भाष्य की शैली प्रसन्न और गंभीर है, फिर भी दार्शनिक दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि की शैली नि सन्देह विशेष विकसित और परिमार्जित है। संस्कृत भाषा मे लेखन और जैन साहित्य मे दार्शनिक शैली के जिस विकास के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है वह भाष्य में दिखाई नही देता, फिर भी इन दोनो रचनाओ की भाषा में जो बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है उससे स्पष्ट है कि भाष्य ही प्राचीन है।

उदाहरणार्थ, प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र के भाष्य मे सम्यक् शब्द के विषय मे लिखा है कि 'सम्यक्' निपात है अथवा 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अञ्च' धातु का रूप है। इस विषय मे सर्वार्थसिद्धिकार लिखते हैं कि 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् व्युत्पत्ति-रहित अखंड है अथवा व्युत्पन्न है—धातु और प्रत्यय दोनो मिलाकर व्युत्पत्तिपूर्वक सिद्ध हुआ है। 'अञ्च' धातु को 'क्विप्' प्रत्यय लगाया जाए तब 'सम्+अञ्चति' इस रीति से 'सम्यक्' शब्द बनता है। 'सम्यक्' शब्द विषयक निरूपण की उक्त दो शैलियो मे भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि की स्पष्टता अधिक है। इसी प्रकार भाष्य में 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में इतना ही लिखा है कि दर्शन 'दृशि' धातु का रूप है, जब कि सर्वार्थसिद्धि मे 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से स्पष्ट वर्णित है। भाष्य मे 'ज्ञान' और 'चारित्र' शब्दो की व्युत्पत्ति स्पष्ट नही है, जब कि सर्वार्थसिद्धि मे इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से स्पष्ट वर्णित है और बाद मे उसका जैनदृष्टि से समर्थन किया गया है। इसी प्रकार समास मे दर्शन और ज्ञान शब्दो में पहले कौन आए और बाद में कौन आए, यह सामासिक चर्चा भाष्य मे नही है, जब कि सर्वार्थसिद्धि में वह स्पष्ट है। इसी तरह पहले अध्याय के दूसरे सूत्र के 'तत्त्व' शब्द के भाष्य मे मात्र दो अर्थ सूचित किए गए हैं, जब कि सर्वार्थसिद्धि मे इन दोनो अर्थों की व्युत्पत्ति की गई है और 'दृशि' धातु का श्रद्धा अर्थ कैसे लिया जाए, यह बात भी सूचित की गई है, जो भाष्य में नही है।

(ख) अर्थविकास[1]—अर्थ की दृष्टि से भी भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि अर्वाचीन प्रतीत होती है। जो एक बात भाष्य में होती है उसको विस्तृत करके—उस पर अधिक चर्चा करके—सर्वार्थसिद्धि मे निरूपण हुआ है। व्याकरणशास्त्र और जैनेतर दर्शनों की जितनी चर्चा सर्वार्थसिद्धि में है उतनी भाष्य में नही है। जैन परिभाषा का, संक्षिप्त होते हुए भी, जो स्थिर विशदीकरण और वक्तव्य का जो विश्लेषण सर्वार्थसिद्धि में है वह भाष्य में कम से कम है। भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि की तार्किकता बढ जाती है और भाष्य में जो नही हैं ऐसे विज्ञानवादी बौद्ध आदि के मन्तव्य उसमे जोड़े जाते हैं और इतर दर्शनों का खंडन

---

१ तुलना करें—१. २; १. १२, १. ३२ और २. १ इत्यादि सूत्रो का भाष्य और सर्वार्थसिद्धि।

जोर पकडता है। ये सब बातें सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य की प्राचीनता को सिद्ध करती हैं।

(ग) साम्प्रदायिकता[1]—उक्त दो बातों की अपेक्षा साम्प्रदायिकता की बात अधिक महत्त्वपूर्ण है। काल-तत्त्व, केवलि-कवलाहार, अचेलकत्व और स्त्री-मुक्ति जैसे विषयो के तीव्र मतभेद का रूप धारण करने के बाद और इन बातो पर साम्प्रदायिक आग्रह बँध जाने के बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है, जब कि भाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का यह तत्त्व दिखाई नही देता। जिन बातो मे रूढ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साथ दिगम्बर सम्प्रदाय का विरोध है उन सभी बातो को सर्वार्थसिद्धि के प्रणेता ने सूत्रो मे सशोधन करके या उनके अर्थ में खीचतान करके अथवा असगत अध्याहार आदि करके दिगम्बर सम्प्रदाय की अनुकूलता की दृष्टि से चाहे जिस रीति से सूत्रो में से उत्पन्न करके निकालने का साम्प्रदायिक प्रयत्न किया है। वैसा प्रयत्न भाष्य मे कही दिखाई नही देता। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सर्वार्थसिद्धि साम्प्रदायिक विरोध का वातावरण जम जाने के बाद आगे चलकर लिखी गई है और भाष्य इस विरोध के वातावरण से मुक्त है।

तब यहाँ प्रश्न होता है कि इस प्रकार यदि भाष्य प्राचीन है तो उसे दिगम्बर परम्परा ने क्यो छोड़ा? इसका उत्तर यही है कि सर्वार्थसिद्धि-कार को श्वेताम्बर सम्प्रदाय की जिन मान्यताओं का खडन करना था वह खडन भाष्य में नही था। इतना ही नही, भाष्य अधिकांशतः रूढ दिगम्बर परम्परा का पोषक भी नही था और बहुत-से स्थानो पर तो वह उलटा दिगम्बर परम्परा से बहुत विपरीत पडता था।[2] अत पूज्यपाद ने भाष्य को एक ओर रख कर सूत्रो पर स्वतत्र टीका लिखी और सूत्र-पाठ में इष्ट सुधार तथा वृद्धि की[3] और उसकी व्याख्या में जहाँ मतभेद-

---

१. देखें—५ ३९, ६. १३, ८. १; ९ ९, ९. ११; १०. ९ इत्यादि सूत्रो की सर्वार्थसिद्धि टीका के साथ उन्ही सूत्रो का भाष्य।

२. तत्त्वार्थ, ९. ७ तथा २४ के भाष्य में वस्त्र का उल्लेख है एवं १०. ७ के भाष्य में 'तीर्थंकरीतीर्थ' का उल्लेख है।

३. जहाँ-जहाँ अर्थ की खीचतान की है अथवा पुलाक आदि जैसे स्थलो पर ठीक-ठीक विवरण नही हो सका उन सूत्रो को क्यो न निकाल डाला? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रपाठ की अति प्रसिद्धि और निकाल डालने पर अप्रामाण्य का आक्षेप आने का डर था, ऐसा जान पडता है।

वाली वात आई वहाँ स्पष्ट रूप से दिगम्बर मन्तव्य ही स्थापित किया। ऐसा करने मे पूज्यपाद के लिए कुन्दकुन्द के ग्रन्थ मुख्य आधार-भूत रहे है, ऐसा जान पडता है। ऐसा होने से दिगम्बर परम्परा ने सर्वार्थसिद्धि को मुख्य प्रमाणरूप मे स्वीकार कर लिया और भाष्य स्वाभाविक रूप मे श्वेताम्बर परम्परा मे मान्य रह गया। भाष्य पर किसी भी दिगम्बर आचार्य ने टीका नही लिखी, इससे वह दिगम्बर-परम्परा से दूर ही रह गया। अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने भाष्य पर टीकाएँ लिखी है और कही-कही पर भाष्य के मन्तव्यो का विरोध किए जाने पर भी समष्टि रूप से उसका प्रामाण्य ही स्वीकार किया है। इसी लिए वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि भाष्य के प्रति दिगम्बर परम्परा की जो आज-कल मनोवृत्ति देखी जाती है वह प्राचीन दिगम्बराचार्यों मे नही थी। क्योंकि अकलक जैसे प्रमुख दिगम्बराचार्य भी यथासम्भव भाष्य के साथ अपने कथन की सगति दिखाने का प्रयत्न करके भाष्य के विशिष्ट प्रामाण्य का सूचन करते हैं (देखें—राजवार्तिक ५ ४. ८.) और कही भी भाष्य का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन नही करते या अप्रामाण्य व्यक्त नही करते।

(ख) दो वार्तिक

ग्रन्थो का नामकरण भी आकस्मिक नही होता, खोज की जाए तो उसका भी विशिष्ट इतिहास है। पूर्वकालीन और समकालीन विद्वानो की भावना से तथा साहित्य के नामकरण-प्रवाह से प्रेरणा लेकर ही ग्रन्थकार अपनी कृतियो का नामकरण करते हैं। व्याकरण पर पातजल महाभाष्य की प्रतिष्ठा का प्रभाव बाद के अनेक ग्रन्थकारो पर पड़ा, यह बात हम उनकी कृतियो के भाष्य नाम से जान सकते है। इसी प्रभाव ने, सम्भव है, वा० उमास्वाति को भाष्य नामकरण करने के लिए प्रेरित किया हो। बौद्ध साहित्य मे एक ग्रन्थ का नाम 'सर्वार्थसिद्धि' होने का स्मरण है। उसके और प्रस्तुत सर्वार्थसिद्धि के नाम का पौर्वापर्य सम्बन्ध अज्ञात है, परन्तु वार्तिको के विषय मे इतना निश्चित है कि एक वार भारतीय वाङ्मय मे वार्तिक युग आया और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे भिन्न-भिन्न विषयो पर वार्तिक नाम के अनेक ग्रन्थ लिखे गए। उसी का असर तत्त्वार्थ के प्रस्तुत वार्तिको के नामकरण पर है। अकलक ने अपनी टीका का नाम 'तत्त्वार्थवार्तिक' रखा है, जो राजवार्तिक नाम से प्रसिद्ध

है।[1] विद्यानन्दकृत तत्त्वार्थव्याख्या का 'श्लोकवार्तिक' नाम कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' का अनुकरण है, इसमे कोई सदेह नही।

तत्त्वार्थसूत्र पर लिखित अकलङ्क के 'राजवार्तिक' और विद्यानन्द के 'श्लोकवार्तिक' दोनो का मूल आधार सर्वार्थसिद्धि ही है। यदि अकलङ्क को सर्वार्थसिद्धि न मिली होती तो राजवार्तिक का वर्तमान स्वरूप इतना विशिष्ट नही होता और यदि राजवार्तिक का आश्रय न मिला होता तो विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक की विशिष्टता भी दिखाई न देती, यह निश्चित है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक ये दोनो साक्षात् या परपरा से सर्वार्थसिद्धि के ऋणी होने पर भी दोनो मे सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा विशेष विकास हुआ है। उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' की तरह 'तत्त्वार्थवार्तिक' गद्य मे है, जब कि 'श्लोकवार्तिक' कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' तथा धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' एव सर्वज्ञात्म मुनिकृत संक्षेपशारीरकवार्तिक की तरह पद्य मे है। कुमारिल की अपेक्षा विद्यानन्द की विशेषता यह है कि उन्होने स्वय ही अपने पद्यवार्तिक की टीका भी लिखी है। राजवार्तिक मे लगभग समस्त सर्वार्थसिद्धि आ जाती है, फिर भी उसमे नवीनता और प्रतिभा इतनी अधिक है कि सर्वार्थसिद्धि को साथ रखकर राजवार्तिक पढते समय उसमे कुछ भी पुनरुक्ति दिखाई नही देती। लक्षणनिष्णात पूज्यपाद के सर्वार्थसिद्धिगत सभी विशेष वाक्यो को अकलङ्क ने पृथक्करण और वर्गीकरण पूर्वक वार्तिको मे परिवर्तित कर डाला है और वृद्धि करने योग्य दिखाई देनेवाली बातो तथा वैसे प्रश्नो के विषय मे नवीन वार्तिक भी रचे है तथा सब वार्तिको पर स्वयं ही स्फुट विवरण लिखा है। अत समष्टिरूप से देखते हुए 'राजवार्तिक' सर्वार्थसिद्धि का विवरण होने पर भी वस्तुत. एक स्वतन्त्र ही ग्रन्थ है। सर्वार्थसिद्धि मे जो दार्शनिक अभ्यास दिखाई देता है उसकी अपेक्षा राजवार्तिक का दार्शनिक अभ्यास बहुत ही ऊँचा चढ जाता है। राजवार्तिककार का एक ध्रुव मन्त्र यह है कि उसे जिस बात पर जो कुछ कहना होता है उसे वह 'अनेकान्त' का आश्रय लेकर ही कहता है। 'अनेकान्त' राजवार्तिक की प्रत्येक चर्चा की चाबी है। अपने समय तक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के विद्वानो ने 'अनेकान्त' पर जो आक्षेप किए और अनेकान्तवाद की जो त्रुटियाँ बतलाई उन सबका निरसन करने और अनेकान्त का वास्तविक स्वरूप बतलाने के लिए ही

---

१. सांख्यसाहित्य में भी एक राजवार्तिक नाम का ग्रन्थ था।

अकलङ्क ने प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर सिद्धलक्षणवाली सर्वार्थसिद्धि का आश्रय लेकर अपने राजवार्तिक की भव्य इमारत खड़ी की है। सर्वार्थसिद्धि मे जो आगमिक विषयों का अति विस्तार है उसे राजवार्तिककार ने कम कर दिया है[1] और दार्शनिक विषयो को ही प्राधान्य दिया है।

दक्षिण भारत मे निवास करते हुए विद्यानन्द ने देखा कि पूर्वकालीन और समकालीन अनेक जैनेतर विद्वानो ने जैन दर्शन पर जो आक्रमण किए है उनका उत्तर देना बहुत कुछ शेष है और विशेष कर मीमांसक कुमारिल आदि द्वारा किए गए जैन दर्शन के खडन का उत्तर दिए बिना उनसे रहा नही गया, तभी उन्होने श्लोकवार्तिक की रचना की। उन्होने अपना यह उद्देश्य सिद्ध किया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मे मीमासा दर्शन का जितना और जैसा सबल खडन है वैसा तत्त्वार्थसूत्र की अन्य किसी टीका मे नही। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक में चर्चित कोई भी मुख्य विषय छूटा नही; बल्कि बहुत-से स्थानो पर तो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक को अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है। कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक म अपूर्व ही है। राजवार्तिक मे दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। समग्र जैन वाङ्मय में जो थोड़ी-बहुत कृतियाँ महत्त्व रखती है उनमे 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' भी है। तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बर साहित्य में एक भी ग्रन्थ ऐसा नही है जो राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना में बैठ सके। भाष्य मे दिखाई देनेवाला साधारण दार्शनिक अभ्यास सर्वार्थसिद्धि मे कुछ गहरा बन जाता है और राजवार्तिक मे वह विशेष गाढा होकर अंत मे श्लोकवार्तिक मे खूब जम जाता है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक के इतिहासज्ञ अध्येता को मालूम ही हो जाएगा कि दक्षिण भारत मे दार्शनिक विद्या और स्पर्धा का जो समय आया और अनेकमुखी पांडित्य विकसित हुआ उसी का प्रतिबिम्ब इन दो ग्रन्थों मे है। प्रस्तुत दोनों वार्तिक जैन दर्शन का प्रामाणिक अध्ययन करने के पर्याप्त साधन हैं, परन्तु इनमें से राजवार्तिक गद्यमय व सरल तथा विस्तृत होने से तत्त्वार्थ के समस्त टीका-ग्रन्थों की अपेक्षा पूर्ति अकेला ही कर देता है। ये दो वार्तिक यदि नही होते तो दसवी

१. तुलना करें—१. ७-८ की सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक।

शताब्दी तक के दिगम्बर साहित्य में जो विशिष्टता आई है और इसकी जो प्रतिष्ठा बँधी है वह निश्चय ही अधूरी रहती। साम्प्रदायिक होने पर भी ये दो वार्तिक अनेक दृष्टियो से भारतीय दार्शनिक साहित्य मे विशिष्ट स्थान प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं। इनका अवलोकन बौद्ध और वैदिक परम्परा के अनेक विषयो पर तथा अनेक ग्रन्थो पर ऐतिहासिक प्रकाश डालता है।

(ग) दो वृत्तियाँ

मूल सूत्र पर रची गई व्याख्याओ का सक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के बाद अब व्याख्या पर रचित व्याख्याओ का परिचय पाप्त करना क्रमप्राप्त है। ऐसी दो व्याख्याएँ इस समय पूरो-पूरी उपलब्ध हैं, जो श्वेताम्बर हैं। इन दोनो का मुख्य साम्य सक्षेप मे इतना ही है कि ये व्याख्याएँ उमास्वाति के स्वोपज्ञ भाष्य को शब्दश. स्पर्श करती है और उसका विवरण करती हैं। भाष्य का विवरण करते समय भाष्य का आश्रय लेकर सर्वत्र आगमिक वस्तु का ही प्रतिपादन करना और जहाँ भाष्य आगम से विरुद्ध जाता दिखाई देता हो वहाँ भी अन्तत आगमिक परम्परा का ही समर्थन करना, यह इन दोनों वृत्तियो का समान ध्येय है। इतना साम्य होते हुए भी इन दोनो वृत्तियो मे परस्पर भेद भी है। एक वृत्ति जो प्रमाण में बडी है वह एक ही आचार्य की कृति है, जब कि दूसरी छोटी वृत्ति तीन आचार्यों की मिश्र कृति है। लगभग अठारह हजार श्लोक-प्रमाण बडी वृत्ति मे अध्यायो के अन्त मे तो प्राय: 'भाष्यानुसारिणी' इतना ही उल्लेख मिलता है, जब कि छोटी वृत्ति के हर एक अध्याय के अन्त का उल्लेख कुछ न कुछ भिन्न है। कही 'हरिभद्रविरचितायाम्' (प्रथमाध्याय की पुष्पिका) तो कही 'हरिभद्रोद्धृतायाम्' (द्वितीय, चतुर्थ एवं पचमाध्याय के अन्त मे) है, कही 'हरिभद्रारब्धायाम्' (छठे अध्याय के अन्त मे) तो कही 'प्रारब्धायाम्' (सातवें अध्याय के अन्त मे) है, कही 'यशोभद्राचार्यनिर्यूढायाम्' (छठे अध्याय के अन्त में) तो कही 'यशोभद्रसूरिशिष्यनिर्वाहितायाम्' (दसवें अध्याय के अन्त मे) है, बीच मे कही 'तत्रैवान्यकर्तृकायाम्' (आठवें अध्याय के अन्त मे) तथा 'तस्यामेवान्यकर्तृकायाम्' (नवें अध्याय के अन्त मे) है। इन सब उल्लेखो मे भाषाशैली तथा समुचित सगति का अभाव देखकर कहना पडता है कि ये सब उल्लेख उस कर्ता के अपने नही है। हरिभद्र ने अपने पाँच अध्यायो के अन्त मे स्वयं लिखा होता

तो वे 'विरचित' और 'उद्धृत' ऐसे भिन्नार्थक दो शब्द कभी प्रयुक्त नही करते जिनसे कोई एक निश्चित अर्थ नही निकल सकता कि वह भाग हरिभद्र ने स्वयं नया रचा या किसी एक या अनेक वृत्तियों का सक्षेप-विस्तार रूप मे उद्धार किया। इसी प्रकार यशोभद्रलिखित अध्यायों के अन्त में भी एकवाक्यता नही है। 'यशोभद्रनिर्वाहितायाम्' शब्द होने पर भी 'अन्यकर्तृकायाम्' लिखना या तो व्यर्थ है या किसी अर्थान्तर का सूचक है।

ये सब असगतियाँ देखकर अनुमान होता है कि अध्याय के अन्तवाले उल्लेख किसी एक या अनेक लेखकों के द्वारा एक समय में या अलग-अलग समय मे नकल करते समय प्रविष्ट हुए हैं। ऐसे उल्लेखो की रचना का आधार यशोभद्र के शिष्य का वह पद्य-गद्य है जो उसने अपनी रचना के प्रारम्भ में लिखा है।

उपर्युक्त उल्लेखो के बाद मे जुडने की कल्पना का पोषण इससे भी होता है कि अध्यायो के अन्त में पाया जानेवाला 'डुपडुपिकायाम्' पद अनेक जगह त्रुटित है। जो हो, अभी तो उन उल्लेखो के आधार पर निम्नोक्त बातें निष्पन्न होती हैं :

१ तत्त्वार्थ-भाष्य पर हरिभद्र ने वृत्ति लिखी जो पूर्वकालीन या सम-कालीन छोटी-छोटी खण्डित व अखण्डित वृत्तियो का उद्धार है, क्योकि उसमे उन वृत्तियो का यथोचित समावेश हो गया है।

२. हरिभद्र की अधूरी वृत्ति को यशोभद्र ने तथा उनके शिष्य ने गन्धहस्ती की वृत्ति के आधार पर पूरा किया।

३. वृत्ति का डुपडुपिका नाम (अगर यह नाम सत्य तथा ग्रन्थकारो का रखा हुआ हो तो) इसलिए पड़ा जान पड़ता है कि वह टुकड़े-टुकड़े मे पूरी हुई, किसी एक के द्वारा पूरी न बन सकी। किसी प्रति में 'डुपडुपिका' पाठान्तर है। 'डुपडुपिका' शब्द इस स्थान के अतिरिक्त अन्यत्र कही देखा-सुना नही गया। सम्भव है वह अपभ्रष्ट पाठ हो या कोई देशी शब्द रहा हो। जैसी कि मैंने पहले कल्पना[१] की थी कि उसका अर्थ कदाचित् डोंगी हो, एक विद्वान् मित्र ने यह भी कहा था कि वह संस्कृत उडुपिका का भ्रष्ट पाठ है। पर अब सोचने से वह कल्पना और वह सूचना ठीक नही जान पड़ती। यशोभद्र के शिष्य ने अन्त में जो

---

१. देखें—गुजराती तत्त्वार्थ-विवेचन का परिचय, पृ० ८४।

वाक्य लिखा है उससे तो कुछ ऐसा ध्वनित होता है कि यह छोटी वृत्ति थोड़ी एक ने रची, थोड़ी दूसरे ने, थोड़ी तीसरे ने—इस कारण डुपडुपिका बन गई, एक कंथा-सी बन गई।

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक के साथ सिद्धसेनीय वृत्ति की तुलना करने से इतना तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो भाषा का प्रसाद, रचना की विशदता एवं अर्थ का पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में है वह सिद्धसेनीय वृत्ति में नही है। इसके दो कारण हैं। एक तो है ग्रन्थकार का प्रकृतिभेद और दूसरा है पराश्रित रचना। सर्वार्थसिद्धिकार और राजवार्तिककार सूत्रो पर अपना-अपना विवेचन स्वतन्त्र रूप से ही करते हैं।

सिद्धसेन को भाष्य का शब्दश. अनुसरण करते हुए पराश्रित रूप में चलना पड़ा है। इतना भेद होने पर भी समग्र रीति से सिद्धसेनीय वृत्ति का अवलोकन करते समय मन पर दो बातें अंकित होती हैं। पहली यह कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा सिद्धसेनीय वृत्ति की दार्शनिक योग्यता कम नही है। पद्धति-भेद होने पर भी समष्टिरूप से इस वृत्ति मे भी उक्त दो ग्रन्थो जितनी ही न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग और बौद्ध दर्शनो की चर्चा है। दूसरी बात यह है कि सिद्धसेन अपनी वृत्ति मे दार्शनिक और तार्किक चर्चा करते हुए भी अन्त मे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की तरह आगमिक परम्परा की प्रबल रूप मे स्थापना करते हैं और इसमे उनका प्रचुर आगमिक अध्ययन दिखाई देता है। सिद्धसेन की वृत्ति से ऐसा मालूम होता है कि उनके समय तक तत्त्वार्थ पर अनेक व्याख्याएँ रची जा चुकी थी। किसी-किसी स्थल पर एक ही सूत्र के भाष्य का विवरण करते हुए वे पाँच-छः तक मतान्तर निर्दिष्ट करते हैं।[1] इससे यह अनुमान करने का आधार मिलता है कि जब सिद्धसेन ने वृत्ति लिखी तब उनके सामने तत्त्वार्थ पर रची हुई कम-से-कम पाँच टीकाएँ रही होगी। सिद्धसेन की वृत्ति मे तत्त्वार्थगत विषय-सम्बन्धी जो विचार और भाषा की जो पुष्ट शैली दिखाई देती है उससे भलीभाँति मालूम होता है कि इस वृत्ति के पहले तत्त्वार्थ से सम्बन्धित काफी साहित्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय में लिखा गया और उसमें वृद्धि भी हुई।

---

१. देखें—५. ३ की सिद्धसेनीय वृत्ति, पृ० ३२१।

(घ) खण्डित वृत्ति

भाष्य पर तीसरी वृत्ति उपाध्याय यशोविजय की है। यदि यह पूर्ण मिल जाती तो सत्रहवी-अठारहवी शताब्दी तक प्राप्त होनेवाले भारतीय दर्शनशास्त्र के विकास का एक नमूना पूर्ण करती, ऐसा वर्तमान में उपलब्ध इस वृत्ति के एक छोटे-से खण्ड से ही कहा जा सकता है। यह खण्ड प्रथम अध्याय पर भी पूरा नही है और इसमें ऊपर की दो वृत्तियों के समान ही शब्दश भाष्य का अनुसरण करते हुए विवरण किया गया है। ऐसा होने पर भी इसमे जो गहरी तर्कानुगामी चर्चा, जो बहुश्रुतता एव जो भावाभिव्यक्ति दिखाई देती है वह यशोविजय की न्यायविशारदता की परिचायक है। यदि इन्होने यह वृत्ति सम्पूर्ण रची हो तो ढाई सौ वर्षों में ही उसका सर्वनाश हो जाना संभव नही लगता, अत इस पर शोध-कार्य अपेक्षित है।

रत्नसिंह का टिप्पण

'अनेकान्त' वर्ष ३, किरण १ (सन् १९३९) मे पं० जुगलकिशोरजी ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की सटिप्पण एक प्रति का परिचय कराया है। इससे ज्ञात होता है कि वह टिप्पण केवल मूलसूत्रस्पर्शी है। टिप्पणकार श्वेताम्बर रत्नसिंह का समय तो ज्ञात नही, पर उक्त परिचय में दिए गए अवतरणो की भाषा तथा लेखन-शैली से ऐसा मालूम होता है कि रत्नसिंह १६वी शताब्दी के पूर्व के शायद ही हों। वह टिप्पण अभी तक छपा नही है। लिखित प्रति के आठ पत्र है।

ऊपर जो तत्त्वार्थ पर महत्त्वपूर्ण तथा अध्ययन-योग्य थोड़े से ग्रन्थों का परिचय कराया गया है वह केवल इसलिए कि पाठको की जिज्ञासा जाग्रत हो और उन्हे इस दिशा मे विशेष प्रयत्न करने की प्रेरणा मिले। वास्तव मे प्रत्येक ग्रन्थ के परिचय के लिए एक-एक स्वतन्त्र निबन्ध अपेक्षित है और इन सबके सम्मिलित परिचय के लिए तो एक खासी मोटी पुस्तक की अपेक्षा है जो इस स्थल की मर्यादा के बाहर है। इसलिए इतने ही परिचय से सन्तोष धारण कर विराम लेता हूँ।

—सुखलाल

परिशिष्ट

मैने पं० नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार से उमास्वाति तथा तत्त्वार्थ से सम्बन्धित बातो के विषय मे कुछ प्रश्न पूछे थे। उनकी ओर से प्राप्त उत्तर का मुख्य अश उन्ही के शब्दो मे अपने प्रश्नो के साथ नीचे दिया जाता है। वर्तमान युग के दिगम्बर विद्वानों में, ऐतिहासिक क्षेत्र में, इन दोनों की योग्यता उच्च कोटि की रही है। अत पाठकों के लिए उनके विचार उपयोगी होने से उन्हे परिशिष्ट के रूप मे यहाँ देता हूँ। पं० जुगलकिशोरजी के उत्तर के जिस अंश पर मुझे कुछ कहना है वह उनके पत्र के बाद 'मेरी विचारणा' शीर्षक मे कह दिया गया है (आगे पृष्ठ ७६)।

(क) प्रश्न

१. उमास्वाति कुन्दकुन्द के शिष्य या वशज हैं, इस भाव का सबसे पुराना उल्लेख किस ग्रथ, पट्टावली या शिलालेख में आपके देखने मे अब तक आया है? अथवा यो कहिए कि दसवी सदी के पूर्ववर्ती किस ग्रन्थ, पट्टावली आदि मे उमास्वाति के कुन्दकुन्द के शिष्य या वशज होने की बात मिलती है?

२. आपके विचार मे पूज्यपाद का समय क्या है? तत्त्वार्थ का श्वताम्बर-भाष्य आपके विचार मे स्वोपज्ञ है या नही? यदि स्वोपज्ञ नही है तो उस पक्ष मे महत्त्वपूर्ण दलीलें क्या हैं?

३. दिगम्बर परम्परा मे कोई 'उच्चनागर' नामक शाखा कभी हुई है और वाचकवंश या वाचकपद धारी मुनियो का कोई गण प्राचीन काल में कभी हुआ है? यदि हुआ है तो उसका वर्णन या उल्लेख कहाँ पर है?

४. मुझे संदेह है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति कुन्दकुन्द के शिष्य थे, क्योंकि इसका कोई भी प्राचीन प्रमाण अभी तक मुझे नही मिला। जो मिले वे सब बारहवी सदी के बाद के हैं। इसलिए सरसरी तौर पर जो बात ध्यान मे आए सो लिखिएगा।

५. प्रसिद्ध तत्त्वार्थशास्त्र की रचना कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वाति ने की है, इस मान्यता के लिए दसवी सदी से प्राचीन क्या-क्या प्रमाण या

उल्लेख हैं ? क्या दिगम्बर साहित्य मे दसवी सदी से पुराना कोई ऐसा उल्लेख है जिसमें कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वाति के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र की रचना करने का सूचन या कथन हो ?

६. 'तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्' यह पद्य कहाँ का है और कितना पुराना है ?

७. पूज्यपाद, अकलक, विद्यानन्द आदि प्राचीन टीकाकारो ने कही भी तत्त्वार्थसूत्र-रचयिता के रूप मे उमास्वाति का उल्लेख किया है ? यदि नही किया है तो बाद मे यह मान्यता कैसे चल पड़ी ?

(ख) प्रेमीजी का पत्र

"आपका ता० ६ का कृपापत्र मिला। उमास्वाति कुन्दकुन्द के वंशज हैं, इस बात पर मुझे जरा भी विश्वास नही है। यह वश-कल्पना उस समय की गई है जब तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक आदि टीकाएँ बन चुकी थी और दिगम्बर सम्प्रदाय ने इस ग्रंथ को पूर्णतया अपना लिया था। दसवी शताब्दी के पहले का कोई भी उल्लेख अभी तक मुझे इस सम्बन्ध मे नही मिला। मेरा विश्वास है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में जो बडे-बडे विद्वान् ग्रथकर्ता हुए हैं, प्राय. वे किसी मठ या गद्दी के पट्टधर नही थे। परन्तु जिन लोगो ने गुर्वावली या पट्टावली बनाई है उनके मस्तक में यह बात भरी हुई थी कि जितने भी आचार्य या ग्रन्थकर्ता होते हैं वे किसी-न-किसी गद्दी के अधिकारी होते हैं। इसलिए उन्होने पूर्ववर्ती सभी विद्वानो की इसी भ्रमात्मक विचार के अनुसार खतौनी कर डाली है और उन्हें पट्टधर बना डाला है। यह तो उन्हे मालूम नही था कि उमास्वाति और कुन्दकुन्द किस-किस समय मे हुए हैं, परन्तु चूंकि वे बडे आचार्य थे और प्राचीन थे, इसलिए उनका सम्बन्ध जोड़ दिया और गुरु-शिष्य या शिष्य-गुरु बना दिया। यह सोचने का उन्होने कष्ट नही उठाया कि कुन्दकुन्द कर्नाटक देश के कुडकुड ग्राम के निवासी थे और उमास्वाति विहार मे भ्रमण करनेवाले। उनके सम्बन्ध की कल्पना भी एक तरह से असम्भव है।

श्रुतावतार, आदिपुराण, हरिवशपुराण, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रन्थो मे जो प्राचीन आचार्य-परम्परा दी हुई है उसमे उमास्वाति का बिलकुल उल्लेख नही है। श्रुतावतार मे कुदकुद का उल्लेख है और उन्हे एक बडा टीकाकार बतलाया है परन्तु उनके आगे या पीछे उमास्वाति का कोई उल्लेख नही है। इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार यद्यपि बहुत पुराना

नहीं है फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि वह किसी प्राचीन रचना का रूपान्तर है और इस दृष्टि से उसका कथन प्रमाणकोटि का है। 'दर्शनसार' ६६० संवत् का बनाया हुआ है, उसमे पद्मनन्दी या कुन्दकुन्द का उल्लेख है परन्तु उमास्वाति का नही। जिनसेन के समय राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक बन चुके थे परन्तु उन्होने भी बीसों आचार्यों और ग्रन्थकर्ताओं की प्रशसा के प्रसंग में उमास्वाति का उल्लेख नही किया, क्योंकि वे उन्हे अपनी परम्परा का नही समझते थे। एक बात और है। आदिपुराण, हरिवंशपुराण आदि के कर्ताओं ने कुन्दकुन्द का भी उल्लेख नही किया है, यह एक विचारणीय बात है।

मेरी समझ में कुन्दकुन्द एक खास आम्नाय या सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। उन्होने जैनधर्म को वेदान्त के साँचे मे ढाला था। जान पड़ता है कि जिनसेन आदि के समय तक उनका मत सर्वमान्य नहीं हुआ और इसीलिए उनके प्रति उन्हे कोई आदरभाव नहीं था।

'तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्' यह श्लोक मालूम नहीं कहाँ का है और कितना पुराना है। तत्त्वार्थसूत्र की मूल प्रतियों में यह पाया जाता है। कहीं-कहीं कुन्दकुन्द को भी गृध्रपिच्छ लिखा है। गृध्रपिच्छ नाम के एक और भी आचार्य का उल्लेख है। जैनहितैषी, भाग १०, पृष्ठ ३६९ और भाग १५, अक ६ के कुन्दकुन्द सम्बन्धी लेख पढवा कर देख लीजिएगा।

षट्पाहुड की भूमिका भी पढवा लीजिएगा।

श्रुतसागर ने आशाधर के महाभिषेक की टीका सवत् १५८२ मे समाप्त की है। अतएव ये विक्रम की सोलहवी शताब्दी के हैं। तत्त्वार्थ की वृत्ति के और षट्पाहुड की तथा यशस्तिलक की टीका के कर्ता भी यही हैं। दूसरे श्रुतसागर के विषय मे मुझे मालूम नही।"

(ग) जुगलकिशोरजी मुख्तार का पत्र

"आपके प्रश्नो का मै सरसरी तौर से कुछ उत्तर दिये देता हूँ :

१. अभी तक जो दिगम्बर पट्टावलियाँ ग्रन्थादिको मे दी हुई गुर्वावलियो से भिन्न उपलब्ध हुई हैं वे प्राय. विक्रम की १२वी शताब्दी के बाद की बनी हुई जान पड़ती है ऐसा कहना ठीक होगा। उनमे सबसे पुरानी कौन-सी है और वह कब की बनी हुई है, इस विषय में मै इस समय कुछ नही कह सकता। अधिकांश पट्टावलियों पर निर्माण के सम-

यादि का कुछ उल्लेख नही है और ऐसा भी अनुभव होता है कि किसी-किसी में अंतिम आदि कुछ भाग पीछे से भी शामिल हुआ है।

कुन्दकुन्द तथा उमास्वाति के सम्बन्धवाले कितने ही शिलालेख तथा प्रशस्तियाँ हैं, परन्तु वे सब इस समय मेरे सामने नही हैं। हाँ, श्रवण-बेल्गोल के जैन शिलालेखो का सग्रह इस समय मेरे सामने है, जो माणिकचद्र दिग० जैन ग्रन्थमाला का २८वाँ ग्रन्थ है। इसमें ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५ और १०८ नम्बर के ७ शिलालेख दोनो के उल्लेख तथा सम्बन्ध को लिये हुए हैं। पहले पाँच लेखो मे 'तदन्वये' पद के द्वारा तथा न० १०८ मे 'वंशे तदीये' पदो के द्वारा उमास्वाति को कुन्दकुन्द के वश में लिखा है। प्रकृत वाक्यो का उल्लेख 'स्वामी समन्तभद्र' के पृ० १५८ पर फुटनोट में भी किया गया है। इनमे सबसे पुराना शिलालेख नं० ४७ है, जो शक स० १०३७ का लिखा हुआ है।

२. पूज्यपाद का समय विक्रम की छठी शताब्दी है, इसकी विशेष जानकारी के लिए 'स्वामी समन्तभद्र' के पृ० १४१ से १४३ तक देखिए। तत्त्वार्थ के श्वेताम्बरीय भाष्य को मैं अभी तक स्वोपज्ञ नही समझता हूँ। उस पर कितना ही सदेह है, जिस सबका उल्लेख करने के लिए मैं इस समय तैयार नही हूँ।

३. दिगम्बरीय परम्परा मे मुनियो की कोई उच्चनागर शाखा भी हुई है, इसका मुझे अभी तक कुछ पता नही है और न 'वाचकवश' या 'वाचक' पदधारी मुनियो का कोई विशेष हाल मालूम है। हाँ, 'जिनेन्द्र-कल्याणाभ्युदय' ग्रन्थ मे 'अन्वयावलि' का वर्णन करते हुए कुन्दकुन्द और उमास्वाति दोनो के लिए 'वाचक' पद का प्रयोग किया गया है, जंसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :

पुष्पदन्तो भूतबलिर्जिनचन्द्रो मुनिः पुनः।
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रोमास्वातिवाचकसंज्ञितौ ॥

४ कुन्दकुन्द और उमास्वाति के सम्बन्ध का उल्लेख किया जा चुका है। मै अभी तक उमास्वाति को कुन्दकुन्द का निकटान्वयी मानता हूँ—शिष्य नही। हो सकता है कि वे कुन्दकुन्द के प्रशिष्य रहे हों और इसका उल्लेख मैंने 'स्वामी समन्तभद्र' मे पृ० १५८–१५९ पर भी कि[illegible]। उक्त इतिहास मे 'उमास्वाति-समय' और 'कुन्दकुन्द-समय' ना[illegible] लेखो को एक बार पढ जाना चाहिए।

[illegible] मझते हैं, [illegible] यह भी है [illegible] ही समझते

५. विक्रम की १० वी शताब्दी से पहले का कोई उल्लेख मेरे देखने में ऐसा नही आया जिसमें उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य लिखा हो।

६. 'तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्' यह पद्य तत्त्वार्थसूत्र की बहुत-सी प्रतियो के अन्त मे देखा जाता है, परन्तु वह कहाँ का है और कितना पुराना है, यह अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

७. पूज्यपाद और अकलङ्कदेव के विषय मे तो अभी ठीक नही कह सकता, परन्तु विद्यानन्द ने तो तत्त्वार्थसूत्र के कर्तारूप से उमास्वाति का उल्लेख किया है—श्लोकवार्तिक मे उनका द्वितीय नाम गृध्रपिच्छाचार्य दिया है और शायद आप्तपरीक्षा-टीका आदि में 'उमास्वाति' नाम का भी उल्लेख है।

इस तरह यह आपके दोनों पत्रों का उत्तर है, जो इस समय बन सका है। विशेष विचार फिर किसी समय किया जाएगा।"

(घ) मेरी विचारणा

विक्रम को ९-१०वी शताब्दी के दिगम्बराचार्य विद्यानन्द ने आप्त-परीक्षा (श्लोक ११९) की स्वोपज्ञवृत्ति मे **तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामि-प्रभृतिभिः** ऐसा कथन किया है और तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक की स्वोपज्ञ-वृत्ति (पृ० ६, पं० ३१) मे इन्ही आचार्य ने **एतेन गृध्रपिच्छाचार्यपर्यन्त-मुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता** ऐसा कथन किया है। ये दोनो कथन तत्त्वार्थशास्त्र के उमास्वाति-रचित होने और उमास्वाति तथा गृध्रपिच्छ आचार्य दोनो के अभिन्न होने को सूचित करते हैं ऐसी पं० जुगलकिशोरजी की मान्यता जान पड़ती है। परन्तु यह मान्यता विचारणीय है, अतः इस विषय मे अपनी विचारणा को संक्षेप में बतला देना उचित होगा।

पहले कथन में 'तत्त्वार्थसूत्रकार' यह उमास्वाति वगैरह आचार्यों का विशेषण है, न कि मात्र उमास्वाति का। अब यदि मुख्तारजी के कथनानुसार अर्थ किया जाए तो ऐसा फलित होता है कि उमास्वाति वगैरह आचार्य तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता हैं। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र का अर्थ यदि तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र किया जाए तो यह फलित अर्थ दूषित ठहरता है, क्योंकि तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र अकेले उमास्वामी द्वारा रचित माना जाता है, न कि उमास्वामी आदि अनेक आचार्यों द्वारा। इससे विशेषणगत तत्त्वार्थ-सूत्र का अर्थ मात्र तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र न करके 'जिन-कथित सभी ग्रन्थ' इतना करना चाहिए। इस अर्थ से

फलित होता है जिन-कथित तत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थ के रचनेवाले उमास्वामी वगैरह आचार्य। इस फलित अर्थ के अनुसार सीधे तौर पर इतना ही कह सकते हैं कि विद्यानन्द की दृष्टि मे उमास्वामी भी जिन-कथित तत्त्वप्रतिपादक किसी ग्रन्थ के प्रणेता हैं। यह ग्रन्थ भले ही विद्यानन्द की दृष्टि मे तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र ही हो, परन्तु इसका यह आशय उक्त कथन मे से दूसरे आधारो के विना सीधे तौर पर नही निकलता। इससे विद्यानन्द के आप्तपरीक्षागत पूर्वोक्त कथन से हम इनना ही आशय निकाल सकते हैं कि उमास्वामी ने जैन तत्त्व पर कोई ग्रन्थ अवश्य रचा है।

पूर्वोक्त दूसरा कथन तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र का पहला मोक्षमार्गविषयक सूत्र सर्वज्ञवीतराग प्रणीत है, इस बात को सिद्ध करनेवाली अनुमान-चर्चा मे आया है। इस अनुमान-चर्चा मे मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञ-वीतरागप्रणीतत्व साध्य है और सूत्रत्व हेतु है। इस हेतु में व्यभिचारदोष का निरसन करते हुए विद्यानन्द ने 'एतेन' इत्यादि कथन किया है। व्यभिचारदोष पक्ष से भिन्न स्थल मे सभवित होता है। पक्ष तो मोक्षमार्गविषयक प्रस्तुत तत्त्वार्थसूत्र ही है, इससे व्यभिचार का विषयभूत माना जानेवाला गृध्रपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनियो का सूत्र विद्यानन्द की दृष्टि मे उमास्वाति के पक्षभूत मोक्षमार्ग-विषयक प्रथम सूत्र से भिन्न ही होना चाहिए। यह वात ऐसी है कि न्यायविद्या के अभ्यासी को शायद ही समझानी पड़े। विद्यानन्द की दृष्टि मे पक्षरूप उमास्वाति के सूत्र की अपेक्षा व्यभिचार के विषयरूप से कल्पित किया सूत्र अलग ही है, इसीसे उन्होने इस व्यभिचारदोष का निवारण करने के बाद हेतु में असिद्धता दोष को दूर करते हुए 'प्रकृतसूत्रे' कहा है। प्रकृत अर्थात् जिसकी चर्चा प्रस्तुत है वह उमास्वामी का मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र। असिद्धता दोष का निवारण करते हुए सूत्र को 'प्रकृत' विशेषण दिया हैं और व्यभिचार दोष को दूर करते हुए वह विशेषण नही दिया तथा पक्षरूप सूत्र में व्यभिचार नही आता, यह भी नही कहा, वल्कि स्पष्ट रूप से यह कहा है कि गृध्रपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनियो के सूत्रो मे व्यभिचार नही आता। यह सब निर्विवादरूप से यही सूचित करता है कि विद्यानन्द उमास्वामी से गृध्रपिच्छ को भिन्न ही समझते हैं, दोनों को एक नही। इसी अभिप्राय की पुष्टि मे एक दलील यह भी है कि विद्यानन्द यदि गृध्रपिच्छ और उमास्वामी को अभिन्न ही समझते

होते तो एक जगह उमास्वामी और दूसरी जगह 'गृध्रपिच्छ आचार्य' इतना विशेषण ही उनके लिए प्रयुक्त न करते बल्कि 'गृध्रपिच्छ' के बाद वे 'उमास्वामी' शब्द का प्रयोग करते। उक्त दोनों कथनों की मेरी विचारणा यदि असत्य न हो तो यह फलित होता है कि विद्यानन्द की दृष्टि में उमास्वामी तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र के प्रणेता होंगे, परन्तु उनकी दृष्टि मे गृध्रपिच्छ और उमास्वामी ये दोनो निश्चय ही भिन्न होने चाहिए।

गृध्रपिच्छ, बलाकपिच्छ, मयूरपिच्छ आदि विशेषणों की सृष्टि नग्नत्वमूलक वस्त्र-पात्र के त्यागवाली दिगम्बर भावना मे से हुई है। यदि विद्यानन्द ने उमास्वामी को निश्चयपूर्वक दिगम्बर समझा होता तो वे उनके नाम के साथ प्राचीन समय मे लगाए जानेवाले गृध्रपिच्छ आदि विशेषण जरूर लगाते। अतएव कह सकते हैं कि विद्यानन्द ने उमास्वामी को श्वेताम्बर, दिगम्बर या किसी तीसरे सम्प्रदाय का सूचित ही नही किया है।

—सुखलाल

अध्ययन विषयक सूचनाएँ

जैन दर्शन का प्रामाणिक अध्ययन करने के इच्छुक जैन-जैनेतर द्यार्थी एवं शिक्षक यह पूछते हैं, कि ऐसी एक पुस्तक कौन-सी है ासका सक्षिप्त तथा विस्तृत अध्ययन किया जा सके और उससे जैन र्शन मे सन्निहित मुद्दो के प्रत्येक विषय का ज्ञान हो सके। इस प्रश्न के त्तर मे 'तत्त्वार्थ' के सिवाय अन्य किसी पुस्तक का निर्देश नही किया ा सकता। तत्त्वार्थ की इतनी योग्यता होने से आजकल जहाँ-तहाँ न दर्शन के पाठ्य-क्रम मे इसका सर्वप्रथम स्थान रहता है। फिर भी उसकी अध्ययन-परिपाटी की जो रूपरेखा है वह विशेप फलप्रद प्रतीत नही होती। इसलिए उसकी अध्ययन-पद्धति के विषय मे यहाँ पर कुछ ूचनाएँ देना अप्रासगिक न होगा।

सामान्यत' तत्त्वार्थ के श्वेतांबर पाठक उसकी दिगम्बर टीकाओ को नही देखते और दिगम्बर पाठक श्वेताम्बर टीकाओं को नही ेखते। इसका कारण संकुचित दृष्टि, साम्प्रदायिक अभिनिवेश, जानकारी का अभाव अथवा चाहे जो हो पर अगर यह धारणा सही हो तो इसके कारण पाठक का ज्ञान कितना सकुचित रहता है, उसकी जिज्ञासा कितनी अपरितृप्त रहती है और उसकी तुलना तथा परीक्षण करने की शक्ति कितनी कुठित रहती है तथा उसके परिणामस्वरूप तत्त्वार्थ के पाठक का प्रामाण्य कितना अल्प निर्मित होता है, इसे समझने के लिए वर्तमान की सभी जैन सस्थाओ के विद्यार्थियो से अधिक दूर जाने की आवश्यकता नही। ज्ञान के मार्ग मे, जिज्ञासा के क्षेत्र मे और सत्यान्वेपण मे चौका-बदी को अर्थात् दृष्टि-सकोच या सम्प्रदाय-मोह को स्थान हो तो उससे मूल वस्तु ही सिद्ध नही होती। जो तुलना के विचार मात्र से ही डर जाते हैं वे या तो अपने पक्ष की प्रामाणिकता तथा सबलता के विपय मे शंकित होते हैं या दूसरे के पक्ष के सामने खडे होने की शक्ति कम रखते हैं अथवा असत्य को छोड़कर सत्य को स्वीकार करने मे हिचकिचाते हैं तथा अपनी सत्य बात को भी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त बुद्धिबल और धैर्य नही रखते। ज्ञान का अर्थ यही है कि सकुचितता, बधन और

अवरोधो का अतिक्रमण कर आत्मा को विस्तृत किया जाए और सत्य के लिए गहरा उतरा जाए। इसलिए शिक्षको के समक्ष निम्नोक्त पद्धति रखता हूँ। वे इस पद्धति को अन्तिम न मानकर उसमे भी अनुभव से सुधार करें और वास्तव मे तो अध्ययन करनेवाले अपने विद्यार्थियो को साधन बनाकर स्वयं तैयार हों।

१. मूलसूत्र का सरलतापूर्वक जो अर्थ हो वह किया जाय।

२. भाष्य सर्वार्थसिद्धि इन दोनो में से किसी एक टीका को मुख्य रख उसे पहले पढाया जाए और फिर तुरत ही दूसरी। इस वाचन मे नीचे की खास बातो की ओर विद्यार्थियो का ध्यान आकर्षित किया जाए—

(क) कौन-कौन से विषय भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि में एक समान हैं और समानता होने पर भी भाषा तथा प्रतिपादन-शैली में कितना अन्तर पडता है ?

(ख) कौन-कौन से विषय एक में हैं और दूसरे मे नही ? अगर हैं तो रूपान्तर से जो विषय दूसरे मे छोड़ दिए गए हो या जिनको नवीन रूप से चर्चा की गई हो वे कौन से हैं और इसका कारण क्या है ?

(ग) उपर्युक्त प्रणाली के अनुसार भाष्य और सर्वार्थसिद्धि इन दोनो का पृथक्करण करने के बाद जो विद्यार्थी अधिक योग्य हो उसे 'प्रस्तावना' मे दी हुई तुलना के अनुसार अन्य भारतीय दर्शनो के साथ तुलना करने के लिए प्रेरित किया जाए और जो विद्यार्थी साधारण हो उसे भविष्य मे ऐसी तुलना करने की दृष्टि से कुछ रोचक सूचनाएँ की जाएँ।

(घ) ऊपर दी हुई सूचना के अनुसार पाठ पढाने के बाद पढे हुए उसी सूत्र का राजवार्तिक स्वयं पढ़ जाने के लिए विद्यार्थियो से कहा जाए। वे यह सम्पूर्ण राजवार्तिक पढ़ कर उसमे से पूछने योग्य प्रश्न या समझने के विषय नोट करके दूसरे दिन शिक्षक के सामने रखें। इस चर्चा के समय शिक्षक यथासम्भव विद्यार्थियों मे ही परस्पर चर्चा करा कर उनके द्वारा ही (स्वय केवल तटस्थ सहायक रह कर) कहलवाए। भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा राजवार्तिक में क्या कम हुआ है, कितनी वृद्धि हुई है, क्या-क्या नवीन है—यह जानने की दृष्टि विद्यार्थियों में परिमार्जित हो।

३. इस तरह भाष्य और सर्वार्थसिद्धि का अध्ययन राजवार्तिक के अवलोकन के बाद पुष्ट होने पर उक्त तीनों ग्रन्थों मे नही हो, ऐसे और

खास ध्यान देने योग्य जो-जो विषय श्लोकवार्तिक मे चर्चित हों उन विषयो की सूची तैयार करके रखना एवं अनुकूलता के अनुसार उन्हे विद्यार्थियों को पढाना या स्वयं पढ़ने के लिए कहना चाहिए। इतना होने के बाद सूत्र की उक्त चारो टीकाओं ने क्रमश कितना और किस-किस प्रकार का विकास किया है और ऐसा करने मे उन-उन टीकाओ ने अन्य दर्शनों से कितना लाभ उठाया है या अन्य दर्शनो को उनकी क्या देन है, ये सभी बाते विद्यार्थियो को समझानी चाहिए।

४. किसी परिस्थिति के कारण राजवार्तिक का पठन-पाठन सम्भव न हो तथापि श्लोकवार्तिक के समान राजवार्तिक मे भी जो-जो विषय अधिक सुन्दर रूप मे चर्चित हों और जिनका जैन-दर्शन के अनुसार बहुत अधिक महत्त्व हो उनकी एक सूची तैयार करना तो विद्यार्थियो को सिखाना ही चाहिए। भाष्य और सर्वार्थसिद्धि ये दो ग्रन्थ पाठ्यक्रम मे नियत हो और राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक के वे विशिष्ट प्रकरण भी सम्मिलित किए जाएँ जो उक्त दोनो ग्रन्थो मे अचर्चित हो एवं शेष सभी अवशिष्ट विषय ऐच्छिक रहे। उदाहरणार्थं राजवार्तिक की सप्तभंगी और अनेकान्तवाद की चर्चा तथा श्लोकवार्तिक की सर्वज्ञ, आप्त, जगत्कर्ता आदि की, नय की, वाद की और पृथ्वी-भ्रमण की चर्चा। इसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेनीय वृत्ति से विशिष्ट चर्चावाले भागो को छाँटकर उन्हे पाठ्यक्रम मे रखना चाहिए। उदाहरणार्थं १. १; ५ २९, ३१ के भाष्य की वृत्ति में आई हुई चर्चाएँ।

५. अध्ययन प्रारम्भ करने से पहले शिक्षक तत्त्वार्थ का बाह्य और आभ्यन्तरिक परिचय कराने के लिए विद्यार्थियो के समक्ष रुचिकर प्रवचन करे एव उनमे दिलचस्पी पैदा करे। दर्शनो के इतिहास एव क्रम-विकास की ओर विद्यार्थियो का ध्यान आकर्षित करने के लिए बीच-बीच मे प्रसगानुसार समुचित प्रवचनो की व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

६ भूगोल, खगोल, स्वर्ग तथा पाताल विषयक विद्या के तीसरे एव चौथे अध्याय के शिक्षण के विषय मे दो विरोधी पक्ष हैं। एक पक्ष उसे शिक्षण मे रखने का विरोध करता है, जब कि दूसरा उस शिक्षण के बिना सर्वज्ञ-दर्शन के अध्ययन को अधूरा मानता है। ये दोनो एकान्त (आग्रह) की अन्तिम सीमाएँ है। इसलिए शिक्षक के लिए यही समुचित है कि वह इन दोनों अध्यायो का शिक्षण देते हुए भी उसके पीछे

रही हुई दृष्टि मे परिवर्तन करे। तीसरे एव चौथे अध्याय का सारा वर्णन सर्वज्ञ-कथित है, इसमे किंचित् भी परिवर्तन या सशोधन नही हो सकता, आजकल के सभी वैज्ञानिक अन्वेषण और विचार जैन-शास्त्रो के विरुद्ध होने के कारण सर्वथा मिथ्या एव त्याज्य हैं—इस प्रकार का आग्रह रखने की अपेक्षा एक समय आर्यदर्शनो मे स्वर्ग-नरक, भूगोल खगोल विषयक कैसी-कैसी मान्यताएँ प्रचलित थी और इन मान्यताओ मे जैन-दर्शन का क्या स्थान है—इस ऐतिहासिक दृष्टि से इन अध्यायो का शिक्षण दिया जाए तो मिथ्या समझकर त्याग देने योग्य विषयो मे भी जानने योग्य बहुत-कुछ बच रहता है। इससे सत्य-शोधन के लिए जिज्ञासा का क्षेत्र तैयार होता है और जो सत्य है उसे बुद्धि की कसौटी पर कसने की विशेष प्रेरणा मिलती है।

७. उच्चस्तरीय विद्यार्थियो तथा गवेषको के लिए मै कुछ सूचनाएँ और भी करना चाहता हूँ। पहली बात तो यह है कि तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य आदि मे आए हुए मुद्दो का उद्गमस्थान किन-किन श्वेताम्बर तथा दिगम्बर प्राचीन ग्रन्थो मे है, यह ऐतिहासिक दृष्टि से देखना चाहिए और फिर उनकी तुलना करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि उन मुद्दो के विषय मे बौद्ध पिटक तथा महायान शाखा के अमुक ग्रन्थ क्या कहते हैं, उनमे इस विषय का कैसा वर्णन है, यह देखना चाहिए। सभी वैदिक दर्शनो के मूल सूत्रो और भाष्यो से एतद्विषयक सीधी जानकारी प्राप्त करके उनकी तुलना करनी चाहिए। मैने ऐसा किया है और मेरा अनुभव है कि तत्त्वज्ञान तथा आचार के क्षेत्र मे भारतीय आत्मा एक है। अस्तु, ऐसा अध्ययन किए बिना तत्त्वार्थ का पूरा महत्त्व ध्यान मे नही आ सकता।

८. यदि प्रस्तुत हिन्दी विवेचन द्वारा ही तत्त्वार्थसूत्र पढाया जाए तो शिक्षक पहले एक-एक सूत्र लेकर उसके सभी विषय मौखिक रूप मे समझा दे और उसमे विद्यार्थियो का प्रवेश हो जाने पर उस-उस भाग के प्रस्तुत विवेचन का वाचन स्वय विद्यार्थियो से ही कराए और प्रश्नो के द्वारा विश्वास कर ले कि विषय उनकी समझ मे आ गया है।

९. प्रस्तुत विवेचन द्वारा एक संदर्भ पर्यंत सूत्र अथवा सपूर्ण अध्याय की पढाई होने के बाद 'प्रस्तावना' मे निर्दिष्ट तुलनात्मक दृष्टि के आधार पर शिक्षक सक्षम विद्यार्थियो के समक्ष पढाए गए विषयों की स्पष्ट तुलना करे।

तत्त्वार्थसूत्र का मूल पाठ

तत्त्वार्थसूत्र का कौन-सा पाठ मूल रूप मे दोनो परम्पराओं में विद्य-मान है, यह कहना बहुत ही कठिन है। यदि साम्प्रदायिक भावना से अलग रहकर विचार किया जाए तो यह प्रश्न ऐतिहासिक महत्त्व का बन जाता है। तत्त्वार्थसूत्र आगमिक काल के अन्त की रचना है। उसके तुरन्त बाद ही उत्तर से आकर पश्चिम और दक्षिण में केन्द्रित जैन-सघ निश्चित रूप से श्वेताम्बर और दिगम्बर सप्रदायो मे विभक्त हो गया। दक्षिण मे गये तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य मे काफी परिवर्तन हुए, जो इस समय दिगम्बर सूत्रपाठ और सर्वार्थसिद्धि के रूप मे उपलब्ध है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म के इतिहास के एक ऐसे मोड पर खड़ा हुआ जहाँ से उसने दोनों परम्पराओ को सहसा प्रभावित किया।

कठिनाई यह है कि इस जटिल समस्या के समाधान के लिए प्रामा-णिक साक्ष्यो का प्राय: अभाव है। यहाँ इसके समाधान का प्रयास निम्न तीन पहलुओ से किया जा रहा है—१. भाषागत परिवर्तन, २. प्रत्येक आवृत्ति मे सूत्रो का विलोपन और ३. सूत्रगत मतभेद। यहाँ यह कहना अभीष्ट होगा कि इस समस्या के समाधान मे मुख्यतया अतिम दो साधनो का उपयोग किया गया है परन्तु तार्किक दृष्टि से समुचित निर्णय के लिए वे पूर्णतः सक्षम सिद्ध नही हुए है। आश्चर्य की बात यह है कि भाषागत अध्ययन भी विशेष उपयोगी सिद्ध नही हुआ, यद्यपि यह साधन सर्वाधिक प्रामाणिक है। यहाँ यह सकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि हमारी एक समस्या उसके भाष्य के विषय मे भी है। वह स्वोपज्ञ है या नही, इसका अध्ययन यहाँ अभीष्ट नही है, क्योकि यह स्वय मे एक बड़ी समस्या है और इस विषय पर स्वतत्र रूप से लिखा जा सकता है।

हम इस विवेचन का श्रीगणेश तत्त्वार्थसूत्र के दोनो पाठों मे आए हुए भाषागत परिवर्तन की छान-बीन से करेंगे। इसके लिए सबंधित सूत्रों को उनकी विशेषताओ के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभाजित किया गया है और उनका मूल्याकन इस आधार पर किया गया है कि कहाँ

८ : १० ….कषाय-नोकषाय ..
(९) ….अकषाय-कषाय

सूत्र ६ : (५) में शब्दक्रम मानसिक किंवा आत्मिक प्रक्रिया पर आधारित कार्य-कारणभाव के क्रमानुसार प्रतीत होता है अथवा साम्परायिक आस्रव के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण के रूप मे इन्द्रिय पर बल दिया गया है। स्थानाग ५.२५१७ और समवायाग ५ में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच आस्रव-द्वार बतलाए गए है। इन्हे तत्त्वार्थसूत्र ८ : १ मे बन्ध के कारण कहा गया है। बाद के ग्रंथो मे प्रमाद को प्रायः अविरति अथवा कषाय के अतर्गत रखा गया है। सूत्र ६ : ६ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने आगमिक परपरा का अनुगमन किया है। सूत्र ६ : ७ मे यह अधिक स्पष्ट है—प्रथम, क्योकि भाव और वीर्य क्रिया के आत्मिक और कायिक रूप है; द्वितीय, क्योकि अधिकरण का अगले ही सूत्र मे प्रतिपादन किया गया है। सूत्र ८ : १० का श्वेताम्बर पाठ व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है। कर्मशास्त्रियों ने नोकषाय शब्द का एक पारिभाषिक शब्द के रूप मे प्रयोग किया है। अकषाय शब्द अर्थ के विषय मे भ्रम मे डालने वाला है।

२, (०), [१]

३. ९ : ३१ (३२) वेदनायांश्च
३२ (३१) विपरीतं मनोज्ञस्य

सूत्र ९ : ३१ (३२) अमनोज्ञ से संबधित है, अतः द क्षण (दिगम्बर) पाठ का ठीक अर्थ नही निकलता है।

१, (०), [०]

२. संयुक्तीकरण

५ : २२ वर्तना परिणामः क्रिया ..
(२२) वर्तनापरिणामक्रियाः ….
६ : १३ भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयम….
(१२) भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयम

शब्दों के संयुक्तीकरण से अभिव्यक्ति के अधिक सौष्ठव की प्रतीति के बावजूद प्रत्येक की महत्त्वपूर्ण अवधारणा की अनुभूति मे कुछ कमी आ जाती है, अतः श्वेताम्बर पाठ अधिक उपयुक्त है।

२, (०), [०]

३. शब्दविन्यास

१ ६ : १६ बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः
(१५) „ „ नारकस्यायुषः
७ : ४ ··इहामुत्र च ··
(९) ···इहामुत्र····
७ : ७ ···स्वभावौ च संवेग····
(१२) ·· „ वा „ ····

सूत्र ६ : १६ एव ७ : ४ मे 'च' संयोजक अनावश्यक है, किन्तु सूत्र ७ · ७ (१२) में 'वा' के स्थान पर 'च' अधिक उपयुक्त है।

१, (२), [०]

२ १ : २७ ···सर्व-द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु [५ : २ भाष्य—उक्तं हि 'द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ··]
(२६) ··द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु
२ : ५ ··दानादि-लब्धय ···
(५) ··· लब्धय ···
२ : ७ जीव भव्याभव्यत्वादीनि च
(७) जीव भव्याभव्यत्वानि च
२ : २१ ····शब्दास्तेषामर्थाः
(२०) ··शब्दास्तदर्थाः
३ : १ ··· ऽधोऽधः पृथुतराः [भाष्य—रत्नप्रभा ···सप्त अधोऽधः]
(१) ·· ऽधोऽधः'
४ : ९ 'प्रवीचाराः द्वयोर्द्वयोः
(८) ····प्रवीचाराः
४ : १३ 'सूर्याश्चन्द्रमसो ···
(१२) ···सूर्याचन्द्रमसौ····
४ : ५२ जघन्या त्वष्टभागः
(४१) तदष्ट-भागोऽपरा
६ : १५ ····तीव्रात्म-परिणाम ··
(१४) ··· तीव्र परिणाम····
६ : २३ ···संघ-साधु-समाधि ···
(२४) ····साधु-समाधि ···
७ : २९ ····आदान-निक्षेप····

(३४) · · आदान ···
७ : ३२ ··· निदान-करणानि
(३७) · · निदानानि
१० : ६ · ·परिणामाच्च तद्गतिः
(६) ··परिणामाच्च

सूत्र १ : (२६) मे 'सर्व' शब्द जोड़ देने से उसके अर्थ की सदिग्धता दूर हो जाती है। 'लब्धि' शब्द अन्य अर्थों मे भी प्रयुक्त होता है, अतः सूत्र २ : ५ मे 'दानादि' शब्द आवश्यक है। सूत्र २ : ७ मे 'आदीनि' शब्द जीव के उन भावो के लिए प्रयुक्त किया गया है जिनका उल्लेख पूर्व के सूत्रों में नही हुआ है, उदाहरणार्थ कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि। 'च' शब्द से वैसा अर्थ प्रकट नही हो सकता। उससे द्रव्य के सामान्य स्वरूप जैसे अस्तित्व, गुणवत्त्व आदि का ही बोध होता है। इसलिए इस सूत्र में 'आदीनि' शब्द अपेक्षित है। सूत्र २ : (२०) मे 'तद्' शब्द से अस्पष्टता उत्पन्न होती है। सूत्र ३ : १ मे 'पृथुतरा:' शब्द होने से जैनमतानुसार अधोलोक की रचना का तात्पर्य बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। सूत्र ४ : ९ का श्वेताम्बर पाठ अर्थ को अधिक स्पष्ट करता है। सूत्र ४ : १३ मे जैनमतानुसार चन्द्र और सूर्य की अनेकता को सुस्पष्ट किया गया है। सूत्र ४ : ५२ (४१) मे श्वेताम्बर पाठ से अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। 'परिणाम' शब्द कषाय-परिणाम, लेश्या-परिणाम, योग-परिणाम आदि अर्थों मे प्रयुक्त होता है, इसलिए सूत्र ६ : १५ में 'आत्म परिणाम' शब्द अधिक स्पष्ट अर्थ का द्योतक है। 'सत्र' एक स्वतत्र अवधारणा है, अतः सूत्र ६ : (२४) मे उसका समावेश आवश्यक है। 'आदान-निक्षेप' एक पारिभाषिक शब्द है, अतः यह उसी प्रकार रखा जाना चाहिए जैसे सूत्र ७ २९ मे है। जहाँ तक सूत्र ७ · ३२ (३७) का प्रश्न है, शेष सभी शब्द सज्ञा और क्रिया के संयुक्तरूप में हैं, इसलिए 'निदान-करणानि' पाठ अधिक सगत है। सूत्र १० · ६ (६) का विषय 'तद्-गति' है, इसलिए उसका उल्लेख सूत्र में होना चाहिए।

१३, (०), [०]

बावजूद १ : २३ यथोक्त-निमित्तः · ·· ··· [भाष्य—यथोक्त-निमित्त- क्षयोपशम-निमित्त इत्यर्थः]
आ जाती है, अत·
·पशम-निमित्तः,····

२ : ३८ तेषां परंपरं सूक्ष्मम्
(३७) परंपरं सूक्ष्मम्
३ : १० तत्र भरत ··
(१०) भरत ···
६ : २२ विपरीतं शुभस्य
(२३) तद्-विपरीतं शुभस्य
७ : ६ मैत्री-प्रमोद कारुण्य-माध्यस्थानि सत्त्व गुण
(११) „ „ „ च सत्त्व-गुण
८ : ७ मत्यादीनाम्
(६) मति-श्रुतावधि-मन.पर्यय-केवलानाम्
८ : १४ दानादीनाम् [भाष्य—अन्तरायः पञ्चविधः/ तद्यथा-दानस्यान्तरायः, लाभस्यान्तरायः]
(१३) दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम्
९ : १८ 'यथाख्यातानि चारित्रम्
(१८) ·· यथाख्यातमिति चारित्रम्

यहाँ श्वेताम्बर पाठ मे भाष्य के व्याख्यात्मक शब्द जोड देने से, या अनावश्यक शब्द निकाल देने से, या कम-से-कम शब्द बढा देने से बननेवाले दिगम्बर सूत्रो द्वारा अधिक स्पष्ट अर्थ प्रकट होता है। सूत्र ८ : ७ और १४ मे प्रयुक्त 'आदि' शब्द के लिए पिछले सूत्र १ . ९ और २ : ४ देखने चाहिए। सर्वार्थसिद्धि के उल्लेखानुसार सूत्र ९ : (१८) मे प्रयुक्त 'इति' शब्द के समाप्तिसूचक होने से सूत्र ९ : २ (२) के व्याख्यान की समाप्ति का संकेत मिल जाता है जिससे स्पष्टीकरण मे निश्चित रूप से सुविधा होती है।

० , (८) , [०]

४. ३ : २ तासु नरकाः [भाष्य—रत्नप्रभायां नरकवासानां त्रिंशच्छतसहस्राणि/शेषासु पञ्चविंशतिः ······ नरक-शतसहस्रम्—इत्याषष्ठ्याः]
(२) तासु त्रिंशत्-पंचविंशति ·· यथाक्रमम्
७ : २७ ··· पभोगाधिकत्वानि
(३२) पभोग-परिभोगानर्थक्यानि
८ : ८ ····स्त्यानगृद्धि वेदनीयानि च
(७) ··· स्त्यानगृद्धयश्च

ये सूत्र विभिन्न प्रकार के है। इनके पाठभेद का मूल्यांकन करना जरा कठिन है। सूत्र ८ : ८ में प्रत्येक प्रकार की निद्रा के साथ 'वेदनीय' शब्द जोड़ देने से उसकी अनुभूति का निश्चित भाव प्रकट होता है। वैसे इस शब्द को सूत्र से निकाल देने पर भी उसके भाव मे कमी नही आती है।

० , (०), [३]

योग १९, (१०), [६] ३५

४ दो सूत्रों की एक सूत्र में अभिव्यक्ति

१. दिगम्बर पाठ के दो सूत्रो का श्वेताम्बर पाठ के एक सूत्र में समावेश—

५ : २ द्रव्याणि जीवाश्च

(२-३) द्रव्याणि/जीवाश्च

६ : १८ अल्पारम्भ परिग्रहत्वं स्वभाव-मार्दवार्जवं च मानुषस्य

(१७-१८) अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य/स्वभाव-मार्दवं च

यहाँ सूत्र ५·२ का सूत्र (२) और (३) में विभाजन उचित मालूम पड़ता है। सूत्र ६ १८ मे 'आर्जव' शब्द का रहना ठीक ही है, क्योंकि अल्पारम्भ आदि एव स्वभाव-मार्दव आदि की अवधारणा मे बहुत अन्तर नही है। ० , (१), [१]

२. श्वेताम्बर पाठ के दो सूत्रों का दिगम्बर पाठ के एक सूत्र मे समावेश—

१ : २१-२२ द्वि-विधोऽवधिः/भव-प्रत्ययो नारक देवानाम्

(२१) भव-प्रत्ययोऽवधिर्देव-नारकाणाम्

५ : ७ ८ असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयो /जीवस्य

(८) असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्

६ : ३-४ शुभः पुण्यस्य/अशुभः पापस्य

(३) शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य

८ : २-३ सकषायत्वाज्जीवः ... पुद्गलान् आदत्ते/स बन्धः

(२) सकषायत्वाज्जीवः ... पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः

९ : २७-२८ ....ध्यानम्/आ-मुहूर्तात्

(२७) .. ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्

१० : २-३ बन्ध-हेत्वभाव-निर्जराभ्याम्/कृत्स्न-कर्म-क्षयो मोक्षः

(२) बन्ध हेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः

इनमें दिगम्बर सूत्रकार का प्रयत्न एक ही विषय से संबंधित दो सूत्रो को एक सूत्र में निबद्ध करना रहा है। सूत्र १:२१-२२ अर्थ को अधिक स्पष्ट करते हैं। श्वेताम्बर सूत्र ५.७-८ ठीक हैं, क्योकि धर्म-अधर्म और जीव दो विभिन्न वर्गों से सबधित हैं। सूत्र ६:३-४ को एक सूत्र में भी रखा जा सकता है किन्तु जोर देने के लिए ही संभवत· इन्हे दो सूत्रो मे रखा गया है। इस ग्रन्थ मे जो शब्द 'स' सर्वनाम से प्रारम्भ होता है उससे बिना अपवाद के नए सूत्र का निर्माण होता है, जैसे २·८-९ (८-९), ६:१-२ (१-२), ८.२२-२३ (२२-२३) तथा ९:१-२ (१-२)। यह नि·सदेह सूत्रकार की रचना-शैली है। यही शैली सूत्र ८:२-३ मे भी है। सूत्र ९·२७-२८ या ९. (२७) मे ध्याता, ध्यान एव उसके काल की परिभाषा दी गई है। इसमें तीन भिन्न-भिन्न बातें समाविष्ट है, अतः प्रत्येक का स्वतंत्र रूप से विचार करना उचित था। इस दृष्टि से कोई भी पाठ ठीक नही है। श्वेताम्बर सूत्र १०:२ का कोई औचित्य नही है। इसके भाष्य से स्पष्ट है कि इसे सूत्र १०:१ के साथ होना चाहिए, क्योकि इसमे जीवन्मुक्ति के कारणो का उल्लेख है। केवलज्ञान के प्रकट होने के कारणों का उल्लेख सूत्र १०:१ मे कर दिया गया है और वे ही जीवन्मुक्ति की अवस्था को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं। अत. सूत्र १०.२ व्यर्थ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इससे विरोध भी उत्पन्न होता है। सयोग-केवली अवस्था में अन्त तक तीन प्रकार के योग रहते हैं, इसलिए ईर्यापथिक बन्ध का कारण उस समय भी उपस्थित रहता है, यद्यपि बन्ध की स्थिति अति अल्पकाल की होती है। अत· यह कथन कि 'बन्ध-हेतु-अभाव' सयोग·केवलित्व के प्राप्त होने का कारण है, ठीक नही है। सूत्र १०:२ के भाष्य में हेत्वभावाच्चोत्तरस्याप्रादुर्भावः लिखा है। इसमें हेत्वभावात् से बन्धहेत्वभावात् अर्थ ही निकलता है, जिससे यह प्रकट होता है कि सूत्र १०.२ भी विदेहमुक्ति के कारण के रूप में है। अतः सूत्र १०:२ संदिग्ध है। इसलिए स्पष्टता की दृष्टि से दिगम्बर पाठ ठीक है।

३, (१), [२]

योग ३, (२), [३] ·· ·· ·८

कुल योग २२, (१२), [९] ·· ४३

भाषागत परिवर्तन के विश्लेषण से प्रतीत होता है कि दोनो परपराओ मे मान्य तत्त्वार्थसूत्र के उपर्युक्त ४३ उदाहरणो मे से २२

श्वेताम्बर-सम्मत पाठ अधिक स्पष्ट अर्थवाले हैं, जब कि दिगम्बर पाठ मे ऐसे केवल १२ ही उदाहरण है, शेष ९ उदाहरण अनिर्णीत हैं। व्याकरण और पदविन्यास की दृष्टि से पूज्यपाद ने तत्त्वार्थ के सूत्रों को निम्न रूप मे परिमार्जित किया है—१ एक तरह के भावों का सयुक्तीकरण करने के लिए दो सूत्रो का एक सूत्र मे समावेश, २ शब्द-क्रम को समायोजना, ३ अनावश्यक शब्दो को निकालना एवं स्पष्ट भाव की अभिव्यक्ति के लिए कम से कम शब्दों को जोडना तथा ४ 'इति' शब्द द्वारा सूत्रों को वर्ग मे बाँटना। ऐसा करने में तकनीकी दृष्टि से बहुत-सी गलतियाँ हुई है जिससे सूत्रो का ठीक-ठीक अर्थ समझने में कठिनाई होती है। इसका एक कारण है आगमिक परम्परा का दक्षिण भारत में अभाव और दूसरा है सूत्रकार की वास्तविक स्थिति को न समझना जिसने जैन सिद्धान्त को तथा अन्य मतों को बराबर ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ की रचना की। फिर भी इस छानबीन से स्पष्ट है कि भाषागत अध्ययन से किसी ऐसे निष्कर्ष पर नही पहुँचा जा सकता जिसके यह कहा जा सके कि अमुक परपरा मे तत्त्वार्थसूत्र मूल रूप मे है और अमुक ने दूसरे से लिया है। उपर्युक्त आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर पाठ आगमिक संदर्भ की दृष्टि से दिगम्बर पाठ से अधिक संगत है।

२. प्रत्येक आवृत्ति में सूत्रों का विलोपन

१ दिगम्बर पाठ मे सूत्रों का विलोपन

२ : १९ उपयोग. स्पर्शादिषु
४ : ४९-५१ ग्रहाणामेकम्/नक्षत्राणामर्धम्/तारकाणां चतुर्भाग
४ : ५३ चतुर्भागः शेषाणाम्
५ : ४२-४४ अनादिरादिमांश्च/रूपिष्वादिमान्/योगोपयोगौ जीवेषु
९ : ३८ उपशान्त-क्षीणकषाययोश्च

तत्त्वार्थसूत्र के कलकत्ता-संस्करण में यह लिखा है कि हस्तप्रति 'के' के किनारे पर ऐसा उल्लेख है कि कुछ आचार्य सूत्र २·१९ को भाष्य का अंश मानते हैं, किन्तु सिद्धसेन ने इसे सूत्ररूप मे ही स्वीकार किया है। संभवतः दिगम्बर पाठ में इसे भाष्य का अंश मानकर छोड़ दिया

गया। सूत्र ४·४९-५१ और ५३ छोटे हैं जिन्हे निकाल देने पर सदर्भ मे कोई कमी नही आती। सूत्र ५ ४२-४४ में परिणाम की व्याख्या दोषपूर्ण है, अतः इनका विलोपन ठीक ही है जिसका विवेचन प० सुखलालजी ने कर ही दिया है। सूत्र ९ ३८ के विलोपन के सबध मे तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर टीकाकारो का अपना मत है। इस प्रकार श्वेताम्बर पाठ को दिगम्बर पाठ मे सारूप से सुसमाहित किया गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि श्वेताम्बर पाठ मूल है और दिगम्बर पाठ में उसका परिष्कार किया गया है, क्योकि बाद की आवृत्ति पूर्व आवृत्ति को परिष्कृत करने के बजाय विगाड़ भी सकती है।

२ श्वेताम्बर पाठ मे सूत्रों का विलोपन

१. ४ : (४२) लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्
   ६ : (२१) सम्यक्त्वं च

२. २ : (४८) तैजसमपि [४९ भाष्य—तैजसमपि शरीरं लब्धि-प्रत्ययं भवति]
   २ : (५२) शेषास्त्रिवेदाः [५१ भाष्य—परिशेष्याच्च गम्यन्ते जराय्वण्ड-पोतजास्त्रिविधा भवन्ति–स्त्रियः पुमांसो नपुंसकानीति]
   ७ : (४-८) [भावनाओ का वर्णन सूत्र ३ के भाष्य मे है, यद्यपि दोनो पाठो मे थोड़ी भिन्नता है।]
   ८ : (२६) अतोऽन्यत्पापम् [२६ भाष्य—अतोऽन्यत्पापम्]
   १० : (७) आविद्ध-कुलाल - चक्रवद्-व्यपगत - लेपालाबुवद् - एरण्ड-बीजवद्-अग्नि-शिखावच्च [१० : ७ उपसहारकारिका १०-१२ और १४ मे नही अपितु ६ भाष्य मे आत्मा के ऊर्ध्वगमन के दूसरे एव चौथे कारण की अभिव्यक्ति थोड़ी उलझनपूर्ण है।]
   १० : (८) धर्मास्तिकायाभावात् [६ भाष्य और उपसहार-कारिका २२—धर्मास्तिकायाभावात्]

३. ३ : (१२-३२) [जम्बूद्वीप का वर्णन। दिगम्बर सूत्र (२४) का भरतः षड्विंशति-पञ्च-योजन-शत-विस्तारः षड्-चैकोन-विंशति-भागा योजनस्य और (२५) का तद्-द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदे-

हान्ताः ११ भाष्य मे इस प्रकार हैं—तत्र पंच योजनशतानि षड्विंशानि षट्चैकोन-विंशति-भागा भरतविष्कम्भः स द्विर्द्विर्हिमवद्-धैमवतादीनामा-विदेहेभ्यः। सूत्र (२७) का भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्-समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ४ : १५ भाष्य मे इस प्रकार है—ता अनुलोम-प्रतिलोमा अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यौ भरतैरावतेष्वनाद्यनन्तं परि-वर्तन्तेऽहो-रात्रवत्।]

४. ५ : (२९) सद्-द्रव्य-लक्षणम्

प्रथम वर्ग के सूत्र छोटे हैं, इसलिए उनके विलोपन से सदर्भ मे कमी नहीं आती। द्वितीय वर्ग के सभी दिगम्बर सूत्र भाष्य में उपलब्ध हैं, यहाँ तक कि कुछ तो शब्दशः हैं। भावनाओं के वर्णन से पूर्व सूत्र ७ : ३ (३) में इस प्रकार उल्लेख है—तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च। पदार्थों (भेदों) के उपभेद गिनाते समय सूत्रकार यथाक्रमम् शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ होता है 'सूत्रोक्तक्रम के अनुसार आगे का विवेचन करना।' सूत्र ७ : ३ (३) में यथाक्रमम् शब्द नही है, अतः भावनाओ का आगे विवेचन अभिप्रेत नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि दिगम्बर सूत्र ७ · (३) मूल नही है। इसी प्रकार सूत्र ३ : (२) है जिसमें परिगणित नरकों का आगे विवेचन नही है।

तृतीय वर्ग के दिगम्बर सूत्र ३ : (१२-३२) अर्थात् तीसरे अध्याय के ३९ सूत्रों मे से २१ श्वेताम्बर आवृत्ति में अनुपलब्ध हैं। इनमें से तीन सूत्र अर्थात् (२४,२५, २७) ३ · ११ और ४ · १५ के भाष्य मे उपलब्ध हैं, यद्यपि उनमे शब्दशः साम्य नही है। यहाँ पर विलुप्त सूत्रो की संख्या बहुत अधिक है, अत. श्वेताम्बर आवृत्ति मे जम्बूद्वीप का वर्णन ऊर्ध्व-लोक की तुलना में बहुत संक्षिप्त है। इन अतिरिक्त सूत्रों में निम्नोक्त बातें समाविष्ट हैं—१. जम्बूद्वीप का वर्णन जैसे पर्वत, ह्रद, सरित और क्षेत्र-विस्तार (१२-२६); २ विभिन्न क्षेत्रों मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरो मे वृद्धि और ह्रास तथा मनुष्यो की आयु (२७-३१) ३ भरतक्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप का एक सौ नब्बेवाँ भाग (३२)। इनमे से प्रथम वर्ग के सूत्रों से जम्बूद्वीप की भौगोलिक रचना के सबध में निश्चित जानकारी प्राप्त होती है जिसका श्वेताम्बर आवृत्ति में क्षेत्रों और पर्वतो द्वारा केवल निर्देश किया गया है। द्वितीय एवं

तृतीय वर्ग के सूत्र अधिक महत्त्व के हैं। इनमे से विशेष महत्त्वपूर्ण सभी सूत्र भाष्य में उपलब्ध हैं। समग्ररूप से देखा जाए तो इन सूत्रो का अधिक महत्त्व है क्योकि पश्चिमी परपरा की हस्तलिखित प्रतियो मे इस अध्याय मे इन दिगम्बर सूत्रो का अधिक से अधिक समावेश हुआ है। जम्बूद्वीपसमास नामक एक अन्य प्रकरण मे, जिसके रचयिता उमास्वाति ही माने जाते हैं, छः क्षेत्रो और छः पर्वतो का भौगोलिक वर्णन इसी क्रम से है। इसमें मध्य के कुरु और विदेह के चार क्षेत्रों को छोड दिया गया है जिनका वर्णन द्वितीय आह्निक मे किया गया है। इसमें हिमवान् पर्वत के वर्णन मे उसके रंग की चर्चा है [तुलना करें—सूत्र ३ : (१२)]। तत्पश्चात् उस पर अवस्थित ह्रद का नाम [तुलना करें—सूत्र (१४)], उसका विस्तार [तुलना करें—सूत्र (१५-१६)], उसके बीच मे एक योजन का पुष्कर [तुलना करें—सूत्र (१७)], उसमे निवास करनेवाली देवी का नाम [तुलना करें—सूत्र (१९)], उससे प्रवहमान युग्म सरिताओ के नाम [तुलना करें—सूत्र (२०)] और उनकी दिशाओ का वर्णन है [तुलना करें—सूत्र (२१-२२)]। प्रत्येक वर्षधर पर्वत के वर्णन मे उसके रंग एवं ह्रदो, देवियो और नदियो के नामों तथा नदियो की दिशाओ का निर्देश है। तत्त्वार्थसूत्र मे शिखरी पर्वत को हेम रंग का कहा गया है, जब कि जम्बूद्वीपसमास में उसे तपनीय रंगवाला माना गया है। सूत्र ३ : (१६) चतुर्थ आह्निक में भी है—वापी कुण्ड-ह्रदा दशावगाहाः। इसी प्रकार सूत्र ३ : (२६) और (३२) भी इस आह्निक मे है—मेरूत्तरासु विपर्ययः तथा रूपादि-द्विगुण-राशिगुणो द्वीप-व्यासो नवति-शत-विभक्तो भरतादिषु विष्कम्भः।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि दिगम्बर सूत्रो ३ : (१२-३२) की रचना भाष्य और जम्बूद्वीपसमास के आधार पर की गई है। तार्किक दृष्टि से दूसरे रूप में यह भी कहा जा सकता है कि भाष्य तथा जम्बूद्वीपसमास की रचना दिगम्बर पाठ के आधार पर की गई है। श्वेताम्बर पाठ के १-३ वर्गों के सूत्रों के विलोपन के आधार पर अब तक जो विश्लेषण किया गया उससे यह प्रमाणित होता है कि श्वेताम्बर पाठ मूल रूप में है, क्योंकि सूत्र-शैली में यथाक्रमम् शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। किन्तु इसके आधार पर सपूर्ण पक्ष की सिद्धि नही हो सकती। सामान्य तौर से देखा जाए तो शब्दो एवं सूत्रो के विलोपन या वृद्धिकरण से किसी एक पाठ की प्रामाणिकता निश्चित रूप से सिद्ध नही हो सकती जिससे यह कहा जा सके कि दूसरा पाठ उस

पर आधृत है। अब तक का हमारा प्रयत्न अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे असफल रहा है।

अब चतुर्थ वर्ग के सूत्रो की छानबीन करें। श्वेताम्बर आवृत्ति में सद्-द्रव्य लक्षणम् ५ : (२९) सूत्र नहीं है, जब कि दिगम्बर आवृत्ति मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत् [२९ (३०)] के ठीक पहले यह सूत्र आया है। यहाँ प्रश्न यह है कि सत् का यह कथन किस सदर्भ मे है ? इसका पुद्गल के अन्तर्गत अर्थात् सूत्र ५ · २३-३६ के सन्दर्भ मे निरूपण किया गया है जिनमे से सूत्र २५-२८ और ३२-३६ मे अणु-स्कंधो का इस प्रकार वर्णन है ·

अणु-स्कन्ध { २५-२८ { २५ अणु-स्कन्ध पुद्गल के भेदो के रूप मे
२६-२७ अणु-स्कन्ध की उत्पत्ति
२८ स्कन्ध के चाक्षुष होने का हेतु
३२-३६ पौद्गलिक बन्ध की प्रक्रिया

सत्-नित्यत्व { २९ सत् की त्रिरूपात्मक व्याख्या
३० नित्यत्व की व्याख्या
३१ सूत्र २९-३० की युक्तियुक्तता

(द्रव्य ३७-४४ गुण पर्याय-परिणाम, काल)

इन सूत्रों की समायोजना से आश्चर्य होता है कि सूत्र ५ : २९-३१ अणु-स्कन्ध के साथ क्यो रखे गए हैं जब कि द्रव्य के साथ उनका निरूपण करना उचित था। इस समस्या के हल के लिए इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है कि सूत्र ५ : (२९) बाद मे जोड़ा गया या नही।

सूत्र ५ : २८ के भाष्य मे लिखा है—धर्मादीनि सन्तीति कथं गृह्यत इति/अत्रोच्यते/लक्षणतः। इसमे स्पष्ट उल्लेख नही है कि द्रव्य सत्-लक्षणयुक्त है, जैसा कि सूत्र ५ · (२९) की सर्वार्थसिद्धि मे यत् सत् तद् द्रव्यमित्यर्थः के रूप मे है। भाष्य मे यह फलितार्थ है। भाष्य यह प्रतिपादित करता है कि सत् के स्वरूप के आधार पर ही इन द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। इससे अगले सूत्र की भूमिका बनती है। पदार्थों की सत्ता सिद्ध करने की यह आनुमानिक पद्धति जैन आगम की नही है। इसका स्रोत उमास्वाति के समय विद्यमान जैनेतर साहित्य मे ढूँढ़ना चाहिए। चन्द्रानन्दकृत वैशेषिकसूत्र के चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक मे लिखा है—सदकारणवत् तन्नित्यम्। १। तस्य कार्यं लिङ्गम्। २। कारणाभावाद्धि कार्याभावः। ३। अनित्यम्—इति च विशेष-प्रतिषेध भावः। ४। महत्यनेकद्रव्यत्वात् रूपाच्चोप-

लब्धिः । ६ । अद्रव्यवत्त्वात् परमाणवनुपलब्धिः । ७ । संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपि-द्रव्य-समवायात् चाक्षुषानि । १२ । अरूपिष्वचाक्षुषत्वात् । १३ ।—परमाणु की सत्ता का अनुमान उसके कार्य से होता है, क्योकि परमाणु नित्य और अचाक्षुष है । जो महत् है वह चाक्षुष होता है क्योकि उसमे अनेक द्रव्य हैं और वह रूपी है । रूपी द्रव्य के साथ सख्या आदि विविध गुणो का जो समवाय सम्बन्ध है उसी के कारण पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं । जो सत् और कारणरहित है उसे नित्य कहा गया है । अतः यहाँ सत्-नित्य, अणु-स्कन्ध और चाक्षुष-अचाक्षुष की समस्या उठाई गई है और वस्तुतः परमाणु-महत् के इसी सन्दर्भ मे सत्सामान्य का विषय लिया गया है । दूसरे शब्दो मे, सूत्र ५ : २९–३१ में सत्-नित्य सम्बन्धी जो व्याख्या है वह अणु-स्कन्ध के उत्पाद और चाक्षुपत्व को लेकर है अर्थात् पुद्गल के ही सन्दर्भ मे है, न कि द्रव्य के सम्बन्ध से सत् के स्वरूप के विषय में । यदि इस प्रकार के सत् का स्वरूप सूत्रकार को अभीष्ट होता तो द्रव्य के विषय मे भी यही प्रश्न उठाया जाता, जैसा कि पंचास्तिकाय मे है, किन्तु यहाँ वैसा अभीष्ट नही था । इसलिए सद् द्रव्य-लक्षणम् सूत्र प्रस्तुत सदर्भ में उपयुक्त प्रतीत नही होता और बाद मे जोड़ा गया मालूम होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्र ५ : (२९) तत्त्वार्थसूत्र का मूल पाठ नही है ।

जहाँ तक दोनो आवृत्तियो मे सूत्रो के विलोपन का प्रश्न है जिनका कि ऊपर चार वर्गों में विचार किया गया है, दिगम्बर पाठ श्वेताम्बर पाठ से अधिक सशोधित प्रतीत होता है । यह संशोधन प्रथम वर्ग के सूत्र ५ : ४२–४४ के त्रुटिपूर्ण परिणाम-स्वरूप को हटाकर, द्वितीय वर्ग के सूत्र मे भाष्य ७ : ३ की महत्त्वपूर्ण भावनाओ की वृद्धि करके और तृतीय एवं चतुर्थ वर्ग के सूत्र ३ : (१२–३२) एवं ५ : (२९) की पूर्ति करके किया गया है जो निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है । पश्चिमी भारत की परम्परा की हस्तलिखित प्रतियो मे भी द्वितीय वर्ग के दिगम्बर सूत्र ८ : (२६) एवं १० : (७–८) का प्रायः सम्मिश्रण है । यों किसी भी पाठ की मौलिकता-अमौलिकता को सिद्ध करने का निश्चित आधार केवल चतुर्थ वर्ग का सूत्र ५ . (२९) ही है किंतु गौण प्रमाण के रूप में सूत्रकार की शैली भी है जो द्वितीय वर्ग के सूत्र ७ : ३ (३) और ७ . (४–८) के संबंध से ज्ञात होती है ।

३. सूत्रगत मतभेद

निम्नोक्त आठ विषय और दो प्रकरण मुख्य मतभेद के विषय हैं, जिनका बाद में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाएगा। इनमे दोनो परम्पराओं की सैद्धान्तिक विषमताओं तथा तत्त्वार्थसूत्र के दोनो संस्करणों में उपलब्ध विभिन्न मतों का समावेश किया गया है। हम सर्वप्रथम दोनो संस्करणों में प्राप्त मतभेद के आठ विषयो की चर्चा करेंगे।

१. १ : ३४–३५ नय पाँच प्रकार के हैं : नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द।
—आवस्सय निज्जुत्ति १४४ से यह समर्थित है।

(३३) समभिरूढ़ और एवभूत के समाविष्ट करने पर इनकी सख्या सात हो जाती है।
—अनुओगदार ९५३; आवस्सय निज्जुत्ति ७५४

सिद्धसेन दिवाकर ने छः नय भी माने हैं परन्तु दोनो परंपराओ के अधिकाश विद्वान् सात नय ही मानते हैं। अतः इस प्रकार की भिन्नता को, जिसका विकास विभिन्न स्तरो पर हुआ होगा, वस्तुतः मतभेद नही कहा जा सकता।

२. २ : १३–१४ स्थावर तीन प्रकार के हैं : पृथ्वी, अप् और वनस्पति।
तेजस् और वायु त्रस हैं।
—ठाण ३. ३. २१५, जीवाजीवाभिगम १ २२ आदि, उत्तरज्झयण ३६ ६०–७० आदि।

(१३) स्थावर पांच प्रकार के हैं : पृथ्वी से वनस्पति पर्यन्त।
—ठाण ५. १. ४८८; प्रशमरति १९२

३. २ : ३१ अन्तराल-गति में जीव तीन समय तक अनाहारक रहता है।
—भगवई ७. १. २५९; सूयगड निज्जुत्ति १७४

(३०) दो समय तक ही रहता है।
—पण्णवणा ११७५ अ (दीक्षित, जैन ऑण्टोलॉजी, पृ० ८७)

४. २ : ४९ आहारक-शरीर चतुर्दश-पूर्वधर के होता है।

(४९) यह प्रमत्त-सयत के होता है।

—पण्णवणा २१. ५७५

यथार्थत: यह मतभेद नही है अपितु व्याख्यात्मक भिन्नता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो के अनुसार आहारक-शरीर केवल चतुर्दश-पूर्वधर के ही होता है तथा उसके प्रयोग के समय वह अनिवार्यत प्रमत्त-सयत होता है। दोनों परंपराओ के अनुसार सभी प्रमत्त-संयत आहारक-शरीरवाले नही होते।

५ ४ : २ ज्योतिष्को के तेजोलेश्या होती है तथा भवन-वासी एव व्यन्तरो के चार लेश्याएँ होती हैं—कृष्ण से तेजस् तक।

—ठाण १. ७२

(२) चार लेश्याएँ तीन देव-निकायो मे पायी जाती हैं—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क।

६. ४ . ३, २० वारह कल्प।

—आगम मे १२ कल्प एकमत से मान्य हैं: पण्णवणा ५. २४३, उत्तरज्झयण ३६ २११–१२

(३, १९) सूत्र ४ · (३) मे १२ कल्प माने गए हैं किन्तु सूत्र ४ : (१९) मे १६ कल्प गिनाए गए हैं। —तिलोयपण्णत्ति ८. ११४ मे ५२ कल्पो की गणना की गई है।

७. ५ : ३८ कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं।

(३९) काल भी द्रव्य है।

आगमिक परपरा मे लोक का विवेचन पाँच अस्तिकायो अथवा छ. द्रव्यो के रूप मे किया गया है। द्वितीय मत मे काल को स्वतंत्र द्रव्य माना गया है, जैसे उत्तरज्झयण २८ ७–८। प्रथम मत मे काल को या तो पाँच अस्तिकायो से बिलकुल अलग रखा गया या उसे जीव और अजीव के पर्याय के रूप मे माना गया। अतएव इस विषय में कोई सैद्धान्तिक विषमता नही है।

८. ८ : २६ सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुपवेद का पुण्य-कर्मों में समावेश।

(२५) इनका पुण्य-कर्मों मे असमावेश।

सिद्धसेनगणि ने इन चार कर्मों को पुण्य के अन्तर्गत रखना उचित नहीं माना है, किन्तु उन्होने ऐसी कारिकाएँ उद्धृत की हैं जिनसे दोनों मतो का समर्थन होता है।

उपर्युक्त आ[illegible]ओं में से तीन मे अर्थात् दूसरे, तीसरे और आठवें में दोनों मतों की पुष्टि आगमिक परंपरा द्वारा होती है, तीन में अर्थात् पहले, चौथे और सातवें मे वास्तव मे मतभेद नही है; शेष दो अर्थात् पाँचवाँ और छठा विशेष महत्त्व के नही हैं। दोनों परंपराओं के ग्रंथों में उपलब्ध इन विभिन्न मतो से यह निर्णय नही हो सकता कि कौन-सा पाठ मूल है। यहाँ भी हमे नि[illegible]राशा ही होती है।

अब हम मतभेद के दो प्रकरणो की छानबीन करेंगे। ये इस प्रकार हैं—१ पौद्गलिक बन्ध के नियम और २. परीषह। द्वितीय प्रकरण में दोनो आवृत्तियो का सूत्र अभिन्न है, जब कि प्रथम प्रकरण मे सूत्रों में थोड़ी भिन्नता है।

१. पौद्गलिक बन्ध के नियम

सूत्र ५ : ३२–३६ (३३–३७) मे पौद्गलिक बन्ध का निरूपण इस प्रकार किया गया है :

५ : ३२ (३३) स्निग्ध-रूक्षत्वाद्-बन्धः
३३ (३४) न जघन्य-गुणानाम्
३४ (३५) गुण साम्ये सदृशानाम्
३५ (३६) द्व्यधिकादि-गुणानां तु
३६ बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ
(३७) बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च

दोनो पाठो में उपर्युक्त सूत्र अभिन्न रूप मे है, केवल सूत्र ३६ (३७) मे थोडी भिन्नता है। सूत्र ५ : ३३–३५ (३४–३६), जिनमे बन्ध के नियमो का पुद्गल के सदृश और विसदृश दोनों प्रकार के गुणांशों की दृष्टि से निरूपण किया गया है, दोनो परंपराओ में बिना किसी पाठ-भेद के उपलब्ध हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से उनकी टीकाओं मे अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :

गुणांश	श्वे० टीकाएँ		दिग० टीकाएँ	
	सदृश	असदृश	सदृश	असदृश
१. जघन्य+जघन्य	नही	नही	नही	नही
२. जघन्य+एकाधिक	नही	है	नही	नही
३. जघन्य+द्वयधिक	है	है	नही	नही
४. जघन्य+त्र्यादि अधिक	है	है	नहीं	नही
५. जघन्येतर+सम जघन्येतर	नही	है	नही	नही
६. जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नही	है	नही	नही
७. जघन्येतर+द्वयधिक जघन्येतर	है	है	है	है
८. जघन्येतर+त्र्यादि जघन्येतर	है	है	नही	नही

अभिन्न सूत्रो के अर्थ मे इतनी भिन्नता का होना आश्चर्य की बात है। सूत्र ३३-३५ (३४-३६) मे प्रतिपादित पौद्गलिक बन्ध के नियमो के परिप्रेक्ष्य मे आठो उदाहरणो मे बन्ध की सम्भावना और असम्भावना की गवेषणा से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि ये सूत्र श्वेताम्बर परम्परा-सम्मत अर्थ के अनुरूप हैं, दिगम्बर परम्परा-सम्मत अर्थ से इनका तालमेल नही बैठता। इन सूत्रो के भाष्य से सूत्रो से अधिक जानकारी प्राप्त नही होती, यद्यपि कुछ उदाहरणो के द्वारा उन्हे समझने में सहायता मिलती है। वास्तव मे सूत्र ३३-३५ के लिए भाष्य की विशेष आवश्यकता नही है, क्योकि अपना अर्थ स्पष्ट करने मे ये स्वयं सक्षम हैं। तब प्रश्न उठता है कि दिगम्बर टीकाओ मे इन सूत्रो का इतना भिन्न अर्थ क्यो किया गया है? इसकी छानबीन सर्वार्थसिद्धि के अनुसार की जाएगी, क्योकि राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक मे पूज्यपाद से भिन्न कुछ भी नही कहा गया है।

पूज्यपाद ने सूत्र ५ : (३५) के सदृश शब्द का अर्थ 'तुल्य-जातीय' किया है जो श्वेताम्बर परम्परा से असंगत नही है। 'समान गुणांश होने पर सदृश परमाणुओ का बन्ध नही होता'—सूत्र (३५) का यह अर्थ निम्नोक्त उदाहरणो से ज्ञात होता है :

१. असदृश दो स्निग्ध+दो रूक्ष, तीन स्निग्ध+तीन रूक्ष

२. सदृश दो स्निग्ध+दो स्निग्ध, दो रूक्ष+दो रूक्ष

यहाँ निषेध का नियम असदृश उदाहरणों पर भी लागू किया गया है जिससे सूत्र के कथन का निश्चित रूप से खण्डन होता है। अतएव

Vishva Bharati Instit

यह प्रश्न उठता है—यद्येवं सदृश-ग्रहणं किमर्थम् ? जिसका यह उत्तर दिया गया है—गुण-वैषम्ये सदृशानामपि बन्ध-प्रतिपत्त्यर्थं सदृश-ग्रहणं क्रियते। यह उत्तर नि संदेह सूत्र ५ : ३४ के भाष्य से लिया गया है। सदृशानाम् शब्द की अस्पष्ट स्थिति की आगे छानबोन नही की गई है। पौद्गलिक बन्ध के होने या न होने की बात सर्वार्थसिद्धि में सक्षेप मे इस प्रकार है :

१. सम गुणाश	(अ) सदृश परमाणुओ मे	(नही)
	(ब) असदृश परमाणुओ मे	(नही)
२. विषम गुणांश	(अ) सदृश परमाणुओ मे	(है)
	(ब) असदृश परमाणुओ मे	(है)

अतिम अवस्था अर्थात् २ (ब) का इसमें प्रतिपादन नही किया गया है, किन्तु अगले सूत्र से इस प्रकार के बन्ध की सम्भावना का बोध अवश्य हो जाता है। टीकाकार स्वय यह स्वीकार करता है कि सदृशानाम् शब्द का इस सदर्भ मे कोई अर्थ नही है। वास्तव मे यह अनावश्यक है क्योंकि इससे दिगम्बर सिद्धान्त के अनुसार होनेवाले पौद्गलिक बन्ध के स्वरूप के विषय मे भ्रम पैदा होता है।

सूत्र (३६) में दो गुणाश अधिक वाले परमाणुओ का बन्ध माना गया है। यहाँ द्व्यधिकादि शब्द का अर्थ 'द्व्यधिकता' किया गया है। इस सूत्र मे अभिप्रेत बन्ध का स्वरूप पूज्यपाद की दृष्टि मे इस प्रकार है :

१. असदृश	दो स्निग्ध + चार स्निग्ध, तीन स्निग्ध + पाँच स्निग्ध, चार स्निग्ध + छ. स्निग्ध ······ दो रूक्ष + चार रूक्ष आदि
२ असदृश	दो स्निग्ध + चार रूक्ष आदि

इस प्रकार सूत्र (३६) की टीकानुसार पौद्गलिक बन्ध के होने या न होने की स्थिति इस प्रकार है ·

१ दो गुणाश अधिक	(अ) सदृश परमाणुओ मे	(है)
	(ब) असदृश परमाणुओ में	(है)
२. अन्य गुणांश	(अ) सदृश परमाणुओं मे	(नही)
	(ब) असदृश परमाणुओं में	(नही)

सूत्र (३६) के इन नियमो द्वारा सूत्र (३५) के कथन का खण्डन होता है। सूत्र (३५) सर्वथा महत्त्वहीन एवं अनावश्यक है। पूज्यपाद ने दिगम्बर परम्परानुसार पौद्गलिक बन्ध के नियमों को स्पष्ट करने के लिए षट्खण्डागम ५. ६ ३६ से निम्न पद्य उद्धृत किया है :

णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवदि बंधो जहण्ण वज्जे विसमे समे वा॥

इस पद्य मे निम्न बातें समाविष्ट हैं :

१ दो गुणांश अधिक वालों का बन्ध होता है · { (अ) सदृश परमाणुओं में; (ब) असदृश परमाणुओं में }

२. इस नियम मे जघन्य गुणाशवालो का समावेश नही होता है : { (अ) सदृश परमाणुओं में; (ब) असदृश परमाणुओ में }

इन नियमो का, जिनमे दिगम्बर परम्परा मान्य उपर्युक्त पौद्गलिक बन्ध के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट किया गया है, सूत्र (३४) और (३६) के साथ तालमेल है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र (३५) अनावश्यक है। चूँकि दिगम्बर दृष्टि से पौद्गलिक बन्ध के लिए सूत्र ५ · (३५) मे प्रयुक्त गुण-साम्ये शब्द महत्त्वहीन है अत. सम शब्द को सूत्र ५ · ३६ से निकाल देना पड़ता है जिससे सूत्र (३७) के पाठ मे थोड़ा-सी भिन्नता आ जाती है। इसी प्रकार सूत्र ५ : (३५) के सदृशानाम् शब्द का इन नियमो से कोई तालमेल नही है। इसीलिए सर्वार्थसिद्धि मे इस शब्द की व्याख्या इतनी उलझनपूर्ण है।

सूत्र ५ : (३५) का स्वरूप त्रुटिपूर्ण होने से दिगम्बर सिद्धान्तानुसार पौद्गलिक बन्ध के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के बजाय भ्रान्ति उत्पन्न करता है जिससे यह प्रमाणित होता है कि सर्वार्थसिद्धि के ये सूत्र मौलिक नही हैं। सूत्र (३५) विना किसी विशेष विचार के अन्य सूत्रो के साथ अपना लिया गया मालूम होता है। इसीलिए द्व्यधिकादि शब्द का अर्थ 'द्व्यधिकता' किया गया प्रतीत होता है जो कि अप्रचलित और असंगत है। जहाँ 'द्व्यधिक' शब्द किसी भ्रम को प्रश्रय देनेवाला नहीं है वहाँ उसे षट्खंडागम के अनुकूल बना दिया गया है।

२. परीषह

९ : ११ (११) एकादश जिने

सूत्र ९ : ११ (११) इस प्रकार है—एकादश जिने अर्थात् जिन के ग्यारह परीषह होते हैं जो वेदनीय कर्म के कारण उत्पन्न होते है। वे ये है : क्षुत्, पिपासा, शीत, उष्ण, दश-मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण-स्पर्श और मल। सप्तमी के एकवचन मे प्रयुक्त जिने शब्द से यह अभि-व्यक्त नही होता कि वह केवल सयोग-केवली के लिए प्रयुक्त हुआ है अथवा सयोग-केवली एवं अयोग-केवली दोनो के लिए। इस सूत्र की टीकाएँ अर्थात् भाष्य और सर्वार्थसिद्धि से लेकर श्रुतसागर की वृत्ति तक सभी इस विषय मे मौन हैं। भगवतीसूत्र ८. ८ ३४२ मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि ये ग्यारह परीषह केवलित्व की दोनो अवस्थाओ में होते हैं। अयोग-केवली, जिसका काल अतर्मुहूर्त मात्र होता है, योग से सर्वथा मुक्त होता है, अत. उसके परीषह होने की कोई सम्भावना ही नही। इसलिए 'जिन' शब्द केवल सयोग-केवली के लिए ही प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए।

सूत्र ९ : ११ (११) दोनो परम्पराओ में समान रूप से प्रयुक्त हुआ है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार सयोग-केवली का वेदनीय कर्म उतना ही प्रभावकारी होता है जितने कि शेष तीन प्रकार के अघातिक कर्म, अतः इस सूत्र का श्वेताम्बर मान्यता से सर्वथा मेल है। दिगम्बर परम्परा में इस सूत्र का वही अर्थ नहीं है अपितु विपरीत अर्थ है अथवा तर्क के आधार पर सिद्धान्तरूप मे यदि यह अर्थ मान लिया जाए तब भी उसमें 'उपचार' के रूप में ही यह स्वीकार किया गया है। दिगम्बर टीकाकार यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जिनो के क्षुधा आदि परीषह नही होते. क्योंकि उनके मोहनीय कर्म नही होता जो कि असाता-वेदना का सहायक कारण है, यद्यपि द्रव्यरूप में वेदनीय कर्म उनमे विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों मे, उनमे वेदनीय कर्म द्रव्यरूप मे रहता है किन्तु भावरूप मे नही रहता, इसलिए उनके असाता-वेदना नहीं होती। सर्वार्थसिद्धि मे इसके लिए 'उपचार' का सहारा लिया गया है और इसी आधार पर सूत्र का तर्कसगत अर्थ भी स्वीकार किया गया है—ननु च मोहनीयोदय-सहायाभावात् क्षुदादि-वेदनाभावे परीषह-व्यपदेशो न युक्तः ? सत्यमेवमेतत्—वेदनाभावेऽपि द्रव्य-कर्म-सद्-भावापेक्षया परीषहोपचार. क्रियते, निरवशेषनिरस्त ...... ज्ञानातिशये चिन्ता-निरोधा-भावेऽपि तत्-फल-कर्म-निर्हरण-फलापेक्षया ध्यानोपचारवत्। अन्य दिगम्बर टीकाकारो ने पूज्यपाद का ही अनुसरण किया है। दोनों परंपराओं में

सैद्धान्तिक भिन्नता होने के कारण ही इस सूत्र के अर्थ में मतभेद है। यह भिन्नता केवली में कवलाहार मानने और न मानने के कारण है। दिगम्बर मतानुसार यह सूत्र ज्यों का त्यों स्वीकार नही किया जा सकता। वस्तुतः इस सूत्र में 'न' शब्द का अध्याहार करके उसका अर्थ करना चाहिए, जैसा कि सर्वार्थसिद्धि में किया गया है—अथवा— एकादश जिने 'न सन्ति' इति वाक्यशेषः कल्पनीयः, सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्।

तब इस संदर्भ में 'उपचार' की सार्थकता कैसे समझी जाए? पूज्यपाद के कथनानुसार जिन के परीषह परीषह नही होते क्योंकि उनमें वेदनारूप परीषह का अभाव होता है। मोहनीय कर्म की अनुपस्थिति में भाववेदनीय-कर्म (असाता-वेदना) का उदय नही होता। उनमे द्रव्य-वेदनीय-कर्म की सत्ता होने से उन्हें परीषह कहा जाता है। उदाहरणार्थ सूक्ष्म-क्रिया और समुच्छिन्न-क्रिया ध्यान नहीं हैं क्योंकि चिन्तानिरोध-रूप ध्यान का लक्षण उन पर लागू नही होता, किन्तु 'उपचार' से इन्हें ध्यान कहा जाता है क्योंकि इनसे कर्म निर्हरणरूप फल प्राप्त होता है। सूक्ष्म-क्रिया और समुच्छिन्न-क्रिया शुक्ल ध्यान के अंतिम दो भेद हैं जो दोनों परंपराओं में मान्य हैं। अतः यदि इन्हें ध्यान के रूप में माना जाए तो इसी तर्क के आधार पर दिगम्बर मतानुसार परीषहों की स्थिति माननी ही पड़ेगी, जैसा कि पूज्यपाद ने लिखा है।

यह मान्यता कि 'शुक्लध्यान के अंतिम दो भेदों को इस आधार पर ध्यान की संज्ञा दी गई है कि इनसे कर्मों का क्षय होता है' सर्वथा संदेहपूर्ण है, क्योंकि जैन ध्यान के अंतर्गत आर्त्त और रौद्र ध्यानों का भी समावेश है जिनसे अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। अतएव 'उपचार' की उक्ति के लिए यहाँ कोई अवकाश नही है। संभवतः मोक्ष से संबंधित होने के कारण सूक्ष्म-क्रिया और समुच्छिन्न-क्रिया को ध्यान मान लिया गया है, क्योंकि अधिकांश धार्मिक सम्प्रदायों में ध्यान अथवा समाधि के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। यथार्थतः सूक्ष्म-क्रिया केवल सूक्ष्म काय-योगपूर्वक होने से सयोग केवली के और तीनों प्रकार के योग से रहित होने से अयोग-केवली के ध्यानरूप नही होती। जो हो, उपचार की बात असिद्ध हो जाने से सूक्ष्म-क्रिया और समुच्छिन्न-क्रिया का उदाहरण प्रस्तुत करने का टीकाकार का प्रयोजन सार्थक सिद्ध नहीं होता। अतएव दिगम्बर टीकाकारों की परीषह-सम्बन्धी यह मान्यता युक्तिसंगत नही है।

उपर्युक्त कथन से यह ज्ञात होता है कि मोहनीय कर्म के अभाव से जिन के भाव-वेदनीय कर्म नही होता। मोहनीय कर्म और वेदनीय कर्म दो अलग अलग कर्म है। उनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। उनकी प्रकृति एव कार्य को मिश्रित नही किया जा सकता, अन्यथा कार्मिक भेदो मे विशृंखलता उत्पन्न हो जाएगी। यदि उपर्युक्त कथन को स्वीकार किया जाए तो वही तर्क अन्य अघातिक कर्मो के विषय में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'जिन के भाव-गोत्र कर्म नही होता, क्योंकि उसमे तदनुरूप मोहनीय कर्म का अभाव होता है।' टीकाकार यह भी कहते हैं कि जिन के भाव-वेदनीय कर्म नही होता किन्तु द्रव्य-वेदनीय कर्म होता है। यह कथन तर्कसंगत प्रतीत नही होता, क्योंकि एक ही कर्म का द्रव्य और भाव इन दो दृष्टिकोणो से विचार किया गया है, अतएव जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी होता ही है। अन्यथा यह तर्क अन्य अघातिक कर्मों के विषय मे भी उसी प्रकार प्रयुक्त होना चाहिए। उदाहरणार्थ 'जिन के द्रव्य-औदारिक-शरीर-नामकर्म है किन्तु तत्सम्बद्ध भाव-कर्म नहीं होता।' ये सब तर्क निश्चित रूप से असगत प्रतीत होते हैं, कारण, किसी परम्परा का कोई रूढ विश्वास प्राय. सैद्धान्तिक निष्कर्ष के साथ नही चलता, क्योंकि वह धार्मिक भावनाओ मे उलझ जाता है। दिगम्बर परम्परा मे भी यह रूढ विश्वास ज्यो का त्यो रह गया। यह परम्परा इस तथ्य को स्वीकार न कर सकी कि जिन के भाव-वेदनीय कर्म होता है, परन्तु यह इनकार भी न कर सकी कि उसके द्रव्य-वेदनीय कर्म होता है। इसीलिए दिगम्बर आचार्यो ने सूत्र ९. ११ (११) को बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के स्वीकार कर लिया, परन्तु अपने रूढिगत विश्वास के अनुसार टीकाओ मे अर्थ-सबधी सशोधन कर डाला। उन्होंने यह संशोधन 'उपचार' की पद्धति से किया ताकि इस सूत्र का मूल अर्थ बिलकुल बिगड़ न जाए। इसमें वे असफल रहे। इससे यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि सूत्र ९ ' ११ (११) मूलरूप मे दिगम्बर परम्परा का नही था।

' ये दो प्रकरण, जिनमे दोनों परंपराओं के सैद्धान्तिक मतभेद का समावेश है, विचाराधीन मूल पाठ की यथार्थता की सिद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। केवल इन्ही सूत्रो की छानबीन से इस समस्या को हल करना असम्भव है। टीकाओ मे इसके हल की कुजी छिपी हुई है, अत: उन्हे सुस्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार के और भी

उदाहरण हो सकते हैं, तथापि मतभेद के इन उदाहरणो तथा श्वेताम्बर संस्करण मे सूत्र ५ : (२९) अर्थात् सद्-द्रव्य-लक्षणम् के विलोपन से यह प्रमाणित हो जाता है कि श्वेताम्बर पाठ मूल है और दिगम्बर पाठ उससे व्युत्पन्न हुआ है। इनके अतिरिक्त सूत्रकार की यथाक्रमम् शब्द द्वारा आगे के उपभेदात्मक सूत्र लिखने की शैली तथा 'स' सर्वनाम द्वारा हमेशा नए सूत्र प्रारम्भ करने की पद्धति जैसे कुछ छोटे प्रमाणो द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। तब तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय के संशोधन का यह प्रश्न कि 'यह सामग्री भाष्य और जम्बूद्वीपसमास से दिगम्बर संस्करण मे ली गई अथवा दिगम्बर संस्करण से भाष्य और जम्बूद्वीपसमास मे ली गई' स्वत: हल हो जाता है।

—सुजुको ओहिरा

मूल सूत्र

सन्दर्भ-संकेत

भा० भाष्य में मुद्रित सूत्र

रा० राजवार्तिक में ,,

श्लो० श्लोकवार्तिक में ,,

स० सर्वार्थसिद्धि मे ,,

सि० सिद्धसेनीय टीका में ,,

हा० हारिभद्रीय टीका में ,,

टि० तत्त्वार्थ-टिप्पण (अमुद्रित, अनेकान्त ३ १)

रा-पा० राजवार्तिक में निर्दिष्ट पाठान्तर

स-पा० सर्वार्थसिद्धि में ,, ,,

सि-पा० सिद्धसेनीय वृत्ति का प्रत्यन्तर-पाठ

सि-भा० सिद्धसेनीय वृत्ति का भाष्य-पाठ

सि वृ० सिद्धसेनीय वृत्तिसम्मत पाठ

सि-वृ-पा० सिद्धसेनीय वृत्ति में निर्दिष्ट पाठान्तर

प्रथमोऽध्यायः

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

निर्देशस्वामित्वसाधनाऽधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालाऽन्तरभावाऽल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

तत् प्रमाणे ॥ १० ॥

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासन्दिग्धध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

अर्थस्य ॥ १७ ॥

व्यञ्जनस्याऽवग्रहः ॥ १८ ॥

---

१. आस्रव–हा० ।

२. मनःपर्यय–स० रा० श्लो० ।

३. तत्र आद्ये–हा० ।

४. ह्यपाय–भा० हा० सि० । अकलंक ने 'अपाय' तथा 'अवाय' दोनों को संगत कहा है ।

५. निःसृतानुक्तध्रु–स० रा० ।–निसृतानुक्तध्रु–श्लो० ।–क्षिप्रनिःसृतानुक्तध्रु–भा० ।—प्रानिश्रितानुक्तध्रु–भा० सि–वृ० । –क्षिप्रनिश्चितध्रु–सि वृ–पा० ।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥
श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥
द्विविधोऽवधिः[1] ॥ २१ ॥
तत्र[2] भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥ २२ ॥
यथोक्तनिमित्तः[3] षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २३ ॥
ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः[4] ॥ २४ ॥
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥
विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः[5] ॥ २६ ॥
मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु[6] ॥ २७ ॥
रूपिष्ववधेः ॥ २८ ॥
तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य[7] ॥ २९ ॥
सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥
एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥
मतिश्रुताऽवधयो[8] विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥
सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥
नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा[9] नयाः ॥ ३४ ॥
आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥[10] ३५ ॥

●

---

१. स०रा०श्लो० में सूत्ररूप नहीं है। स० और रा० की उत्थानिका में है।
२. तत्र भव—सि०।—भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्—स० रा० श्लो०।
३. क्षयोपशमनिमित्त.—स०रा० श्लो०। भाष्य में व्याख्या है—'यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः।'
४. मन.पर्यय —स० रा० श्लो०।
५ मन.पर्ययो —स० रा० श्लो०।
६. निबन्ध. द्रव्ये—स० रा० श्लो०। १.२० के भाष्य में उद्धृत सूत्रांश में 'सर्व' नहीं है।
७. मन पर्ययस्य—स० रा० श्लो०।
८. श्रुतविभङ्गा विप—हा०।
९ शब्दसमभिरूढैवम्भूता नया.—स० रा० श्लो०।
१०. यह सूत्र स० रा० श्लो०—में नहीं है।

जीव

द्वितीयोऽध्यायः

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥
द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥
सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥
ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥
ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः यथाक्रमं[2] सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥
गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥
जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥ ७ ॥
उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥
स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥
संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥
समनस्काऽमनस्काः[५] ॥ ११ ॥
संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥
पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः[७] ॥ १३ ॥
तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः[८] ॥ १४ ॥
पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

---

१ दर्शनलब्धय–स० रा० श्लो० ।
२. स० रा० श्लो० में 'यथाक्रमं' नही है ।
३. सिद्धलेश्या–स० रा० श्लो० ।
४ त्वानि च–स० रा० श्लो० ।
५. सि-वृ-पा० में 'स' नही है ।
६ किसी के द्वारा किए गए सूत्र-विपर्यास की आलोचना सिद्धसेन ने की है ।
७. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय. स्थावराः—स० रा० श्लो० ।
८. द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः—स० रा० श्लो० ।

द्विविधानि ॥ १६ ॥
निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥
लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥
उपयोगः स्पर्शादिषु[1] ॥ १९ ॥
स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ २० ॥
स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः[2] ॥ २१ ॥
श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २२ ॥
वाय्वन्तानामेकम्[3] ॥ २३ ॥
कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि[4] ॥ २४ ॥
संज्ञिनः समनस्काः ॥ २५ ॥
विग्रहगतौ कर्मयोगः[5] ॥ २६ ॥
अनुश्रेणि गतिः ॥ २७ ॥
अविग्रहा जीवस्य ॥ २८ ॥
विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥
एकसमयोऽविग्रहः[6] ॥ ३० ॥
एकं द्वौ वाऽनाहारकः[7] ॥ ३१ ॥
सम्मूर्छनगर्भोपपाता[8] जन्म ॥ ३२ ॥

---

१. स० रा० श्लो० में नहीं है। सिद्धसेन कहते हैं–'कोई इसको सूत्र नहीं मानते और कहते हैं कि भाष्यवाक्य को ही सूत्र बना दिया गया है।' —पृ० १६९।

२. तदर्थाः–स० रा० श्लो०। 'तदर्थाः' ऐसा समस्तपद ठीक नहीं, इस शंका का निराकरण अकलंक और विद्यानन्द ने किया है। दूसरी ओर श्वे० टीकाकारों ने इसका स्पष्टीकरण किया है कि असमस्त पद क्यों रखा गया है।

३. वनस्पत्यन्तानामेकम्—स० रा० श्लो०।

४. सिद्धसेन कहते हैं कि कोई सूत्र में 'मनुष्य' पद को अनार्ष समझते हैं।

५ सिद्धसेन कहते हैं कि कोई इसके बाद अतीन्द्रिया केवलिन सूत्र रखते हैं।

६. एकसमयाऽविग्रहा—स० रा० श्लो०।

७. द्वौ त्रीन्वा–स० रा० श्लो०। सूत्रगत 'वा' शब्द से कोई 'तीन' का भी संग्रह करते थे, ऐसा हरिभद्र और सिद्धसेन का कहना है।

८. पाताज्जन्म—स०।—पादा जन्म—रा० श्लो०।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३३ ॥

जराय्वण्डपोतजानां[1] गर्भः ॥ ३४ ॥

नारकदेवानामुपपातः[2] ॥ ३५ ॥

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥ ३६ ॥

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि[3] शरीराणि[4] ॥ ३७ ॥

परं परं सूक्ष्मम्[5] ॥ ३८ ॥

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३९ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ४० ॥

अप्रतिघाते[6] ॥ ४१ ॥

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४२ ॥

सर्वस्य ॥ ४३ ॥

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः[7] ॥ ४४ ॥

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४५ ॥

गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥

---

१ जरायुजाण्डपोतजाना गर्भ —हा० । जरायुजाण्डपोतानां गर्भ —स० रा० श्लो० । रा० और श्लो० 'पोतज' पाठ पर आपत्ति करते हैं। सिद्धसेन को यह आपत्ति ठीक नहीं मालूम होती ।

२. देवनारकाणामुपपाद —स० रा० श्लो० ।

३ वैक्रियिका–स० रा० श्लो० ।

४. सिद्धसेन का कहना है कि कोई 'शरीराणि' को अलग सूत्र समझते हैं।

५ भा० में तेषां पद सूत्रांश के रूप में छपा है, लेकिन भाष्यटीकाकारों के मत में यह भाष्य का अंश है ।

६ अप्रतीघाते–स० रा० श्लो० ।

७ देकस्मिन्नाचतु–स० रा० श्लो० । लेकिन टीकाओं से मालूम होता है कि एकस्य सूत्रपाठ अभिप्रेत है ।

वैक्रियमौपपातिकम्[1] ॥ ४७ ॥

लब्धिप्रत्ययं च[2] ॥ ४८ ॥

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव[3] ॥ ४९ ॥

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

न देवाः[4] ॥ ५१ ॥

औपपातिक[5]चरमदेहोत्तमपुरुषा[6]ऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५२ ॥

---

१. औपपादिकं वैक्रियिकम्–स० रा० श्लो० ।

२. इसके बाद स० रा० श्लो० में तैजसमपि सूत्र है । भा० में तैजसमपि सूत्र के रूप में नहीं है । हा० में शुभम्...इत्यादि सूत्र के बाद यह सूत्ररूप में है । सि० में यह सूत्र क० ख० प्रति का पाठान्तर है । टि० में यह स्वतंत्र सूत्र है, किन्तु अगले सूत्र के बाद है । उसका यहाँ होना टिप्पणकार ने अनुचित माना है ।

३. चतुर्दशपूर्वधर एव–सि० । प्रमत्तसंयतस्यैव–स० रा० श्लो० । सिद्धसेन का कहना है कि कोई अकृत्स्नश्रुतस्यर्द्धिमत विशेषण और जोड़ते हैं ।

४. इसके बाद स० रा० श्लो० में शेषास्त्रिवेदाः सूत्र है । श्वेताम्बर पाठ में यह सूत्र नहीं है, क्योंकि इस अर्थ का भाष्यवाक्य है ।

५. औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽस–स० रा० श्लो० ।

६ चरमदेहोत्तमदेहपु–स-पा०, रा-पा० । सिद्धसेन का कहना है कि इस सूत्र में सूत्रकार ने 'उत्तमपुरुष' पद का ग्रहण नहीं किया है–ऐसा कोई मानते हैं । पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्द 'चरम' को 'उत्तम' का विशेषण समझते हैं ।

अधोलोक मध्यलोक

तृतीयोऽध्यायः

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः[1][2] ॥ १ ॥
तासु नरकाः[3] ॥ २ ॥
नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः[4] ॥ ३ ॥
परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥
संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥
तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥
जम्बूद्वीपलवणादयः[5] शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥
द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥
तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥
तत्र[6] भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥
तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः[7][8] ॥ ११ ॥

---

१. इसके विग्रह मे सिद्धान्त पाठ और सामर्थ्यगम्य पाठ की चर्चा सर्वार्थसिद्धि में है।

२ पृथुतराः स० रा० श्लो० में नही। अकलङ्क पृथुतराः पाठ को अनावश्यक मानते है। इस सूत्र के बाद टि० में घर्मा वंशा शैलाजना रिष्टा माघव्या माघवीति च सूत्र है।

३ तासुत्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्—स० रा० श्लो०। इस सूत्र में सन्निहित गणना भाष्य में है।

४. तेषु नारका नित्या–सि०। नारका नित्या-स० रा० श्लो०।

५. लवणोदादय —स० रा० श्लो०।

६ 'तत्र' टि० स० रा० श्लो० में नही है।

७ वंशधरपर्वता.—सि०।

८. सिद्धसेन का कहना है कि इस सूत्र के बाद तत्र पञ्च इत्यादि भाष्यवाक्य

देवलोक

चतुर्थोऽध्यायः

देवाश्चतुर्निकायाः ॥ १ ॥[1]
तृतीयः पीतलेश्यः[2] ॥ २ ॥
दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥
इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्या[3]त्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभि -
योग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥
त्रायस्त्रिंश[4]लोकपालवर्ज्या[5] व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥
पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥
पीतान्तलेश्याः[6] ॥ ७ ॥
कायप्रवीचारा आ-ऐशानात् ॥ ८ ॥
शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः[7] ॥ ९ ॥
परेऽप्रवीचाराः ॥ १० ॥
भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीप-
दिक्कुमाराः ॥ ११ ॥
व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ १२ ॥[8]

---

१ देवाश्चतुर्णिकाया.-स० रा० श्लो० ।

२ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्या स० रा० श्लो० । देखें—विवेचन, पृ० ९५, टि० १ ।

३ पारिषद्या-स० रा० श्लो० ।

४ -शल्लोक-स० ।

५. वर्ज्या-सि० ।

६. यह सूत्र स० रा० श्लो० में नही है ।

७. द्वयोर्द्वयोः स० रा० श्लो० में नही है । इन पदो को सूत्र में रखने के विषय में किसी की शंका का समाधान करते हुए अकलङ्क कहते हैं कि ऐसा करना आर्ष-विरोध है ।

८ गन्धर्व-हा० स० रा० श्लो० ।

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो[1] ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च[2,3] ॥ १३ ॥
मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥
तत्कृतः कालविभागः ॥ १५ ॥
बहिरवस्थिताः ॥ १६ ॥
वैमानिकाः ॥ १७ ॥
कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥
उपर्युपरि ॥ १९ ॥
सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ताऽपरा-जितेषु सर्वार्थसिद्धे[5] च ॥ २० ॥
स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २१ ॥
गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः[6] ॥ २२ ॥
पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु[7] ॥ २३ ॥
प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २४ ॥
ब्रह्मलोकालया[8] लोकान्तिकाः ॥ २५ ॥
सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च ॥ २६ ॥
विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २७ ॥

---

१. –सूर्याचन्द्रमसो–स० रा० श्लो० ।

२. –प्रकीर्णकता–स० रा० श्लो० ।

३. –ताराश्च–हा० ।

४. –माहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रा–स० रा० श्लो० । श्लो० में सतार पाठ है । दिगम्बर परम्परा के भी प्राचीन ग्रन्थो में बारह कल्पों का कथन है । देखें—जैन जगत, वर्ष ४, अंक ६, पृ० २०२, अनेकांत, वर्ष ५, अंक १०-११, पृ० ३४२ ।

५. –सिद्धौ च–स० रा० श्लो० ।

६. टि० में इसके बाद उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः सूत्र है ।

७. पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतु शेषेष्विति—रा-पा० ।

८. –मथा लोका–स० रा० श्लो०; सि-पा० ।

९. –व्याबाधारिष्टाश्च–स० रा० श्लो० । देखें– विवेचन, पृ० १०८, टि० १ ।

औपपातिक[1]मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २८ ॥
स्थितिः[2] ॥ २९ ॥
भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥ ३० ॥
शेषाणां पादोने ॥ ३१ ॥
असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ३२ ॥
सौधर्मादिषु यथाक्रमम्[3] ॥ ३३ ॥
सागरोपमे ॥ ३४ ॥
अधिके च ॥ ३५ ॥
सप्त सानत्कुमारे[4] ॥ ३६ ॥
विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च[5] ॥ ३७ ॥
आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे[6] च ॥ ३८ ॥
अपरा पल्योपममधिकं च ॥ ३९ ॥
सागरोपमे[7] ॥ ४० ॥
अधिके च ॥ ४१ ॥
परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ४२ ॥
नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४३ ॥
दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४४ ॥
भवनेषु च ॥ ४५ ॥
व्यन्तराणां च ॥ ४६ ॥

---

१ –पादिक–स० रा० श्लो० ।

२. इस सूत्र से ३२ वें सूत्र तक के लिए स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता–यह एक ही सूत्र स० रा० श्लो० में है। श्वे० दि० दोनो परंपराओं में भवनपति की उत्कृष्ट स्थिति के विषय में मतभेद है।

३ इस सूत्र से ३५वें सूत्र तक के लिए एक ही सूत्र सौधर्मैशानयो. सागरोपमे अधिके च स० रा० श्लो० में है। दोनों परंपराओ में स्थिति के परिमाण में भी अन्तर है। देखें–प्रस्तुत सूत्रों की टीकाएँ।

४. सानत्कुमारमाहेन्द्रयो सप्त–स० रा० श्लो० ।

५ त्रिसप्तनवैकादशपंचदशभिरधिकानि तु–स० रा० श्लो० ।

६. सिद्धौ च–स०रा० श्लो० ।

७. यह और इसके बाद का सूत्र स० रा० श्लो० में नही है ।

परा पल्योपमम्[1] ॥ ४७ ॥
ज्योतिष्काणामधिकम्[2] ॥ ४८ ॥
ग्रहाणामेकम्[3] ॥ ४९ ॥
नक्षत्राणामर्धम् ॥ ५० ॥
तारकाणां चतुर्भागः ॥ ५१ ॥
जघन्या त्वष्टभागः[4] ॥ ५२ ॥
चतुर्भागः शेषाणाम्[5] ॥ ५३ ॥

●

---

१ परा पल्योपममधिकम्–स० रा० श्लो० ।

२ ज्योतिष्काणां च-स० रा० श्लो० ।

३. यह और ५०, ५१ सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं है ।

४. तदष्टभागोऽपरा–स० रा० श्लो० । ज्योतिष्को की स्थिति विषयक जो सूत्र दिगम्बर पाठ में नहीं हैं उन सूत्रों के विषय की पूर्ति राजवार्तिककार ने इसी सूत्र के वार्तिको में की है ।

५. स० रा० श्लो० में नहीं है । स० और रा० में एक और अंतिम सूत्र–लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्–४२ है, जो श्लो० में नहीं है ।

अजीव (सत्ता का ...

पञ्चमोऽध्यायः

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥
द्रव्याणि जीवाश्च[1] ॥ २ ॥
नित्यावस्थितान्यरूपाणि[2] ॥ ३ ॥
रूपिणः पुद्गलाः ॥ ४ ॥
आऽऽकाशादेकद्रव्याणि[3] ॥ ५ ॥
निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥
असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः[4] ॥ ७ ॥
जीवस्य[5] ॥ ८ ॥
आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥
सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

---

१ स० रा० श्लो० में इस एक सूत्र के स्थान पर द्रव्याणि व जीवाश्च ये दो सूत्र है। सिद्धसेन कहते है–'कोई इस सूत्र को उपर्युक्त प्रकार से दो सूत्र बनाकर पढ़ते हैं जो ठीक नही है।'
अकलङ्क के सामने भी किसी ने शङ्का उठाई है–द्रव्याणि जीवा ऐसा 'च' रहित एक सूत्र ही क्यों नही रखते ?' विद्यानन्द का कहना है कि स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए ही दो सूत्र बनाए गए हैं।

२. सिद्धसेन कहते है–'कोई इस सूत्र को तोड़कर नित्यावस्थितानि एवं अरूपाणि ये दो सूत्र बनाते है।' नित्यावस्थितान्यरूपाणि पाठान्तर भी उन्होने वृत्ति में दिया है। नित्यावस्थितान्यरूपीणि ऐसे एक और पाठ का भी उन्होने निर्देश किया है। 'कोई नित्यपद को अवस्थित का विशेषण समझते हैं' ऐसा भी वे कहते है। इस सूत्र की व्याख्या के मतान्तरो के लिए सिद्धसेनीय वृत्ति द्रष्टव्य है।

३ देखें—विवेचन, पृ० ११५, टि० १।

४. –धर्माधर्मैकजीवानाम्–स० रा० श्लो०।

५ स० रा० श्लो० में यह पृथक् सूत्र नही है। सिद्धसेन ने पृथक् सूत्र रखने के कारण का स्पष्टीकरण किया है।

नाणोः ॥ ११ ॥

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां[1] प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

गतिस्थित्युपग्रहो[2] धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

वर्तना परिणामः क्रिया[3] परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

सङ्घातभेदेभ्य[4] उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भेदादणुः ॥ २७ ॥

भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः[5] ॥ २८ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[6] ॥ २९ ॥

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३० ॥

---

१. –विसर्पा–स० रा० श्लो० ।

२. –पग्रहौ–सि० स० रा० श्लो० । अकलंक ने द्विवचन का समर्थन किया है । देखें—विवेचन, पृ० १२३, टि० १ ।

३. वर्तनापरिणामक्रिया पर–स० । वर्तनापरिणामक्रिया पर–रा० ।

४. भेदसंघातेभ्य उ–स० रा० श्लो० ।

५. –चाक्षुष–स० रा० श्लो० । सिद्धसेन इस सूत्र के अर्थ में किसी का मतभेद बतलाते हैं ।

६. इस सूत्र से पहले स० और श्लो० में सद् द्रव्यलक्षणम् सूत्र है । लेकिन रा० में ऐसा अलग सूत्र नहीं है, उसमें तो यह बात उत्थानिका में ही कही गई है । भाष्य में इसका भावकथन है ।

अर्पितानर्पितसिद्धेः[1] ॥ ३१ ॥
स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३२ ॥
न जघन्यगुणानाम्[2] ॥ ३३ ॥
गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥
द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥
बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ[3] ॥ ३६ ॥
गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥ ३७ ॥
कालश्चेत्येके[4] ॥ ३८ ॥
सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥
द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४० ॥
तद्भावः परिणामः ॥ ४१ ॥
अनादिरादिमांश्च[5] ॥ ४२ ॥
रूपिष्वादिमान् ॥ ४३ ॥
योगोपयोगौ जीवेषु ॥ ४४ ॥

---

१ इस सूत्र की व्याख्या में मतभेद है। हरिभद्र सबसे निराला ही अर्थ करते हैं। हरिभद्र की व्याख्या का सिद्धसेन ने मतान्तररूप में निर्देश किया है।

२ बन्ध की प्रक्रिया में श्वे० दि० मतभेद के लिए देखें—विवेचन, पृ० १३९।

३ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ–स० श्लो०। रा० में सूत्र के अन्त में 'च' है। अकलंक ने समाधिकौ पद का खण्डन किया है।

४ देखें—विवेचन, पृ० १४४, टि० १। कालश्च–स० रा० श्लो०।

५. ये अन्तिम तीनो सूत्र स० रा० श्लो० में नही है। राजवार्तिककार ने भाष्य के मत का खण्डन किया है। विस्तार के लिए देखें—विवेचन, पृ० १४६-१४७। टि० में इसके पहले स द्विविध सूत्र है।

षष्ठोऽध्यायः

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥
स आस्रवः ॥ २ ॥
शुभः पुण्यस्य[1] ॥ ३ ॥
अशुभः पापस्य[2] ॥ ४ ॥
सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ५ ॥
अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः[3] पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ६ ॥
तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्याऽधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ७ ॥
अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ८ ॥
आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रि-स्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ९ ॥
निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ १० ॥
तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥११॥
दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥१२॥
भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः[4] क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १३ ॥

---

१ देखें—विवेचन, पृ० १४१, टि० १ ।

२ यह सूत्ररूप में हा० में नहीं है । लेकिन शेष पापम् सूत्र है । सि० में अशुभ. पापस्य सूत्ररूप में छपा है, लेकिन टीका से मालूम होता है कि यह भाष्य-अंग है ।

३. इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया.—हा० सि० टि०; स० रा० श्लो० । भाष्यमान्य पाठ में अव्रत ही पहले है । सूत्र की टीका करते समय सिद्धसेन के सामने इन्द्रिय पाठ प्रथम है । किन्तु सूत्र के भाष्य में अव्रत पाठ प्रथम है । सिद्धसेन को जब सूत्र और भाष्य की यह असंगति ज्ञात हुई तो उन्होंने इसे दूर करने की कोशिश भी की ।

४. -भावाधिकरणवीर्यविशे—स० रा० श्लो० ।

५. भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोग:—स० रा० श्लो० ।

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १४ ॥
कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १५ ॥
बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च[2] नारकस्यायुषः ॥ १६ ॥
माया तैर्यग्योनस्य ॥ १७ ॥
अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य[3] ॥ १८ ॥
निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्[4] ॥ १९ ॥
सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य[5] ॥ २० ॥[6]
योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २१ ॥
विपरीतं[7] शुभस्य ॥ २२ ॥
दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं[8] ज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घ[9]साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्व-मिति [10]तीर्थकृत्त्वस्य ॥ २३ ॥
परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुण[11]च्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२४॥
तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २५ ॥
विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २६ ॥

●

---

१. -तीव्रपरि-स० रा० श्लो० ।
२ स० रा० श्लो० में 'च' नहीं है ।
३ इसके स्थान पर अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य और स्वभावमार्दवं च ये दो सूत्र दिगम्बर परंपरा में हैं । एक ही सूत्र क्यों नहीं बनाया गया, इस शंका का समाधान भी दिगम्बर टीकाकारों ने किया है ।
४. देखें—विवेचन, पृ० १५७, टि० १ ।
५ देखें—विवेचन, पृ० १५७, टि० २ ।
६. इसके बाद टि० में सम्यक्त्वं च सूत्र है ।
७. तद्विप-स० रा० श्लो० ।
८. भीक्ष्णज्ञा-स० रा० श्लो० ।
९ स० रा० श्लो० में 'सङ्घ' नहीं है ।
१०. तीर्थंकरत्वस्य-स० रा० श्लो० ।
११. -गुणोच्छा-स० । गुणच्छा-रा० श्लो० ।

सप्तमोऽध्यायः

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥
देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥
तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च[1] ॥ ३ ॥
हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम्[2] ॥ ४ ॥
दुःखमेव वा[3] ॥ ५ ॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि[4] सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥६॥
जगत्कायस्वभावौ च[5] संवेगवैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥
प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥
असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥
अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १० ॥
मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥

---

१. -पञ्च पञ्चश सि-वृ-पा० । अकलंक के सामने पञ्चशः पाठ होने की आशंका की गई है । इस सूत्र के बाद वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥५॥ शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष (क्ष्य-रा०) शुद्धिसद्धर्मा (सधर्मा-श्लो०) विसंवादाः पञ्च ॥६॥ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥ ऐसे पाँच सूत्र स० रा० श्लो० में हैं जिनका भाव इसी सूत्र के भाष्य में है '

२ -मुत्रापाया-स० रा० श्लो० ।

३. सिद्धसेन कहते है कि इसी सूत्र के व्याधिप्रतीकारत्वात् कण्डूपरिगतत्वाच्चाब्रह्म तथा परिग्रहेष्वप्राप्तप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे चाऽवितृप्ति इन भाष्यवाक्यो को कोई दो सूत्र मानते है ।

४. -माध्यस्थ्यानि च स-स० रा० श्लो० ।

५. स० रा० श्लो० में 'च' के स्थान में 'वा' है ।

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १२ ॥
निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥
अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥
अणुव्रतोऽगारी ॥ १५ ॥
दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोगपरिभोगपरि-
माणाऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥ १६ ॥
मारणान्तिकीं संलेखना जोषिता ॥ १७ ॥
शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरति-
चाराः ॥ १८ ॥
व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥
बन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २० ॥
मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्र-
भेदाः ॥ २१ ॥
स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रति-
रूपकव्यवहाराः ॥ २२ ॥
परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामा-
भिनिवेशाः[10] ॥ २३ ॥

---

१ प्रोषधो–स० रा० श्लो० ।
२ भोगातिथि–भा० । सिद्धसेन-वृत्ति में भी इस सूत्र के भाष्य में परिमाण शब्द नहीं है । देखें—पृ० ९३. प० १२ ।
३ देखें—विवेचन पृ० १८१, टि० १ ।
४ सल्लेखना–स० रा० श्लो० ।
५. रतीचारा –भा० सि०, रा० श्लो० ।
६ –वधच्छेदाति–स० रा० श्लो० ।
७ रहोभ्या–स० रा० श्लो० ।
८ –त्वरिकापरि–स० रा० श्लो० ।
९ –डाकामतीव्राभि–स० रा० श्लो० ।
१०. इस सूत्र के स्थान पर कोई परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृही-तागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेश (शा) सूत्र मानते हैं, ऐसा सिद्धसेन का कहना है । यह सूत्र दिगम्बर पाठ से कुछ-कुछ मिलता है । देखें—ऊपर की टिप्पणी ।

कुछ लोग इसी सूत्र का पदविच्छेद परविवाहकरणं इत्वरिका-

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २४ ॥
ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि[1] ॥ २५ ॥
आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः[2][3] ॥ २६ ॥
कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि[4][5] ॥ २७ ॥
योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि[6] ॥ २८ ॥
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि[7][8][9] ॥ २९ ॥
सचित्तसम्बद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः[10] ॥ ३० ॥
सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः[11][12] ॥ ३१ ॥
जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकरणानि[13] ॥ ३२ ॥
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३३ ॥
विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३४ ॥

गमनं परिगृहीतापरिगृहीतागमन अनङ्गक्रीडातीव्र नमाभिनिवेश करते है, ऐसा सिद्धसेन कहते है। इस प्रकार पदच्छेद करने वाला इत्वरिका पद का अर्थ करना भी सिद्धसेन को मान्य नहीं है।

१ -स्मृत्यन्तराधानानि-स० रा० श्लो०।
२. किसी के मत से आनयन पाठ है, ऐसा सिद्धसेन कहते है।
३ -पुद्गलप्रक्षेपा -भा० हा०। हा० वृत्ति में तो पुद्गलक्षेपा ही पाठ है। सि-वृ० में पुद्गलप्रक्षेप पाठ है।
४. -कौकुच्य-भा० हा०।
५ -करणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि-स० रा० श्लो०।
६. स्मृत्यनुपस्थानानि-स० रा० श्लो०।
७ अप्रत्युपेक्षि-हा०।
८. -दानसंस्तरो-स० रा० श्लो०।
९ -स्मृत्यनुपस्थानानि-स० रा० श्लो०।
१०. -सम्बन्ध-स० रा० श्लो०।
११. -क्षेपापिधान-स० रा० श्लो०।
१२. टि० में यह सूत्र नहीं है।
१३. -निदानानि-स० रा० श्लो०।

अष्टमोऽध्यायः

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥
सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ॥ २ ॥
स बन्धः[1] ॥ ३ ॥
प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः[2] ॥ ४ ॥
आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः[3] ॥ ५ ॥
पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा[4] यथाक्रमम् ॥ ६ ॥
मत्यादीनाम्[5] ॥ ७ ॥
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यान-गृद्धि[6]वेदनीयानि[7] च ॥ ८ ॥
सदसद्वेद्ये ॥ ९ ॥
दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः[8]

---

१. यह सूत्र स० रा० श्लो० में दूसरे सूत्र के अन्त में ही समाहित है।

२ –स्त्वनुभव–स० रा० श्लो०।

३ –नीयायुर्नाम–स० रा० श्लो०।

४ –भेदो–रा०।

५ मति श्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्–स० रा० श्लो०। किन्तु यह पाठ सिद्धसेन को अपार्थक मालूम होता है। अकलङ्क और विद्यानन्द श्वे० परंपरा-सम्मत लघुपाठ की अपेक्षा उपर्युक्त पाठ को ही ठीक समझते हैं।

६. –स्त्यानर्द्धि–सि०। सि–भा० का पाठ 'स्त्यानगृद्धि' मालूम होता है क्योंकि सिद्धसेन कहते हैं–स्त्यानर्द्धिरिति वा पाठ।

७. –स्त्यानगृद्धयश्च–स० रा० श्लो०। सिद्धसेन ने वेदनीय पद का समर्थन किया है।

८. दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्-चैकशः क्रोधमानमायालोभाः–स० रा० श्लो०।

सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्य-रत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः[1] ॥ १० ॥

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ ११ ॥

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरस-गन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्द्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च ॥ १२ ॥

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १३ ॥

दानादीनाम्[4] ॥ १४ ॥

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १५ ॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १६ ॥

नामगोत्रयोर्विंशतिः[5] ॥ १७ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य[6] ॥ १८ ॥

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १९ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ २० ॥

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम्[7] ॥ २१ ॥

---

१. किसी को यह इतना लम्बा सूत्र नही जँचता, इसका पूर्वाचार्य ने जो उत्तर दिया है वही सिद्धसेन ने उद्धृत किया है—

दुर्व्याख्यानो गरीयाश्च मोहो भवति बन्धन ।
न तत्र लाघवादिष्ट सूत्रकारेण दुर्वचम् ॥

२ –नुपूर्व्यागु–स० रा० श्लो० । सि वृ० में आनुपूर्व्य पाठ है । अन्य के मत से सिद्धसेन ने आनुपूर्वी पाठ बताया है । दोनो के मत से सूत्र का भिन्न-भिन्न रूप भी उन्होने दर्शाया है ।

३ –देययशस्की (श की) तिसेतराणि तीर्थकरत्व च–स० रा० श्लो० ।

४ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्–स० रा० श्लो० ।

५. –विंशतिर्नामगोत्रयो –स० रा० श्लो० ।

६. –ण्यायुष स० रा० श्लो० ।

७. –मुहूर्ता–स० रा० श्लो० ।

विपाकोऽनुभावः[1] ॥ २२ ॥
स यथानाम ॥ २३ ॥
ततश्च निर्जरा ॥ २४ ॥
नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः[2] सर्वात्म-
प्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २५ ॥
सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्[3] ॥ २६ ॥

---

१. –नुभवः–स० रा० श्लो० ।

२ –वगाहस्थि–स० रा० श्लो० ।

३. देखें—विवेचन, पृ० २०५, टि० १ । इसके स्थान पर स० रा० श्लो० में दो सूत्र हैं–सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् तथा अतोऽन्यत् पापम् । दूसरे सूत्र को अन्य टीकाकारों ने भाष्य-अंश माना है ।

संवर-निर्जरा

नवमोऽध्यायः

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥
स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥
तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥
सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥
ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥
उत्तमः[1] क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥
अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वा[2]स्रवसंवरनिर्जरालोकबोधि-दुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः[3] ॥ ७ ॥
मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः[4] परीषहाः ॥ ८ ॥
क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञाना[5]दर्शनानि ॥ ९ ॥
सूक्ष्मसम्[6]परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥
एकादश[7] जिने ॥ ११ ॥
बादरसम्पराये[8] सर्वे ॥ १२ ॥
ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

---

१. उत्तमक्ष–स० रा० श्लो० ।

२. –शुच्यास्रव–स० रा० श्लो० ।

३. अपरे पठन्ति अनुप्रेक्षा इति अनुप्रेक्षितव्या इत्यर्थः । अपरे अनुप्रेक्षा-शब्दमेकवचनान्तमधीयते ।–सि-वृ० ।

४. देखें—विवेचन, पृ० २१३, टि० १ ।

५. –प्रज्ञाज्ञानसम्यक्त्वानि–हा० ।

६. –साम्पराय–स० रा० श्लो० ।

७. देखें—विवेचन, पृ० २१६, टि० १ ।

८. देखें—विवेचन, पृ० २१६, टि० २ ।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥
चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥१५॥
वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥
एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः[1] ॥ १७ ॥
सामायिकच्छेदोपस्थाप्य[2]परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराय[3]-
यथाख्यातानि[4] चारित्रम् ॥ १८ ॥
अनशनावमौदर्य[5]वृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकाय-
क्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥
प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥
नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं[6] यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥
आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारो-
पस्थापनानि[7] ॥ २२ ॥
ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥
आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षक[8]ग्लानगणकुलसङ्घसाधु-
समनोज्ञानाम्[9] ॥ २४ ॥
वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥
बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

---

१ -देकान्नविंशते -हा० । -युगपदेकस्मिन्नैकान्नविंशते -स० । युगपदेक-
स्मिन्नेकोनविंशतेः—रा० श्लो० ।

२. -पस्थापनापरि- स० रा० श्लो० ।

३. सूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति—स० रा० श्लो० । राजवार्तिककार को अथाख्यात पाठ इष्ट मालूम होता है क्योंकि उन्होंने यथाख्यात को विकल्प में रखा है । सिद्धसेन को भी अथाख्यात पाठ इष्ट है । देखें—विवेचन, पृ० २१८ ।

४. केचित् विच्छिन्नपदमेव सूत्रमधीयते–सि-वृ० ।

५. -मौदर्य-स० रा० श्लो० ।

६. -द्विभेदा-स० श्लो० ।

७. -स्थापना:-स० रा० श्लो० ।

८. -शैक्षग्ला-स० । शैक्ष्यग्ला-रा० श्लो० ।

९. -मुनमोज्ञानाम्-स० रा० श्लो० ।

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्[1] ॥ २७ ॥
आमुहूर्तात् ॥ २८ ॥
आर्तरौद्रधर्म[2]शुक्लानि ॥ २९ ॥
परे मोक्षहेतू ॥ ३० ॥
आर्तममनोज्ञानां[3] सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३१ ॥
वेदनायाश्च[4] ॥ ३२ ॥
विपरीतं मनोज्ञानाम्[5] ॥ ३३ ॥
निदानं च ॥ ३४ ॥
तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३५ ॥
हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३६ ॥
आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म[6]मप्रमत्तसंयतस्य ॥ ३७ ॥
उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥ ३८ ॥
शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः[7] ॥ ३९ ॥

---

१. स० रा० श्लो० में ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् है, अतः २८वाँ सूत्र उनमें अलग नहीं है। देखें—विवेचन, पृ० २२२, टि० २।

२. -धर्म्य-स० रा० श्लो०।

३. -नोज्ञस्य-स० रा० श्लो०।

४. यह सूत्र स० रा० श्लो० में विपरीतं मनोज्ञानाम् के बाद है अर्थात् उनके मतानुसार यह ध्यान का द्वितीय नहीं, तृतीय भेद है।

५. मनोज्ञस्य-स० रा० श्लो०।

६. -धर्म्यम-हा०। -धर्म्यम्-स० रा० श्लो०। दिगम्बर सूत्रपाठ में स्वामी का विधान करनेवाला अप्रमत्तसंयतस्य अंश नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि इसके बाद का उपशान्तक्षीण सूत्र भी नहीं है। स्वामी का विधान सर्वार्थसिद्धि में है। उसे लक्ष्य में रखकर अकलंक ने श्वे० परंपरासम्मत सूत्रपाठ विषयक स्वामी के विधान का खण्डन भी किया है। उसी का अनुगमन विद्यानन्द ने भी किया है। देखें—विवेचन, पृ० २२६-२७।

७. देखें—विवेचन, पृ० २२७, टि० १। पूर्वविदः अंश भा० हा० में न तो इस सूत्र के अंश के रूप में है और न अलग सूत्र के रूप में। सि० में अलग सूत्र के रूप में है, लेकिन टीकाकार की दृष्टि में यह भिन्न नहीं है। दिगम्बर टीकाओं में इसी सूत्र के अंश के रूप में है।

परे केवलिनः ॥ ४० ॥

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि[1] ॥ ४१ ॥

तत्त्र्येककाययोगायोगानाम् ॥ ४२ ॥

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे[2] ॥ ४३ ॥

अविचारं द्वितीयम्[3] ॥ ४४ ॥

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४५ ॥

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिः ॥ ४६ ॥

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-
मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४७ ॥

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४८ ॥

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतः[4]
साध्याः ॥ ४९ ॥

---

१. निवर्त्तीनि, हा० सि०; स० रा० श्लो० । स० की प्रत्यन्तर का पाठ निवृत्तीनि भी है ।

२. -तर्कविचारे पूर्वे-स० । -तर्कवीचारे पूर्वे-रा० श्लो० ।

३. संपादक की भ्रान्ति से यह सूत्र सि० में अलग नहीं है । रा० और श्लो० में अवीचारं पाठ है ।

४. -पपातस्था -स० रा० श्लो० ।

मोक्ष

दशमोऽध्यायः

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥
बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्[1] ॥ २ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३ ॥
[2]औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शन-
सिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥
तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥
पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः[3] ॥ ६ ॥
क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-
सङ्ख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ७ ॥

---

१. -भ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः-स० रा० श्लो० ।

२. इसके स्थान पर स० रा० श्लो० में औपशमिकादिभव्यत्वानां च और अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ये दो सूत्र हैं ।

३. तद्गतिः पद स० रा० श्लो० में नहीं है और इस सूत्र के बाद उनमें आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च और धर्मास्तिकायाभावात् ये दो सूत्र और हैं जिनका मन्तव्य भाष्य में ही आ जाता है । टि० में इसके बाद धर्मास्तिकायाभावात् सूत्र है ।

विवेचन
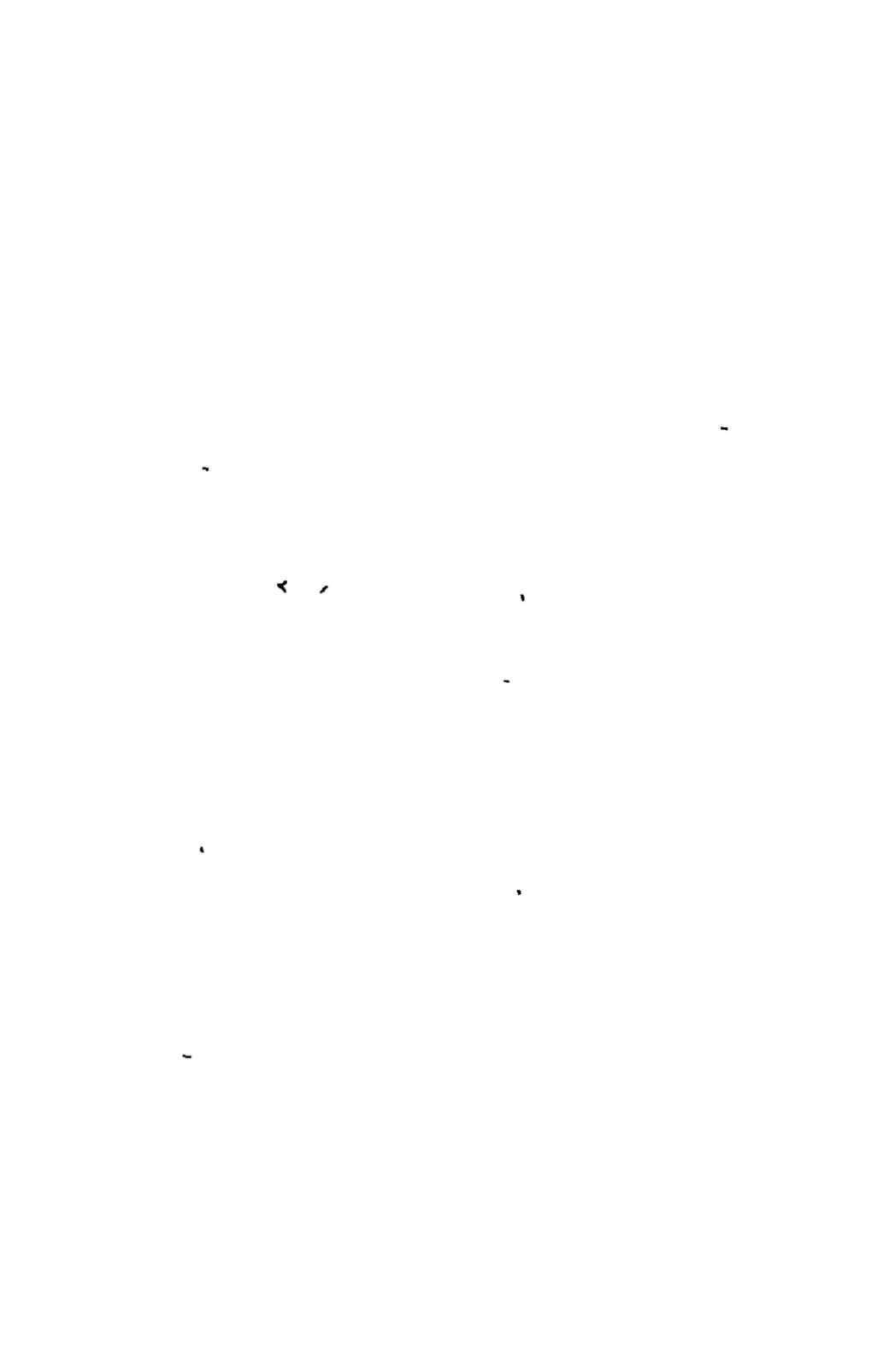
: १ :

ज्ञान

संसार में अनन्त प्राणी है और वे सभी सुख के अभिलाषी है। यद्यपि सब की सुख की कल्पना एक सी नही है तथापि विकास की न्यूनाधिकता के अनुसार संक्षेप में प्राणियो के तथा उनके सुख के दो वर्ग किये जा सकते है। पहले वर्ग में अल्प विकासवाले ऐसे प्राणी आते है जिनके सुख की कल्पना बाह्य साधनो तक ही सीमित है। दूसरे वर्ग में अधिक विकासवाले ऐसे प्राणी आते है जो बाह्य अर्थात् भौतिक साधनो की प्राप्ति में सुख न मानकर आध्यात्मिक गुणो की प्राप्ति में सुख मानते हैं। दोनों वर्गों के माने हुए सुख में यही अन्तर है कि पहला सुख पराधीन है और दूसरा स्वाधीन। पराधीन सुख को काम और स्वाधीन सुख को मोक्ष कहते हैं। काम और मोक्ष—दो ही पुरुषार्थ हैं, क्योकि उनके अतिरिक्त और कोई वस्तु प्राणिवर्ग के लिए मुख्य साध्य नही है। पुरुषार्थों में अर्थ और धर्म की गणना मुख्य साध्यरूप से नही किन्तु काम और मोक्ष के साधन के रूप में है। अर्थ काम का और धर्म मोक्ष का प्रधान साधन है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मोक्ष है। इसलिए उसी के साधनभूत धर्म को तीन विभागो में विभक्त करके शास्त्रकार प्रथम सूत्र में उनका निर्देश करते हैं—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। १।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं।

इस सूत्र में मोक्ष के साधनों का मात्र नाम-निर्देश है। उनके स्वरूप और भेदो का वर्णन आगे विस्तार से किया जानेवाला है. फिर भी यहाँ संक्षेप में स्वरूपविषयक सकेत किया जा रहा है।

मोक्ष का स्वरूप—बन्ध और बन्ध के कारणों के अभाव से होनेवाला परिपूर्ण आत्मिक विकास मोक्ष है अर्थात् ज्ञान और वीतरागभाव की पराकाष्ठा ही मोक्ष है।

साधनों का स्वरूप—जिस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्त्व अर्थात् सत्य की प्रतीति हो, अथवा जिससे हेय (छोड़ने योग्य) एवं उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो वह सम्यग्दर्शन है। नय और प्रमाण[1] से होनेवाला जीव आदि तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव अर्थात् रागद्वेष और योग[2] की निवृत्ति से होनेवाला स्वरूप रमण सम्यक्चारित्र[3] है।

साधनों का साहचर्य—जब उक्त तीनों साधन परिपूर्ण रूप में प्राप्त होते हैं तभी सम्पूर्ण मोक्ष सम्भव है, अन्यथा नहीं। एक भी साधन के अपूर्ण रहने पर परिपूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान परिपूर्ण रूप में प्राप्त हो जाने पर भी सम्यक्चारित्र की अपूर्णता[4] के कारण तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण मोक्ष अर्थात् अशरीरसिद्धि या विदेहमुक्ति नहीं होती और चौदहवें गुणस्थान में शैलेशी-अवस्थारूप[5] पूर्ण चारित्र के प्राप्त होते ही तीनों साधनों की परिपूर्णता से पूर्ण मोक्ष हो जाता है।

साहचर्य-नियम—उक्त तीनों साधनों में से पहले दो अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य सहचारी[6] होते हैं।

---

१. जो ज्ञान शब्द में उतारा जाता है अर्थात् जिसमें उद्देश्य और विधेय रूप से वस्तु भासित होती है वह ज्ञान 'नय' है और जिसमें उद्देश्य-विधेय के विभाग के बिना ही अर्थात् अविभक्त वस्तु का सम्पूर्ण या असम्पूर्ण यथार्थ भान हो वह ज्ञान 'प्रमाण' है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—अध्याय १, सूत्र ६; न्यायावतार, श्लोक २९-३० का गुजराती अनुवाद।

२. योग अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया।

३. हिंसादि दोषों का त्याग और अहिंसादि महाव्रतों का अनुष्ठान सम्यक्चारित्र कहलाता है क्योंकि उनके द्वारा रागद्वेष की निवृत्ति की जाती है एवं इससे दोषों का त्याग और महाव्रतों का पालन स्वतः सिद्ध होता है।

४. यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में वीतरागभावरूप चारित्र तो पूर्ण ही है तथापि यहाँ वीतरागता और अयोगता—इन दोनों को पूर्ण चारित्र मानकर ही अपूर्णता कही गई है। ऐसा पूर्ण चारित्र चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है और तुरन्त ही अशरीरसिद्धि होती है।

५. आत्मा की एक ऐसी अवस्था जिसमें ध्यान की पराकाष्ठा के कारण मेरुसदृश निष्प्रकम्पता व निश्चलता आती है, शैलेशी अवस्था है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—हिन्दी दूसरा कर्मग्रन्थ, पृष्ठ ३०।

६. एक ऐसा भी पक्ष है जो दर्शन और ज्ञान के अवश्यम्भावी साहचर्य को न मानकर वैकल्पिक साहचर्य को मानता है। उसके मतानुसार कभी दर्शनकाल में ज्ञान नहीं भी

जैसे सूर्य की उष्णता और प्रकाश एक-दूसरे के बिना नही रह सकते, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक-दूसरे के बिना नही रहते, पर सम्यक्चारित्र के साथ उनका साहचर्य अवश्यम्भावी नही है, क्योंकि सम्यक्चारित्र के बिना भी कुछ काल तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रहते है। फिर भी उत्क्रान्ति (विकास) के क्रमानुसार सम्यक्चारित्र का यह नियम है कि जब वह प्राप्त होता है तब उसके पूर्ववर्ती सम्यग्दर्शन आदि दो साधन अवश्य होते है।

प्रश्न—यदि आत्मिक गुणों का विकास ही मोक्ष है और सम्यग्दर्शन आदि उसके साधन भी आत्मा के विशिष्ट गुणो का विकास ही है, तो फिर मोक्ष और उसके साधन में क्या अन्तर हुआ ?

उत्तर—कुछ नही।

प्रश्न—यदि अन्तर नहीं है तो मोक्ष साध्य और सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय उसके साधन—यह साध्य-साधनभाव कैसे ? क्योंकि साध्य-साधनसम्बन्ध भिन्न वस्तुओ में देखा जाता है।

उत्तर—साधक-अवस्था की अपेक्षा से मोक्ष और रत्नत्रय का साध्य-साधन-भाव कहा गया है, सिद्ध-अवस्था की अपेक्षा से नही, क्योकि साधक का साध्य परिपूर्ण दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्ष होता है और उसकी प्राप्ति रत्नत्रय के क्रमिक विकास से ही होती है। यह शास्त्र साधक के लिए है, सिद्ध के लिए नही। अतः इसमें साधक के लिए उपयोगी साध्य-साधन के भेद का ही कथन है।

प्रश्न—संसार में तो धन-कलत्र-पुत्रादि साधनो से सुख-प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, फिर उसे छोड़कर मोक्ष के परोक्ष सुख का उपदेश क्यो ?

उत्तर—मोक्ष का उपदेश इसलिए है कि उसमें सच्चा सुख मिलता है। संसार में जो सुख मिलता है वह सच्चा सुख नही, सुखाभास है।

प्रश्न—मोक्ष में सच्चा सुख और संसार में सुखाभास कैसे है ?

उत्तर—सासारिक सुख इच्छा की पूर्ति से होता है। इच्छा का स्वभाव है

होता। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने पर भी देव-नारक-तिर्यंञ्च को तथा कुछ मनुष्यों को विशिष्ट श्रुतज्ञान अर्थात् आचाराङ्गादि अङ्गप्रविष्ट-विषयक ज्ञान नहीं होता। इस मत के अनुसार दर्शन के समय ज्ञान न पाने का मतलब विशिष्ट श्रुतज्ञान न पाने से है। परन्तु दर्शन और ज्ञान को अवश्य सहचारी माननेवाले पक्ष का आशय यह है कि दर्शन-प्राप्ति के पहले जीव में जो मति आदि अज्ञान होता है वही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति या मिथ्या-दर्शन की निवृत्ति से सम्यक् रूप में परिणत हो जाता है और वह मति आदि ज्ञान कहलाता है। इस मत के अनुसार जो और जितना विशेष बोध सम्यक्त्व-प्राप्ति-काल में हो वही सम्यग्ज्ञान है, विशिष्ट श्रुतमात्र नहीं।

कि एक इच्छा पूरी होते-न-होते दूसरी सैकडो इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती है। उन सब इच्छाओ की तृप्ति सम्भव नही, अगर हो भी तो फिर तब तक हजारो इच्छाएँ और पैदा हो जाती है जिनका पूर्ण होना सम्भव नही। अतएव ससार में इच्छापूर्तिजन्य सुख के पलडे से अपूर्ण इच्छाजन्य दुख का पलडा भारी ही रहता है। इसीलिए उसमें सुखाभास कहा गया है। मोक्ष की स्थिति ऐसी है कि उसमें इच्छाओ का ही अभाव हो जाता है और स्वाभाविक सतोष प्रकट होता है। इसलिए उसमे सतोषजन्य सुख ही सुख है। यही सच्चा सुख है। १।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। २।

यथार्थ रूप से पदार्थों का निश्चय करने की रुचि सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु

तन्निसर्गादधिगमाद्वा। ३।

वह (सम्यग्दर्शन) निसर्ग अर्थात् परिणाम मात्र से अथवा अधिगम अर्थात् उपदेशादि बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है।

जगत् के पदार्थों को यथार्थ रूप से जानने की रुचि सासारिक और आध्यात्मिक—दोनो प्रकार की महत्त्वाकाक्षा से होती है। धन, प्रतिष्ठा आदि सासारिक वासना के कारण जो तत्त्व-जिज्ञासा होती है वह सम्यग्दर्शन नही है, क्योकि उसका परिणाम मोक्ष नही, ससार होता है। परन्तु तत्त्वनिश्चय की जो रुचि मात्र आत्मिक तृप्ति के लिए, आध्यात्मिक विकास के लिए होती है वही सम्यग्दर्शन है।

निश्चय और व्यवहार सम्यक्त्व—आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न ज्ञेयमात्र को तात्त्विक रूप में जानने की, हेय को त्यागने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचि के रूप में एक प्रकार का जो आत्मिक परिणाम है वही निश्चय सम्यक्त्व है। उस रुचि से होनेवाली धर्मतत्त्वनिष्ठा व्यवहार सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व के लिङ्ग—सम्यग्दर्शन की पहचान करानेवाले लिंग पाँच है—प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य। १. तत्त्वों के असत् पक्षपात से होनेवाले कदाग्रह आदि दोषो का उपशम प्रशम है। २. सासारिक बन्धनो का भय सवेग है। ३. विषयो मे आसक्ति का कम होना निर्वेद है। ४ दुखी प्राणियो का दुख दूर करने की इच्छा अनुकम्पा है। ५ आत्मा आदि परोक्ष किन्तु युक्तिप्रमाण से सिद्ध पदार्थों का स्वीकार आस्तिक्य है

हेतुभेद—सम्यग्दर्शन के योग्य आध्यात्मिक उत्क्रान्ति होते ही सम्यग्दर्शन का

आविर्भाव होता है। पर किसी आत्मा को उसके आविर्भाव में बाह्य निमित्त की अपेक्षा रहती है और किसी को नहीं। एक व्यक्ति शिक्षक आदि की मदद से शिल्प आदि कोई कला सीख लेता है और दूसरा बिना किसी की मदद के अपने-आप सीख लेता है। आन्तरिक कारण की समानता होने पर भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा और अनपेक्षा को लेकर प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्दर्शन के निसर्ग-सम्यग्दर्शन और अधिगम-सम्यग्दर्शन ये दो भेद किये गये हैं। बाह्य निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं। कोई प्रतिमा आदि धार्मिक वस्तु के अवलोकन से सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, कोई गुरु का उपदेश सुनकर, कोई शास्त्र पढ-सुनकर और कोई सत्संग के द्वारा।

उत्पत्ति-क्रम[1]—अनादिकालीन संसार-प्रवाह में तरह-तरह के दुःखो का अनुभव करते-करते योग्य आत्मा में कभी अपूर्व परिणामशुद्धि हो जाती है। इस परिणामशुद्धि को अपूर्वकरण कहते है। अपूर्वकरण से रागद्वेष की वह तीव्रता मिट जाती है जो तात्त्विक पक्षपात (सत्य का आग्रह) में बाधक है। राग-द्वेष की तीव्रता मिटते ही आत्मा सत्य के लिए जागरूक बन जाती है। यह आध्यात्मिक जागरण ही सम्यक्त्व है। २-३।

तात्त्विक अर्थों का नाम-निर्देश

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्[2]। ४।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये तत्त्व हैं।

बहुत-से ग्रन्थो में पुण्य और पाप को मिलाकर नौ तत्त्व कहे गये हैं, परन्तु यहाँ पुण्य और पाप दोनो का आस्रव या बन्धतत्त्व में समावेश करके सात तत्त्व ही कहे गये हैं। अन्तर्भाव को इस प्रकार समझना चाहिए—पुण्य-पाप दोनों द्रव्य और भाव रूप से दो-दो प्रकार के हैं। शुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपुण्य और अशुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपाप है। इसलिए द्रव्यरूप पुण्य तथा पाप बन्धतत्त्व में अन्तर्भूत है, क्योकि आत्मसम्बद्ध कर्मपुद्गल या आत्मा और कर्मपुद्गल का सम्बन्ध-विशेष ही द्रव्य-बन्धतत्त्व है। द्रव्य-पुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भावपुण्य है और द्रव्यपाप का कारण अशुभ अध्यवसाय जो भावपाप है—दोनों ही बन्धतत्त्व में

१. उत्पत्ति-क्रम की स्पष्टता के लिए देखिए—हिन्दी दूसरा कर्मग्रन्थ, पृ० ७ तथा चौथा कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना, पृ० १३।

२. बौद्धदर्शन में जो दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य हैं, सांख्य तथा योगदर्शन में जो हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय यह चतुर्व्यूह है, जिसे न्यायदर्शन में अर्थपद कहा है, उनके स्थान में आस्रव से लेकर मोक्ष तक के पाँच तत्त्व जैनदर्शन में प्रसिद्ध हैं।

अन्तर्भूत है, क्योंकि बन्ध का कारणभूत काषायिक अध्यवसाय (परिणाम) ही भावबन्ध है।

प्रश्न—आस्रव से लेकर मोक्ष तक के पाँच तत्त्व न तो जीव-अजीव की तरह स्वतन्त्र हैं और न अनादि-अनन्त। वे तो यथासम्भव जीव या अजीव की अवस्था-विशेष ही हैं। अत. उन्हें जीव-अजीव के साथ तत्त्वरूप से क्यों गिना गया ?

उत्तर—वस्तुस्थिति यही है अर्थात् यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ अनादि-अनन्त और स्वतंत्र भाव नही है किन्तु मोक्ष-प्राप्ति में उपयोगी होनेवाला ज्ञेय-भाव है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मोक्ष होने से मोक्ष के जिज्ञासुओ के लिए जिन वस्तुओ का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है वे ही वस्तुएँ यहाँ तत्त्वरूप में वर्णित है। मोक्ष तो मुख्य साध्य ही है, इसलिए उसको तथा उसके कारण को जाने बिना मोक्षमार्ग में मुमुक्षु की प्रवृत्ति हो ही नही सकती। इसी तरह यदि मुमुक्षु मोक्ष के विरोधी तत्त्व का और उसके कारण का स्वरूप न जाने तो भी वह अपने पथ में अस्खलित प्रवृत्ति नही कर सकता। मुमुक्षु को सबसे पहले यह जान लेना जरूरी है कि अगर मैं मोक्ष का अधिकारी हूँ तो मुझमें पाया जानेवाला सामान्य स्वरूप किस-किसमें है और किसमें नही है। इसी ज्ञान की पूर्ति के लिए सात तत्त्वो का कथन है। जीव-तत्त्व के कथन का अर्थ है मोक्ष का अधिकारी। अजीव-तत्त्व से यह सूचित किया गया कि जगत् में एक ऐसा भी तत्त्व है जो जड होने से मोक्षमार्ग के उपदेश का अधिकारी नहीं है। बन्ध-तत्त्व से मोक्ष का विरोधी भाव और आस्रव-तत्त्व से उस विरोधी भाव का कारण निर्दिष्ट किया गया। सवर-तत्त्व से मोक्ष का कारण और निर्जरा-तत्त्व से मोक्ष का क्रम सूचित किया गया है। ४।

निक्षेपों का नामनिर्देश

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः। ५।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप या विभाग होता है।

समस्त व्यवहार या ज्ञान के लेन-देन का मुख्य साधन भाषा है। भाषा शब्दो से बनती है। एक ही शब्द प्रयोजन या प्रसग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ मिलते है। वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ-सामान्य के चार विभाग हैं। ये विभाग ही निक्षेप या न्यास कहलाते हैं। इनको जान लेने से वक्ता का तात्पर्य समझने में सरलता होती है। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में चार अर्थनिक्षेप बतलाये गये हैं जिससे यह पृथक्करण स्पष्ट रूप

से हो सके कि मोक्ष-मार्गरूप से सम्यग्दर्शन आदि अर्थ और तत्त्वरूप से जीवाजीवादि अर्थ अमुक प्रकार का लेना चाहिए, दूसरे प्रकार का नहीं। वे चार निक्षेप ये हैं : १. जो अर्थ व्युत्पत्ति-सिद्ध नही है, मात्र माता, पिता या अन्य लोगो के सकेत से जाना जाता है वह नामनिक्षेप हैं; जैसे, एक ऐसा व्यक्ति जिसमें सेवक-योग्य कोई गुण नही है, पर किसी ने जिसका नाम सेवक रख दिया है। २. जो वस्तु असली वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र हो अथवा जिसमें असली वस्तु का आरोप किया गया हो वह स्थापना-निक्षेप है, जैसे, किसी सेवक का चित्र या मूर्ति। ३. जो अर्थ भावनिक्षेप का पूर्वरूप या उत्तररूप हो अर्थात् उसकी पूर्व या उत्तर अवस्थारूप हो वह द्रव्यनिक्षेप हैं; जैसे, एक ऐसा व्यक्ति जो वर्तमान में सेवाकार्य नही करता, पर या तो वह सेवा कर चुका है या आगे करने वाला है। ४ जिस अर्थ में शब्द की व्युत्पत्ति[1] या प्रवृत्ति-निमित्त ठीक-ठीक घटित हो वह भावनिक्षेप है, जैसे, एक ऐसा व्यक्ति जो सेवक योग्य कार्य करता है।

सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग के और जीव-अजीवादि तत्त्वों के भी चार-चार निक्षेप हो सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में वे भावरूप ही ग्राह्य हैं। ५।

---

१. संक्षेप में नाम दो तरह के होते हैं—यौगिक और रूढ। रसोइया, सुनार इत्यादि यौगिक शब्द है। गाय, घोडा इत्यादि रूढ शब्द हैं। रसोई बनानेवाला रसोइया और सुवर्ण का काम करनेवाला सुनार। यहाँ रसोई और सुवर्ण का काम करने की क्रिया ही रसोइया और सुनार शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त है। अर्थात् ये शब्द ऐसी क्रिया के आश्रय से ही बने हैं और इसीलिए वह क्रिया ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त कही जाती है। यदि यही बात संस्कृत शब्दों पर लागू करनी हो तो पाचक, कुम्भकार आदि शब्दों में क्रमश. पाक-क्रिया और घट-निर्माण की क्रिया को व्युत्पत्ति-निमित्त समझना चाहिए। साराश यह है कि यौगिक शब्दों में व्युत्पत्ति का निमित्त ही उनकी प्रवृत्ति का निमित्त बनता है। लेकिन रूढ शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर व्यवहृत नहीं होते, रूढि के अनुसार उनका अर्थ होता है। गाय (गौ), घोडा (अश्व) आदि शब्दों की कोई खास व्युत्पत्ति नहीं होती, लेकिन यदि कोई किसी प्रकार कर ले तो भी अन्त में उसका व्यवहार तो रूढि के अनुसार ही होता है, व्युत्पत्ति के अनुसार नहीं। अमुक-अमुक प्रकार की आकृति-जाति ही गाय, घोडा आदि रूढ शब्दों के व्यवहार का निमित्त है। अतः उस आकृति-जाति को वैसे शब्दों का व्युत्पत्ति-निमित्त नहीं लेकिन प्रवृत्ति निमित्त ही कहा जाता है।

जहाँ यौगिक शब्द (विशेषणरूप) हो वहाँ व्युत्पत्ति-निमित्तवाले अर्थ को भाव-निक्षेप और जहाँ रूढ शब्द (जाति-नाम) हो वहाँ प्रवृत्ति-निमित्तवाले अर्थ को भाव-निक्षेप समझना चाहिए।

तत्त्वों को जानने के उपाय

प्रमाणनयैरधिगमः । ६ ।

प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है ।

नय और प्रमाण का अन्तर-नय और प्रमाण दोनों ही ज्ञान हैं, परन्तु दोनो में अन्तर यह है कि नय वस्तु के एक अंश का बोध कराता है और प्रमाण अनेक अंशो का । वस्तु में अनेक धर्म होते हैं । किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय करना, जैसे नित्यत्व-धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्य हैं' ऐसा निश्चय करना नय है । अनेक धर्मों द्वारा वस्तु का अनेक रूप से निश्चय करना, जैसे नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्मोंद्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्यानित्य आदि अनेक रूप हैं' ऐसा निश्चय करना प्रमाण है । दूसरे शब्दो में, नय प्रमाण का एक अंश मात्र है और प्रमाण अनेक नयों का समूह है, नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है और प्रमाण अनेक दृष्टियो से । ६ ।

तत्त्वों के विस्तृत ज्ञान के लिए कुछ विचारणा-द्वारों[1] का निर्देश

निर्देशस्वामित्वसाधनाऽधिकरणस्थितिविधानतः । ७ ।

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालाऽन्तरभावाऽल्पबहुत्वैश्च । ८ ।

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से; तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व से सम्यग्दर्शन आदि विषयो का ज्ञान होता है ।

कोई भी जिज्ञासु जब पहले-पहल विमान आदि किसी नई वस्तु को देखता या उसका नाम सुनता है तब उसकी जिज्ञासा-वृत्ति जाग उठती है और इससे वह उस अदृष्टपूर्व या अश्रुतपूर्व वस्तु के संबंध में अनेक प्रश्न करने लगता है। वह उस वस्तु के स्वभाव, रूप-रंग, उसके मालिक, बनाने के उपाय, रखने का स्थान, उसके टिकाऊपन की अवधि, उसके प्रकार आदि के संबंध में नानाविध प्रश्न करता है और उन प्रश्नो का उत्तर प्राप्त करके अपनी ज्ञानवृद्धि करता है । इसी तरह अन्तर्दृष्टि व्यक्ति भी मोक्षमार्ग को सुनकर या हेय-उपादेय

---

1. किसी भी वस्तु में प्रवेश करने का मतलब है उसकी जानकारी प्राप्त करना और विचार करना । इसका मुख्य साधन उसके विषय में विविध प्रश्न करना ही है । प्रश्नों का जितना स्पष्टीकरण मिले उतना ही उस वस्तु में प्रवेश समझना चाहिए । अतः प्रश्न ही वस्तु में प्रवेश करने के अर्थात् विचारणा द्वारा उसकी तह तक पहुँचने के द्वार हैं । अतः विचारणा (मीमांसा)-द्वार का मतलब हुआ प्रश्न । शास्त्रों में उनको अनुयोग-द्वार कहा गया है । अनुयोग अर्थात् व्याख्या या विवरण, उसके द्वार अर्थात् प्रश्न ।

आध्यात्मिक तत्त्व को सुनकर तत्सम्बन्धी विविध प्रश्नो के द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाता है। यही आशय प्रस्तुत दो सूत्रो में प्रकट किया गया है। निर्देश आदि सूत्रोक्त चौदह प्रश्नो को लेकर सम्यग्दर्शन पर संक्षेप में विचार किया जाता है।

१ निर्देश (तत्त्वरुचि)—यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप है। २ स्वामित्व (अधिकारित्व)—सम्यग्दर्शन का अधिकारी जीव ही है, अजीव नही, क्योकि वह जीव का ही गुण या पर्याय है। ३. साधन (कारण)—दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम और क्षय ये तीन सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग कारण है। बहिरङ्ग कारण शास्त्रज्ञान, जातिस्मरण, प्रतिमादर्शन, सत्सग आदि अनेक है। ४ अधिकरण (आधार)—सम्यग्दर्शन का आधार जीव ही है, क्योंकि वह उस का परिणाम होने के कारण उसी में रहता है। सम्यग्दर्शन गुण है, इसलिए यद्यपि उसका स्वामी और अधिकरण अलग-अलग नही है, तथापि जहाँ जीव आदि द्रव्य के स्वामी और अधिकरण का विचार करना हो वहाँ उन दोनो में भिन्नता भी पाई जाती है। जैसे, व्यवहारदृष्टि से देखने पर एक जीव का स्वामी कोई दूसरा जीव होगा, पर अधिकरण उसका कोई स्थान या शरीर ही कहा जायेगा। ५ स्थिति (कालमर्यादा)—सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति सादि-अनन्त है। तीनो प्रकार के सम्यक्त्व अमुक समय में उत्पन्न होते है, इसलिए वे सादि अर्थात् पूर्वावधिवाले है। परन्तु उत्पन्न होकर भी औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कायम नहीं रहते, इसलिए वे दो तो सान्त अर्थात् उत्तर अवधिवाले भी है। पर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद नष्ट नही होता इसलिए वह अनन्त है। इसी अपेक्षा से सामान्यतया सम्यग्दर्शन को सादि-सान्त और सादि-अनन्त समझना चाहिए। ६ विधान (प्रकार)—सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन प्रकार है।

७ सत् (सत्ता)—यद्यपि सम्यक्त्व गुण सत्तारूप से सभी जीवो में विद्यमान है, पर उसका आविर्भाव केवल भव्य जीवो में होता है, अभव्यो में नही। ८ संख्या (गिनती)—सम्यक्त्व की गिनती उसे प्राप्त करने वालों की संख्या पर निर्भर है। आज तक अनन्त जीवो ने सम्यक्त्व-लाभ किया है और आगे अनन्त जीव उसको प्राप्त करेंगे, इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन संख्या में अनन्त है। ९ क्षेत्र (लोकाकाश)—सम्यग्दर्शन का क्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश नही है किन्तु उसका असख्यातवाँ भाग है। चाहे सम्यग्दर्शनी एक जीव को लेकर या अनन्त जीवो को लेकर विचार किया जाय तो भी सामान्य रूप से सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असख्यातवाँ भाग समझना चाहिए, क्योकि सभी सम्यग्दर्शनवाले जीवो का

निवास क्षेत्र भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही है। फिर भी इतना अन्तर अवश्य होगा कि एक सम्यक्त्वी जीव के क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त जीवों का क्षेत्र परिमाण में बडा होगा, क्योंकि लोक का असंख्यातवाँ भाग भी तरतमभाव से असख्यात प्रकार का होता है। १०. स्पर्शन—निवासस्थानरूप आकाश के चारो ओर के प्रदेशो को छूना स्पर्शन है। क्षेत्र में केवल आधारभूत आकाश ही आता है। स्पर्शन में आधार-क्षेत्र के चारों तरफ के आधेय द्वारा स्पर्शित आकाश-प्रदेश भी आते हैं। यही क्षेत्र और स्पर्शन में अन्तर है। सम्यग्दर्शन का स्पर्शन-क्षेत्र भी लोक का असख्यातवाँ भाग ही होता है, परन्तु यह भाग उसके क्षेत्र की अपेक्षा कुछ बडा होता है, क्योंकि इसमें क्षेत्रभूत आकाशपर्यन्त प्रदेश भी सम्मिलित है। ११. काल (समय)—एक जीव की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन का काल सादि-सान्त या सादि-अनन्त होता है, पर सब जीवो की अपेक्षा से अनादि-अनन्त समझना चाहिए, क्योंकि भूतकाल का कोई भी भाग ऐसा नही है कि जब सम्यक्त्वी बिलकुल न रहा हो। भविष्यत्काल के विषय में भी यही बात है अर्थात् अनादिकाल से सम्यग्दर्शन का आविर्भाव-क्रम जारी है जो अनन्तकाल तक चलता रहेगा। १२ अन्तर (विरहकाल)—एक जीव को लेकर सम्यग्दर्शन का विरहकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त[१] और उत्कृष्ट अपार्धपुद्गलपरावर्त[२] जितना समझना चाहिए, क्योंकि एक बार सम्यक्त्व का वमन (नाश) हो जाने पर पुन. वह जल्दी से जल्दी अन्तर्मुहूर्त में प्राप्त हो सकता है। ऐसा न हुआ तो भी अन्त में अपार्ध-पुद्गलपरावर्त के बाद अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। परन्तु नाना जीवो की अपेक्षा से तो सम्यग्दर्शन का विरहकाल बिलकुल नही होता, क्योंकि नाना जीवो में तो किसी-न-किसी को सम्यग्दर्शन होता ही रहता है। १३. भाव (अवस्था-विशेष)—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन अवस्थाओ में सम्यक्त्व पाया जाता है। ये भाव सम्यक्त्व के आवरणभूत दर्शनमोहनीय कर्म के

---

१ आवली से अधिक और मुहूर्त से न्यून काल अन्तर्मुहूर्त है। आवली से एक समय अधिक काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, मुहूर्त में एक समय कम उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त और बीच का सब काल मध्यम अन्तर्मुहूर्त है। यह दिगम्बर परम्परा है। (देखें—तिलोय-पण्णत्ति, ४ २८८; गो० जीवकांड, गा० ५७३-५१५।) श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार नौ समय का जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। बाकी सब समान है।

२. जीव पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें शरीर, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करता है। किसी जीव को जगत् में विद्यमान समग्र पुद्गल परमाणुओं को आहारक शरीर के सिवाय शेष सब शरीरों के रूप में तथा भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करके उन्हें छोड देने में जितना काल लगता है उसे पुद्गलपरावर्त कहते है। इसमें कुछ ही काल कम हो तो उसे अपार्धपुद्गलपरावर्त कहते है।

उपशम, क्षयोपशम और क्षय से उत्पन्न है। इन भावो से सम्यक्त्व की शुद्धि का तारतम्य जाना जा सकता है। औपशमिक[1] की अपेक्षा क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिक की अपेक्षा क्षायिक भाव वाला सम्यक्त्व उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर होता है। उक्त तीन भावो के सिवाय दो भाव और भी है—औदयिक तथा पारिणामिक। इन भावो में सम्यक्त्व नही होता। अर्थात् दर्शनमोहनीय को उदयावस्था में सम्यक्त्व का आविर्भाव नही हो सकता। इसी तरह सम्यक्त्व अनादिकाल से जीवत्व के समान अनावृत अवस्था में न पाये जाने के कारण पारिणामिक अर्थात् स्वाभाविक भी नहीं है। १४. अल्पबहुत्व (न्यूनाधिकता)—पूर्वोक्त तीन प्रकार के सम्यक्त्व में औपशमिक सम्यक्त्व सबसे अल्प है, क्योंकि ऐसे सम्यक्त्व वाले जीव अन्य प्रकार के सम्यक्त्व वालो से हमेशा थोडे ही होते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व असख्यातगुणा और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तगुणा है। क्षायिक सम्यक्त्व के अनन्त गुणा होने का कारण यह है कि यह सम्यक्त्व समस्त मुक्त जीवों में होता है औ मुक्त जीव अनन्त है। ७-८।

सम्यग्ज्ञान के भेद

मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्। ९।

मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्याय और केवल—ये पाँच ज्ञान हैं।

जैसे सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण बतलाया गया है वैसे सम्यग्ज्ञान का नही। क्योकि सम्यग्दर्शन का लक्षण जान लेने से सम्यग्ज्ञान का लक्षण अपने-आप ज्ञात किया जा सकता है। जीव कभी सम्यग्दर्शन-रहित तो होता है, पर ज्ञानरहित नहीं। किसी-न-किसी प्रकार का ज्ञान जीव में अवश्य रहता है। वही ज्ञान सम्यक्त्व का आविर्भाव होते ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान और असम्यग्ज्ञान में यही अन्तर है कि पहला सम्यक्त्व-सहचरित है और दूसरा सम्यक्त्वरहित अर्थात् मिथ्यात्व-सहचरित है।

प्रश्न—सम्यक्त्व का ऐसा क्या प्रभाव है कि उसके अभाव में तो ज्ञान कितना ही अधिक और अभ्रान्त क्यो न हो, असम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान कहलाता

---

१. यहाँ क्षायोपशमिक को औपशमिक की अपेक्षा जो शुद्ध कहा गया है वह परिणाम की अपेक्षा से नहीं, स्थिति की अपेक्षा से है। परिणाम की अपेक्षा से तो औपशमिक ही ज्यादा शुद्ध है। क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में तो मिथ्यात्व का प्रदेशोदय हो सकता है किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व के समय किसी तरह के मिथ्यात्व-मोहनीय का उदय सम्भव नहीं। तथापि औपशमिक की अपेक्षा क्षायोपशमिक की स्थिति बहुत लंबी होती है। इसी अपेक्षा से इसे विशुद्ध भी कह सकते है।

है और थोड़ा अस्पष्ट व भ्रमात्मक ज्ञान भी सम्यक्त्व के प्रकट होते ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है

उत्तर—यह अध्यात्म-शास्त्र है। इसलिए सम्यग्ज्ञान और असम्यग्ज्ञान का विवेक आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाता है, न्याय या प्रमाणशास्त्र की तरह विषय की दृष्टि से नही। न्यायशास्त्र में जिस ज्ञान का विषय यथार्थ हो वही सम्यग्ज्ञान—प्रमाण और जिसका विषय अयथार्थ हो वह असम्यग्ज्ञान—प्रमाणाभास कहलाता है। परन्तु इस आध्यात्मिक शास्त्र में न्यायशास्त्रसम्मत सम्यग्ज्ञान-असम्यग्ज्ञान का वह विभाजन मान्य होने पर भी गौण है। यहाँ यही विभाजन मुख्य है कि जिस ज्ञान से आध्यात्मिक उत्क्रान्ति (विकास) हो वही सम्यग्ज्ञान है और जिससे संसार-वृद्धि या आध्यात्मिक पतन हो वही असम्यग्ज्ञान है। सम्भव है कि सामग्री की कमी के कारण सम्यक्त्वी जीव को कभी किसी विषय में सशय भी हो, भ्रम भी हो, एवं ज्ञान भी अस्पष्ट हो, पर सत्यगवेषक और कदाग्रहरहित होने के कारण वह अपने से महान्, प्रामाणिक, विशेषदर्शी व्यक्ति के आश्रय से अपनी कमी को सुधार लेने के लिए सदैव उत्सुक रहता है, सुधार भी लेता है और अपने ज्ञान का उपयोग वासनापोषण में न कर मुख्यतया आध्यात्मिक विकास में ही करता है। सम्यक्त्वशून्य जीव का स्वभाव इससे विपरीत होता है। सामग्री की पूर्णता के कारण उसे निश्चयात्मक, अधिक और स्पष्ट ज्ञान होता है तथापि वह कदाग्रही प्रकृति के कारण घमडी होकर किसी विशेषदर्शी के विचारो को भी तुच्छ समझता है और अन्त में अपने ज्ञान का उपयोग आत्मिक प्रगति में न कर सासारिक महत्त्वाकाक्षा में ही करता है। ९।

प्रमाण-चर्चा

तत् प्रमाणे। १०।

आद्ये परोक्षम्। ११।

प्रत्यक्षमन्यत्। १२।

वह अर्थात् पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाणरूप है।
प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।
शेष सब (तीन) ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रमाण-विभाग—मति, श्रुत आदि ज्ञान के पाँचो प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों में विभक्त है।

प्रमाण-लक्षण—प्रमाण का सामान्य लक्षण पहले बताया जा चुका है कि जो ज्ञान वस्तु को अनेकरूप से जानता है वह प्रमाण है। उसके विशेष लक्षण

ये हैं—जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही केवल आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है, जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है।

उक्त पाँच में से पहले दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष-प्रमाण कहलाते हैं, क्योंकि ये दोनों इन्द्रिय तथा मन की मदद से उत्पन्न होते हैं।

अवधि, मन पर्याय और केवल ये तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि ये इन्द्रिय तथा मन की मदद के बिना केवल आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होते हैं।

न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण भिन्न प्रकार से किया गया है। उसमें इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और लिङ्ग (हेतु) तथा शब्दादिजन्य ज्ञान को परोक्ष कहा गया है, परन्तु वह लक्षण यहाँ स्वीकृत नहीं है। यहाँ तो आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से और इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान परोक्ष रूप से इष्ट है। मति और श्रुत दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखनेवाले होने से परोक्ष समझने चाहिए और अवधि आदि तीनों ज्ञान इन्द्रिय तथा मन की मदद के बिना आत्मिक योग्यता से उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष। इन्द्रिय तथा मनोजन्य मतिज्ञान को कहीं-कहीं पूर्वोक्त न्यायशास्त्र के लक्षणानुसार लौकिक दृष्टि की अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा गया है।[1] १०–१२।

मतिज्ञान के एकार्थक शब्द

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। १३।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध—ये शब्द पर्यायभूत (एकार्थवाचक) हैं।

प्रश्न—किस ज्ञान को मति कहते हैं ?

उत्तर—जो ज्ञान वर्तमान-विषयक हो उसे मति कहते हैं।

प्रश्न—क्या स्मृति, संज्ञा और चिन्ता भी वर्तमान-विषयक ही हैं ?

उत्तर—नहीं। पहले अनुभव की हुई वस्तु का स्मरण स्मृति है, इसलिए वह अतीत-विषयक है। पहले अनुभव की हुई और वर्तमान में अनुभव की जाने वाली वस्तु की एकता का तालमेल संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान है, इसलिए वह अतीत

---

१. प्रमाणमीमांसा आदि तर्कग्रन्थों में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से इन्द्रिय-मनोजन्य अवग्रह आदि ज्ञान का वर्णन है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—न्यायावतार, गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में जैन प्रमाणमीमांसा-पद्धति का विकासक्रम।

और वर्तमान उभय-विषयक है। चिन्ता भावी वस्तु की विचारणा (चिन्तन) है, इसलिए वह अनागत-विषयक है।

प्रश्न—इस कथन से तो मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ये पर्यायवाची शब्द नहीं हो सकते, क्योंकि इनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं ?

उत्तर—विषय-भेद और कुछ निमित्त-भेद होने पर भी मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ज्ञान का अन्तरङ्ग कारण जो मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है वही सामान्य रूप से यहाँ विवक्षित है, इसी अभिप्राय से यहाँ मति आदि शब्दों को पर्यायवाची कहा गया है।

प्रश्न—अभिनिबोध शब्द के विषय में तो कुछ नहीं कहा गया। वह किस प्रकार के ज्ञान का वाचक है ?

उत्तर—अभिनिबोध मतिज्ञानबोधक एक सामान्य शब्द है। वह मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता इन सभी ज्ञानों के लिए प्रयुक्त होता है अर्थात् मति-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होनेवाले सब प्रकार के ज्ञानो के लिए अभिनिबोध शब्द सामान्य रूप में व्यवहृत होता है और मति आदि शब्द उस क्षयोपशमजन्य खास-खास ज्ञानो के लिए हैं।

प्रश्न—इस तरह तो अभिनिबोध सामान्य शब्द हुआ और मति आदि उसके विशेष शब्द हुए, फिर ये पर्यायवाची शब्द कैसे ?

उत्तर—यहाँ सामान्य और विशेष की भेद-विवक्षा न करके सबको पर्यायवाची शब्द कहा गया है। १३।

मतिज्ञान का स्वरूप

तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् । १४ ।

मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से उत्पन्न होता है।

प्रश्न—यहाँ मतिज्ञान के इन्द्रिय और अनिन्द्रिय ये दो कारण बतलाये गये हैं। इनमें चक्षु आदि इन्द्रिय तो प्रसिद्ध हैं, पर अनिन्द्रिय से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अनिन्द्रिय अर्थात् मन।

प्रश्न—जब चक्षु आदि तथा मन ये सभी मतिज्ञान के साधन हैं तब एक को इन्द्रिय और दूसरे को अनिन्द्रिय कहने का कारण ?

उत्तर—चक्षु आदि बाह्य साधन हैं और मन आभ्यन्तर साधन है। यही भेद इन्द्रिय और अनिन्द्रिय संज्ञाभेद का कारण है। १४।

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहेहावायधारणाः । १५ ।

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—ये चार भेद हैं ।

प्रत्येक इन्द्रियजन्य और मनोजन्य मतिज्ञान के चार-चार भेद हैं । अतएव पाँच इन्द्रियाँ और एक मन इन छहों के अवग्रह आदि चार-चार भेद गिनने से मतिज्ञान के चौबीस भेद होते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—

स्पर्शन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन	,,	,,	,,	,,
घ्राण	,,	,,	,,	,,
चक्षु	,,	,,	,,	,,
श्रोत्र	,,	,,	,,	,,
मन	,,	,,	,,	,,

अवग्रह आदि उक्त चारों भेदो के लक्षण—१. नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है । जैसे, गाढ अन्धकार में कुछ छू जाने पर यह ज्ञान होना कि यह कुछ है । इस ज्ञान में यह नही मालूम होता कि किस चीज का स्पर्श हुआ है, इसलिए वह अव्यक्त ज्ञान अवग्रह है । २ अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये हुए सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिए जो विचारणा होती है वह ईहा है । जैसे, यह रस्सी का स्पर्श है या साँप का यह संशय होने पर ऐसी विचारणा होती है कि यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिए, क्योंकि यदि साँप होता तो इतना सख्त आघात होने पर वह फुफकारे बिना न रहता । यही विचारणा सम्भावना या ईहा है । ३ ईहा के द्वारा ग्रहण किये हुए विशेष का कुछ अधिक अवधान (एकाग्रतापूर्वक निश्चय) अवाय है । जैसे, कुछ काल तक सोचने और जाँच करने पर निश्चय हो जाना कि यह साँप का स्पर्श नही, रस्सी का ही है, इसे अवाय कहते हैं । ४. अवायरूप निश्चय कुछ काल तक कायम रहता है, फिर मन के विषयान्तर में चले जाने से वह निश्चय लुप्त तो हो जाता है पर ऐसा संस्कार छोड़ जाता है कि आगे कभी

योग्य निमित्त मिलने पर उस निश्चित विषय का स्मरण हो आता है। इस निश्चय की सतत धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मरण—यह सब मति-व्यापार धारणा कहलाता है।

प्रश्न—उक्त चारों भेदों का क्रम निर्हेतुक है या सहेतुक ?

उत्तर—सहेतुक है। सूत्र से स्पष्ट है कि सूत्र में निर्दिष्ट क्रम से ही अवग्रहादि की उत्पत्ति होती है। १५।

अवग्रह आदि के भेद

बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासन्दिग्धध्रुवाणां सेतराणाम्। १६।

सेतर (प्रतिपक्षसहित) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असदिग्ध और ध्रुव रूप मे अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणारूप मतिज्ञान होता है।

पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छ. साधनो से होनेवाले मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा आदि रूप में जो चौबीस भेद कहे गये हैं वे क्षयोपशम और विषय की विविधता से बारह-बारह प्रकार के होते हैं। जैसे—

बहुग्राही	छ· अवग्रह	छ· ईहा	छ. अवाय	छ. धारणा
अल्पग्राही	"	"	"	"
बहुविधग्राही	"	"	"	"
एकविधग्राही	"	"	"	"
क्षिप्रग्राही	"	"	"	"
अक्षिप्रग्राही	"	"	"	"
अनिश्रितग्राही	"	"	"	"
निश्रितग्राही	"	"	"	"
असंदिग्धग्राही	"	"	"	"
संदिग्धग्राही	"	"	"	"
ध्रुवग्राही	"	"	"	"
अध्रुवग्राही	"	"	"	"

बहु अर्थात् अनेक और अल्प अर्थात् एक। जैसे, दो या दो से अधिक पुस्तकों को जाननेवाले अवग्रह, ईहा आदि चारो क्रमभावी मतिज्ञान बहुग्राही अवग्रह, बहुग्राहिणी ईहा, बहुग्राही अवाय और बहुग्राहिणी धारणा कहलाते हैं और एक

पुस्तक को जाननेवाले अल्पग्राही अवग्रह, अल्पग्राहिणी ईहा, अल्पग्राही अवाय और अल्पग्राहिणी धारणा कहलाते हैं।

बहुविध अर्थात् अनेक प्रकार से और एकविध अर्थात् एक प्रकार से। जैसे आकार-प्रकार, रूप-रंग या मोटाई आदि में विविधता रखनेवाली पुस्तकों को जाननेवाले उक्त चारो ज्ञान क्रम से बहुविधग्राही अवग्रह, बहुविधग्राहिणी ईहा, बहुविधग्राही अवाय तथा बहुविधग्राहिणी धारणा, और आकार-प्रकार, रूप-रंग तथा मोटाई आदि में एक ही प्रकार की पुस्तको को जाननेवाले वे ज्ञान एकविधग्राही अवग्रह, एकविधग्राहिणी ईहा आदि कहलाते हैं। बहु तथा अल्प का अभिप्राय व्यक्ति की संख्या से है और बहुविध तथा एकविध का अभिप्राय प्रकार, किस्म या जाति की संख्या से है। यही दोनों में अन्तर है।

शीघ्र जाननेवाले चारो मतिज्ञान क्षिप्रग्राही अवग्रह आदि और विलंब से जाननेवाले अक्षिप्रग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। देखा जाता है कि इन्द्रिय, विषय आदि सब बाह्य सामग्री तुल्य होने पर भी मात्र क्षयोपशम की पटुता के कारण एक मनुष्य उस विषय का ज्ञान जल्दी प्राप्त कर लेता है और क्षयोपशम की मन्दता के कारण दूसरा मनुष्य देर से प्राप्त कर पाता है।

अनिश्रित[1] अर्थात् लिंग-अप्रमित (हेतु द्वारा असिद्ध) और निश्रित अर्थात् लिंग-प्रमित वस्तु। जैसे पूर्व में अनुभूत शीत, कोमल और स्निग्ध स्पर्शरूप लिंग से वर्तमान में जूई के फूलो को जाननेवाले उक्त चारो ज्ञान क्रम से निश्रितग्राही (सलिंगग्राही) अवग्रह आदि और उक्त लिंग के विना ही उन फूलों को जाननेवाले अनिश्रितग्राही (अलिंगग्राही) अवग्रह आदि कहलाते हैं।

असंदिग्ध[2] अर्थात् निश्चित और संदिग्ध अर्थात् अनिश्चित। जैसे यह चन्दन

---

१. अनिश्रित और निश्रित शब्द का यही अर्थ नन्दीसूत्र की टीका में भी है, पर इसके सिवाय दूसरा अर्थ भी उस टीका में श्री मलयगिरि ने बतलाया है; जैसे परधर्मों से मिश्रित ग्रहण निश्रितावग्रह और परधर्मों से अमिश्रित ग्रहण अनिश्रितावग्रह है। देखें— पृ० १८३, आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित।

दिगम्बर ग्रन्थों में 'अनिःसृत' पाठ है। तदनुसार उनमें अर्थ किया गया है कि सम्पूर्णतया आविर्भूत नहीं ऐसे पुद्गलों का ग्रहण 'अनिःसृतावग्रह' और सम्पूर्णतया आविर्भूत पुद्गलों का ग्रहण 'निःसृतावग्रह' है। देखें—इसी सूत्र पर राजवार्तिक टीका।

२. इसके स्थान पर दिगम्बर ग्रन्थों में 'अनुक्त' पाठ है। तदनुसार उनमें अर्थ किया गया है कि एक ही वर्ण निकलने पर पूर्ण अनुच्चारित शब्द को अभिप्रायमात्र से जान लेना कि आप अमुक शब्द बोलनेवाले हैं, अनुक्तावग्रह है। अथवा, स्वर का संचारण करने से पहले ही वीणा आदि वादित्र की ध्वनिमात्र से जान लेना कि आप अमुक स्वर →

का ही स्पर्श है, फूल का नहीं। इस प्रकार से स्पर्श को निश्चित रूप से जाननेवाले उक्त चारो ज्ञान निश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। यह चन्दन का स्पर्श होगा या फूल का, क्योंकि दोनो शीतल होते हैं—इस प्रकार से विशेष की अनुपलब्धि के समय होनेवाले सदेहयुक्त चारो ज्ञान अनिश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

ध्रुव अर्थात् अवश्यम्भावी और अध्रुव अर्थात् कदाचिद्भावी। यह देखा गया है कि इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध तथा मनोयोगरूप सामग्री समान होने पर भी एक मनुष्य उस विषय को जान ही लेता है और दूसरा उसे कभी जान पाता है, कभी नही। सामग्री होने पर विषय को जाननेवाले उक्त चारो ज्ञान ध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते है और सामग्री होने पर भी क्षयोपशम की मन्दता के कारण विषय को कभी ग्रहण करनेवाले और कभी न ग्रहण करनेवाले उक्त चारो ज्ञान अध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

प्रश्न—उक्त बारह भेदो में से कितने भेद विषय की विविधता और कितने भेद क्षयोपशम की पटुता-मन्दतारूप विविधता के आधार पर किये गये है ?

उत्तर—बहु, अल्प, बहुविध और अल्पविध ये चार भेद विषय की विविधता पर अवलम्बित है, शेष आठ भेद क्षयोपशम की विविधता पर।

प्रश्न—अब तक कुल कितने भेद हुए ?

उत्तर—दो सौ अट्ठासी भेद हुए।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छ. भेदो के साथ अवग्रह आदि के चार-चार भेदों का गुणा करने से चौबीस और बहु, अल्प आदि उक्त बारह प्रकारो के साथ चौबीस का गुणा करने से दो सौ अट्ठासी भेद हुए। १६।

निकालनेवाले है, अनुक्तावग्रह है। इसके विपरीत उक्तावग्रह है। देखें—इसी सूत्र पर राजवार्तिक टीका।

श्वेताम्बर ग्रन्थ नन्दीसूत्र में 'असदिग्ध' ऐसा एकमात्र पाठ है। उसकी टीका में उसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार ही है (देखें पृ० १८३)। परन्तु तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति में अनुक्त पाठ भी है। उसका अर्थ राजवार्तिक के अनुसार है। किन्तु वृत्तिकार ने लिखा है कि अनुक्त पाठ रखने से इसका अर्थ केवल शब्द-विषयक अवग्रह आदि पर ही लागू होता है, स्पर्श-विषयक अवग्रह आदि पर नहीं। इस अपूर्णता के कारण अन्य आचार्यों ने 'असदिग्ध' पाठ रखा है। देखें—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ५८, मनसुख भगुभाई, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित।

सामान्य रूप से अवग्रह आदि का विषय

卐 अर्थस्य । १७ ।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—ये चारों मतिज्ञान अर्थ (वस्तु) को ग्रहण करते हैं।

अर्थ अर्थात् वस्तु। द्रव्य—सामान्य और पर्याय—विशेष इन दोनो को वस्तु कहते है। इसलिए प्रश्न होता है कि क्या इन्द्रियजन्य और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान द्रव्यरूप वस्तु को विषय करते है या पर्यायरूप वस्तु को ?

उत्तर—उक्त अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान मुख्यत' पर्याय को ग्रहण करते हैं, सम्पूर्ण द्रव्य को नही। द्रव्य को वे पर्याय द्वारा ही जानते हैं क्योकि इन्द्रिय और मन का मुख्य विषय पर्याय ही है। पर्याय द्रव्य का एक अंश है। इसलिए अवग्रह, ईहा आदि द्वारा जब इन्द्रियाँ और मन अपने-अपने विषयभूत पर्याय को जानते है तब वे उस-उस पर्यायरूप से द्रव्य को ही अंशत. जानते हैं; क्योंकि द्रव्य को छोडकर पर्याय नही रहता और द्रव्य भी पर्याय-रहित नहीं होता, जैसे नेत्र का विषय रूप, संस्थान (आकार) आदि है जो पुद्गल द्रव्य के पर्याय विशेष है। 'नेत्र आम्रफल आदि को ग्रहण करता है' इसका अर्थ इतना ही है कि वह उसके रूप तथा आकार-विशेष को जानता है। रूप और आकार-विशेष आम से भिन्न नहीं है इसलिए स्थूल दृष्टि से यह कहा जाता है कि नेत्र से आम देखा गया, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उसने सम्पूर्ण आम को ग्रहण नही किया क्योकि आम में तो रूप और संस्थान के अतिरिक्त स्पर्श, रस, गन्ध आदि अनेक पर्याय है जिनको जानने में नेत्र असमर्थ है। इसी तरह स्पर्शन, रसन और घ्राण इन्द्रियाँ जब गरम-गरम जलेबी आदि वस्तु को ग्रहण करती है तब वे क्रमश. उस वस्तु के उष्ण स्पर्श, मधुर रस और सुगन्ध-रूप पर्याय को ही जानती हैं। कोई भी इन्द्रिय वस्तु के सम्पूर्ण पर्यायो को ग्रहण नही कर सकती। कान भी भाषात्मक पुद्गल के ध्वनि-रूप पर्याय को ही ग्रहण करता है, अन्य पर्याय को नही। मन भी किसी विषय के अमुक अश का ही विचार करता है। वह एक साथ संपूर्ण अशों का विचार करने में असमर्थ है। इससे यह सिद्ध है कि इन्द्रियजन्य और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि चारों ज्ञान पर्याय को ही मुख्यतया विषय करते हैं और द्रव्य को वे पर्याय द्वारा ही जानते है।

प्रश्न—पूर्व सूत्र और इस सूत्र में क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—यह सूत्र सामान्य का वर्णन करता है और पूर्व सूत्र विशेष का अर्थात् इस सूत्र में पर्याय या द्रव्यरूप वस्तु को अवग्रह आदि ज्ञान का विषय जो

सामान्य रूप से बतलाया गया है उसी को संख्या, जाति आदि द्वारा पृथक्करण करके बहु, अल्प आदि विशेष रूप से पूर्व सूत्र में बतलाया गया है। १७।

इन्द्रियों की ज्ञानोत्पत्ति-पद्धतिसम्बन्धी भिन्नता के कारण अवग्रह के अवान्तर भेद

व्यञ्जनस्याऽवग्रहः। १८।
न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्। १९।

व्यञ्जन—उपकरणेन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होने पर अवग्रह ही होता है।

नेत्र और मन से व्यञ्जन होकर अवग्रह नहीं होता।

जैसे लगड़े मनुष्य को चलने में लकड़ी का सहारा अपेक्षित है वैसे ही आत्मा की आवृत चेतना शक्ति को पराधीनता के कारण ज्ञान उत्पन्न करने में सहारे की अपेक्षा है। उसे इन्द्रिय और मन का बाहरी सहारा चाहिए। सब इन्द्रियो और मन का स्वभाव समान नही है, इसलिए उनके द्वारा होनेवाली ज्ञानधारा के आविर्भाव का क्रम भी समान नही होता। यह क्रम दो प्रकार का है—मन्दक्रम और पटुक्रम।

मन्दक्रम में ग्राह्य विषय के साथ उस-उस विषय की ग्राहक उपकरणेन्द्रिय[1] का सयोग (व्यञ्जन) होते ही ज्ञान का आविर्भाव होता है। शुरू में ज्ञान की मात्रा इतनी अल्प होती है कि उससे 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध भी नही हो पाता, परन्तु ज्यों-ज्यो विषय और इन्द्रिय का सयोग पुष्ट होता जाता है, ज्ञान की मात्रा भी बढती जाती है। उक्त सयोग (व्यंजन) की पुष्टि के साथ कुछ काल में तज्जनित ज्ञानमात्रा भी इतनी पुष्ट हो जाती है कि जिससे 'यह कुछ है' ऐसा विषय का सामान्य बोध (अर्थावग्रह) होता है। इस अर्थावग्रह का उक्त व्यञ्जन से उत्पन्न पूर्ववर्ती ज्ञानव्यापार, जो उस व्यञ्जन की पुष्टि के साथ ही क्रमशः पुष्ट होता जाता है, व्यञ्जनावग्रह कहलाता है, क्योंकि उसके होने में व्यञ्जन अपेक्षित है। यह व्यञ्जनावग्रह नामक दीर्घ ज्ञानव्यापार उत्तरोत्तर पुष्ट होने पर भी इतना अल्प होता है कि उससे विषय का सामान्य बोध भी नही होता। इसलिए उसको अव्यक्ततम, अव्यक्ततर, अव्यक्त ज्ञान कहते है। जब वह ज्ञानव्यापार इतना पुष्ट हो जाय कि उससे 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध हो सके तब वही सामान्य बोधकारक ज्ञानांश अर्थावग्रह कहलाता है। अर्थावग्रह भी व्यञ्जनावग्रह का एक चरम पुष्ट अंश है क्योकि उसमें भी विषय और इन्द्रिय का संयोग अपेक्षित है। तथापि

१. इसके स्पष्टीकरण के लिए देखें—अ० २, सू० १७।

उसे व्यञ्जनावग्रह से अलग कहने का और अर्थावग्रह कहने का प्रयोजन यह है कि उस ज्ञानाश से होनेवाला विषय का बोध ज्ञाता के ध्यान में आ सकता है। अर्थावग्रह के बाद उसके द्वारा सामान्य रूप से जाने हुए विषय की विशेष रूप से जिज्ञासा, उसका विशेष निर्णय, उस निर्णय की धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मृति—यह सब ज्ञानव्यापार ईहा, अवाय और धारणा रूप से तीन विभागो में पहले बतलाया जा चुका है। यह बात नही भूलनी चाहिए कि इस मन्दक्रम में जो उपकरणेन्द्रिय और विषय के संयोग की अपेक्षा कही गई है वह व्यञ्जनावग्रह के अन्तिम अंश अर्थावग्रह तक ही है। इसके बाद ईहा, अवाय आदि ज्ञानव्यापार में वह सयोग अनिवार्य रूप से अपेक्षित नही है, क्योंकि उस ज्ञानव्यापार की प्रवृत्ति विशेष की ओर होने से उस समय मानसिक अवधान की प्रधानता रहती है। इसी कारण अवधारणयुक्त व्याख्यान करके प्रस्तुत सूत्र के अर्थ में कहा गया है कि 'व्यञ्जनस्यावग्रह एव' व्यञ्जन का अवग्रह ही होता है अर्थात् अवग्रह (अव्यक्त ज्ञान) तक ही व्यञ्जन की अपेक्षा है, ईहा आदि में नही।

पटुक्रम में उपकरणेन्द्रिय और विषय के सग की अपेक्षा नहीं है। दूर, दूरतर होने पर भी योग्य सन्निधान मात्र से इन्द्रिय उस विषय को ग्रहण कर लेती है और ग्रहण होते ही उस विषय का उस इन्द्रिय द्वारा शुरू में ही अर्थावग्रहरूप सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके बाद क्रमश: ईहा, अवाय आदि ज्ञानव्यापार पूर्वोक्त मन्दक्रम की तरह ही प्रवृत्त होता है। साराश यह है कि पटुक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग हुए बिना ही ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है जिसका प्रथम अश अर्थावग्रह और चरम अश स्मृतिरूप धारणा है। इसके विपरीत मन्दक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग होने पर ही ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है, जिसका प्रथम अंश अव्यक्ततम, अव्यक्ततररूप व्यञ्जनावग्रह नामक ज्ञान, दूसरा अश अर्थावग्रहरूप ज्ञान और चरम अंश स्मृतिरूप धारणा ज्ञान है।

दृष्टान्त—मन्दक्रम की ज्ञानधारा, जिसके आविर्भाव के लिए इन्द्रिय-विषय-संयोग की अपेक्षा है, को स्पष्टतया समझने के लिए सकोरे का दृष्टान्त उपयोगी है। जैसे आवाप—भट्ठे में से तुरन्त निकाले हुए अति रूक्ष सकोरे में पानी की एक बूंद डाली जाय तो सकोरा उसे तुरन्त ही सोख लेता है, यहाँ तक कि उसका कोई नामोनिशान नही रहता। इसी तरह आगे भी एक-एक कर डाली गयी अनेक जलबूंदो को वह सकोरा सोख लेता है। अन्त में ऐसा समय आता है जब कि वह जलबूंदों को सोखने में असमर्थ होकर उनसे भीग जाता है और उसमें डाले हुए जलकण समूहरूप में इकट्ठे होकर दिखाई देने लगते है। सकोरे की आर्द्रता पहले पहल जब मालूम होती है, उसके पूर्व भी उसमें जल था, पर उसने इस तरह जल को सोख लिया था कि जल के बिलकुल तिरोभूत हो जाने से वह

दृष्टि में आने जैसा नही था, पर सकोरे में वह था अवश्य। जब जल की मात्रा बढी और सकोरे की सोखने की शक्ति कम हुई, तब आर्द्रता दिखाई देने लगी और जो जल प्रथम सकोरे के पेट में नही समा सका था वही अब उसके ऊपर के तल में इकट्ठा होने लगा और दिखलाई देने लगा। इसी तरह जब किसी सुषुप्त व्यक्ति को पुकारा जाता है तब वह शब्द उसके कान में गायब-सा हो जाता है दो-चार बार पुकारने से उसके कान मे जब पौद्गलिक शब्दों की मात्रा काफी मात्रा में भर जाती है तब जलकणो से पहले पहल आर्द्र होनेवाले सकोरे की तरह उस सुषुप्त व्यक्ति के कान भी शब्दो से परिपूरित होकर उनको सामान्य रूप से जानने में समर्थ होते हैं कि 'यह क्या है'। यही सामान्य ज्ञान है जो शब्द को पहले पहल स्फुट रूप में जानता है। इसके बाद विशेष ज्ञान का क्रम शुरू होता है अर्थात् जैसे कुछ काल तक जलबिन्दु पडते रहने से रूक्ष सकोरा क्रमश आर्द्र बन जाता है और उसमें जल दिखाई देता है वैसे ही कुछ काल तक शब्दपुद्गलों का संयोग होते रहने से सुषुप्त व्यक्ति के कान परिपूरित होकर उन शब्दो को सामान्य रूप में जान पाते है और फिर शब्दो की विशेषताओं को जानते हैं। यद्यपि यह क्रम सुषुप्त की तरह जाग्रत व्यक्ति पर भी पूरी तरह लागू होता है पर वह इतना शीघ्र होता हैं कि साधारण लोगो के ध्यान में मुश्किल से आता है। इसीलिए सकोरे के साथ सुषुप्त व्यक्ति का साम्य दिखलाया जाता है।

पटुक्रम की ज्ञानधारा के लिए दर्पण का दृष्टान्त उपयुक्त है। जैसे दर्पण के सामने किसी वस्तु के आते ही तुरन्त उसका उसमें प्रतिबिंब पड जाता है और वह दिखाई देने लगता है। इसके लिए दर्पण के साथ प्रतिबिंबित वस्तु का साक्षात् संयोग आवश्यक नही है, जैसे कान के साथ शब्दो का साक्षात् संयोग। केवल प्रतिबिंबग्राही दर्पण और प्रतिबिंबित होनेवाली वस्तु का योग्य देश में सन्निधान आवश्यक है। ऐसा सन्निधान होते ही प्रतिबिंब पड जाता है और वह तुरन्त ही दीख पडता है। इसी तरह नेत्र के सामने रगवाली वस्तु के आते ही तुरन्त वह सामान्य रूप में दिखाई देने लगती है। इसके लिए नेत्र और उस वस्तु का सयोग अपेक्षित नही है, जैसे कान और शब्द का संयोग। केवल दर्पण की तरह नेत्र का और उस वस्तु का योग्य सन्निधान चाहिए। इसीलिए पटुक्रम में पहले पहल अर्थावग्रह माना गया है।

व्यञ्जनावग्रह का स्थान मन्दक्रमिक ज्ञानधारा में है, पटुक्रमिक ज्ञानधारा में नही। इसलिए प्रश्न होता है कि व्यञ्जनावग्रह किस किस इन्द्रिय से होता है और किस-किस से नही होता? इसी का उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। नेत्र और मन से व्यञ्जनावग्रह नही होता क्योंकि ये दोनो सयोग बिना ही क्रमश किये हुए योग्य सन्निधान मात्र से और अवधान से अपने-अपने ग्राह्य विषय को जानते हैं।

कौन नहीं जानता कि नेत्र दूर, दूरतरवर्ती वृक्ष व पर्वत आदि को ग्रहण कर लेता है और मन सुदूरवर्ती वस्तु का भी चिन्तन कर लेता है। इसीलिए नेत्र तथा मन अप्राप्यकारी माने गये हैं और उनसे होनेवाली ज्ञानधारा को पटुक्रमिक कहा गया है। कर्ण, जिह्वा, घ्राण और स्पर्शन ये चार इन्द्रियाँ मन्दक्रमिक ज्ञानधारा की कारण हैं क्योंकि ये चारो इन्द्रियाँ प्राप्यकारी (ग्राह्य) विषयो को उनसे संयुक्त होकर ही ग्रहण करती हैं। जब तक शब्द कान में न पडे; शक्कर जीभ से न लगे, पुष्प का रजकण नाक में न घुसे और जल शरीर को न छुए तब तक न तो शब्द ही सुनाई देता है, न शक्कर का ही स्वाद आता है, न फूल की सुगन्ध ही आती है और न जल ही ठण्डा या गरम जान पडता है।

प्रश्न—मतिज्ञान के कुल कितने भेद हैं ?

उत्तर—मतिज्ञान के कुल ३३६ भेद हैं।

प्रश्न—किस प्रकार।

उत्तर—पाँच इन्द्रियाँ और मन छहों के अर्थावग्रह आदि चार-चार के हिसाब से चौबीस भेद हुए तथा उनमें चार प्राप्यकारी इन्द्रियों के चार व्यञ्जनावग्रह जोडने से अट्ठाईस हुए। इन सबको बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध आदि बारह-बारह भेदो से गुणा करने पर ३३६ होते हैं। भेदो की यह गणना स्थूल दृष्टि से है। वास्तव में तो प्रकाश आदि की स्फुटता, अस्फुटता, विषयो की विविधता और क्षयोपशम की विचित्रता के आधार पर तरतमभाववाले असंख्य होते हैं।

प्रश्न—पहले बहु, अल्प आदि जो बारह भेद कहे गये हैं वे विषयगत विशेषो पर ही लागू होते हैं, और अर्थावग्रह का विषय तो सामान्यमात्र है। इस तरह वे अर्थावग्रह में कैसे घटित हो सकते हैं ?

उत्तर—अर्थावग्रह दो प्रकार का माना गया है : व्यावहारिक और नैश्चयिक। बहु, अल्प आदि बारह भेद प्राय व्यावहारिक अर्थावग्रह के ही हैं, नैश्चयिक के नहीं। नैश्चयिक अर्थावग्रह में जाति-गुण-क्रिया से रहित सामान्यमात्र प्रतिभासित होता है इसलिए उसमें बहु, अल्प आदि विशेषों का ग्रहण सम्भव नही है।

प्रश्न—व्यावहारिक और नैश्चयिक में क्या अन्तर है ?

उत्तर—जो अर्थावग्रह पहले पहल सामान्यमात्र को ग्रहण करता है वह नैश्चयिक है और जिस-जिस विशेषग्राही अवायज्ञान के बाद अन्यान्य विशेषो की जिज्ञासा और अवाय होते रहते है वे सामान्य-विशेषग्राही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह है। वही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह नही है जिसके बाद अन्य विशेषो की जिज्ञासा न हो। अपने बाद नये-नये विशेषों की जिज्ञासा पैदा करने वाले अन्य सभी अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह हैं।

प्रश्न—अर्थावग्रह के बहु, अल्प आदि उक्त बारह भेदों के विषय में कहा गया कि वे भेद व्यावहारिक अर्थावग्रह के है, नैश्चयिक के नही। इस पर प्रश्न होता है कि यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो फिर उक्त रीति से मतिज्ञान के ३३६ भेद कैसे होगे? क्योकि अट्ठाईस प्रकार के मतिज्ञान के बारह-बारह भेदो के हिसाब से ३३६ भेद होते है और अट्ठाईस प्रकार में तो चार व्यञ्जनावग्रह भी आते है जो नैश्चयिक अर्थावग्रह के भी पूर्ववर्ती होने से अत्यन्त अव्यक्त है। इसलिए उन चारों के बारह-बारह यानी ४८ भेद अलग कर देने पड़ेंगे।

उत्तर—अर्थावग्रह में तो व्यावहारिक को लेकर उक्त बारह भेद स्पष्टतया घटित किये जा सकते हैं इसलिए वैसा उत्तर स्थूल दृष्टि से दिया गया है। वास्तव में नैश्चयिक अर्थावग्रह और उसके पूर्ववर्ती व्यञ्जनावग्रह के भी बारह-बारह भेद समझने चाहिए। कार्य-कारण की समानता के सिद्धान्त पर व्यावहारिक अर्थावग्रह का कारण नैश्चयिक अर्थावग्रह है और उसका कारण व्यञ्जनावग्रह है। अब यदि व्यावहारिक अर्थावग्रह में स्पष्ट रूप से बहु, अल्प आदि विषयगत विशेषो का प्रतिभास होता है तो उसके साक्षात् कारणभूत नैश्चयिक अर्थावग्रह और व्यवहित कारण व्यञ्जनावग्रह में भी उक्त विशेषों का प्रतिभास मानना पड़ेगा, यद्यपि वह अस्फुट होने से दुर्ज्ञेय है। अस्फुट हो या स्फुट, यहाँ सिर्फ सम्भावना की अपेक्षा से उक्त बारह-बारह भेद गिनने चाहिए। १८-१९।

श्रुतज्ञान का स्वरूप और उसके भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्। २०।

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। वह दो प्रकार का, अनेक प्रकार का और बारह प्रकार का है।

मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य क्योकि मतिज्ञान से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसीलिए उसको मतिपूर्वक कहा गया है। किसी भी विषय का श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका मतिज्ञान पहले आवश्यक है। इसीलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञान का पालन और पूरण करनेवाला कहलाता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण तो है, पर बहिरङ्ग कारण है, अन्तरङ्ग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। क्योकि किसी विषय का मतिज्ञान हो जाने पर भी यदि क्षयोपशम न हो तो उस विषय का श्रुतज्ञान नही हो सकता।

प्रश्न—मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में भी इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित है, फिर दोनों में अन्तर क्या है? जब तक दोनो का भेद स्पष्ट न जाना जाय तब तक 'श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है' यह कथन विशेष अर्थ नही रखता। मतिज्ञान का कारण मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और श्रुतज्ञान

का कारण श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है। इस कथन से भी दोनों का भेद समझ में नही आता, क्योंकि क्षयोपशम-भेद साधारण बुद्धिगम्य नही है।

उत्तर—मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, विद्यमान तथा भावी इन त्रैकालिक विषयो में प्रवृत्त होता है। इस विषयकृत भेद के सिवाय दोनो में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नही होता और श्रुतज्ञान में होता है। अतएव दोनो का फलित लक्षण यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख[1] सहित है वह श्रुतज्ञान है, और शब्दोल्लेख रहित मतिज्ञान है। सारांश यह है कि दोनो में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा समान होने पर भी मति की अपेक्षा श्रुत का विषय अधिक है और स्पष्टता भी अधिक है, क्योकि श्रुत में मनोव्यापार की प्रधानता होने से विचारांश अधिक व स्पष्ट होता है और पूर्वापर क्रम भी बना रहता है। दूसरे शब्दो में, इन्द्रिय तथा मनोजन्य दीर्घ ज्ञानव्यापार का प्राथमिक अपरिपक्व अंश मतिज्ञान और उत्तरवर्ती परिपक्व व स्पष्ट अंश श्रुतज्ञान है। अतः यो भी कहा जाता है कि जो ज्ञान भाषा में उतारा जा सके वह श्रुतज्ञान है और जो भाषा में उतारने लायक परिपाक को प्राप्त न हो वह मतिज्ञान है। श्रुतज्ञान खीर है तो मतिज्ञान दूध।

प्रश्न—श्रुत के दो, अनेक और बारह प्रकार कैसे है?

उत्तर—अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट के रूप में श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। इनमें से अङ्गबाह्य श्रुत उत्कालिक-कालिक के भेद से अनेक प्रकार का है। अङ्गप्रविष्ट श्रुत आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि के रूप में बारह प्रकार का है।

प्रश्न—अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट का अन्तर किस अपेक्षा से है?

उत्तर—वक्तृभेद की अपेक्षा से। तीर्थङ्करो द्वारा प्रकाशित ज्ञान को उनके परम मेधावी साक्षात् शिष्य गणधरों ने ग्रहण करके जो द्वादशाङ्गी रूप में सूत्रबद्ध किया वह अङ्गप्रविष्ट है; और कालदोषकृत बुद्धि, बल और आयु की कमी को देखकर सर्वसाधारण के हित के लिए उसी द्वादशाङ्गी में से भिन्न-भिन्न विषयो पर गणधरो के पश्चाद्वर्ती शुद्ध-बुद्धि आचार्यों के शास्त्र अङ्गबाह्य हैं, अर्थात् जिन शास्त्रो के रचयिता गणधर हैं वह अङ्गप्रविष्ट श्रुत है और जिनके रचयिता अन्य आचार्य है वह अङ्गबाह्य श्रुत है।

प्रश्न—बारह अङ्ग कौन से है? अनेकविध अङ्गबाह्य में मुख्यत कौन-कौन से प्राचीन ग्रन्थ हैं?

---

१ शब्दोल्लेख का मतलब व्यवहारकाल में शब्दशक्तिग्रहजन्यत्व से है अर्थात् जैसे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के समय संकेत, स्मरण और श्रुतग्रन्थ का अनुसरण अपेक्षित है वैसे ईहा आदि मतिज्ञान की उत्पत्ति में अपेक्षित नहीं है।

उत्तर—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति ('भगवतीसूत्र'), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद ये बारह अङ्ग हैं। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छः आवश्यक तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित[1] आदि शास्त्र अङ्गबाह्य हैं।

प्रश्न—ये भेद तो ज्ञान को व्यवस्थितरूप में संगृहीत करनेवाले शास्त्रों के हैं, तो क्या शास्त्र इतने ही हैं ?

उत्तर—नहीं। शास्त्र अनेक थे, अनेक हैं, अनेक बनते हैं और आगे भी बनते ही रहेंगे। वे सभी श्रुत-ज्ञानान्तर्गत हैं। यहाँ केवल वे ही गिनाये गये हैं जिन पर प्रधानतया जैनशासन आधृत है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक शास्त्र बने हैं और बनते रहते हैं। इन सभी को अङ्गबाह्य में समाविष्ट कर लेना चाहिए, यदि वे शुद्ध-बुद्धि और समभावपूर्वक रचे गये हों।

प्रश्न—आजकल विविध विज्ञान विषयक तथा काव्य, नाटक आदि लौकिक विषयक जो अनेक शास्त्र रचे जाते हैं क्या वे भी श्रुत हैं ?

उत्तर—अवश्य, वे भी श्रुत हैं।

प्रश्न—तब तो श्रुतज्ञान होने से वे भी मोक्ष के लिए उपयुक्त हो सकेंगे ?

उत्तर—मोक्ष में उपयोगी होना या न होना किसी शास्त्र का नियत स्वभाव नहीं है, पर अधिकारी की योग्यता उसका आधार है। अगर अधिकारी योग्य और मुमुक्षु है तो लौकिक शास्त्रो को भी मोक्षोपयोगी बना सकता है और अयोग्य पात्र आध्यात्मिक कहे जानेवाले शास्त्रो से भी अपने को नीचे गिराता है। तथापि विषय और प्रणेता की योग्यता की दृष्टि से लोकोत्तर श्रुत का विशेषत्व अवश्य है।

प्रश्न—'श्रुत' ज्ञान है, फिर भाषात्मक शास्त्रो को या जिन पर वे लिखे जाते हैं उन कागज आदि साधनो को श्रुत क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—केवल उपचार से। वास्तव में श्रुत तो ज्ञान ही है। पर ऐसे ज्ञान को प्रकाशित करने का साधन भाषा है और भाषा भी ऐसे ज्ञान से ही उत्पन्न होती है तथा कागज आदि भी उस भाषा को लिपिबद्ध करके व्यवस्थित रखने के साधन हैं। इसीलिए भाषा या कागज आदि को उपचार से श्रुत कहा जाता है। २०।

---

१. प्रत्येक बुद्ध आदि ऋषियों द्वारा जो कथन किया गया हो उसे ऋषिभाषित कहते हैं। जैसे उत्तराध्ययन का आठवाँ कापिलीय अध्ययन इत्यादि।

अवधिज्ञान के प्रकार और उनके स्वामी

द्विविधोऽवधिः । २१ ।

तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् । २२ ।

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् । २३ ।

अवधिज्ञान दो प्रकार का है। उन दो में से भवप्रत्यय नारक और देवों को होता है।

यथोक्तनिमित्त—क्षयोपशमजन्य अवधि छः प्रकार का है जो तिर्यञ्च तथा मनुष्यों को होता है।

अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दो भेद हैं। जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है वह भवप्रत्यय है। जिसके आविर्भाव के लिए व्रत, नियम आदि अनुष्ठान अपेक्षित नहीं है उस जन्मसिद्ध अवधिज्ञान को भवप्रत्यय कहते हैं। जो अवधिज्ञान जन्मसिद्ध नहीं है किन्तु जन्म लेने के बाद व्रत, नियम आदि गुणों के अनुष्ठान से प्रकट किया जाता है वह गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमजन्य है।

प्रश्न—क्या भवप्रत्यय अवधिज्ञान बिना क्षयोपशम के ही उत्पन्न होता है ?

उत्तर—नहीं, उसके लिए भी क्षयोपशम अपेक्षित है।

प्रश्न—तब तो भवप्रत्यय भी क्षयोपशमजन्य ही हुआ। फिर भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—कोई भी अवधिज्ञान योग्य क्षयोपशम के बिना नहीं हो सकता। अवधि-ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तो अवधिज्ञानमात्र का साधारण कारण है। क्षयोपशम सबका समान कारण है, फिर भी किसी अवधिज्ञान को भवप्रत्यय और किसी को क्षयोपशमजन्य (गुणप्रत्यय) क्षयोपशम के आविर्भाव के निमित्तभेद की अपेक्षा से कहा गया है। देहधारियों की कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनमें जन्म लेते ही योग्य क्षयोपशम और तद्द्वारा अवधिज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है अर्थात् उन्हें अपने जीवन में अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए तप आदि अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। ऐसे सभी जीवों को न्यूनाधिक रूप में जन्मसिद्ध अवधिज्ञान अवश्य होता है और वह जीवनपर्यन्त रहता है। इसके विपरीत कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें जन्म के साथ अवधि-ज्ञान प्राप्त होने का नियम नहीं है। इनको अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए तप आदि का अनुष्ठान करना पड़ता है। ऐसे सभी जीवों में अवधिज्ञान सम्भव नहीं होता, केवल उन्हीं में सम्भव होता है जिन्होंने उस ज्ञान के योग्य गुण पैदा किये हों। इसीलिए क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग कारण समान होने पर भी उसके लिए किसी जाति में केवल जन्म की और किसी जाति में तप आदि गुणों की अपेक्षा

होने से सुविधा की दृष्टि से अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दो नाम रखे गये हैं।

देहधारी जीवो के चार वर्ग हैं—नारक, देव, तिर्यञ्च और मनुष्य। इनमें से पहले दो वर्गवाले जीवों में भवप्रत्यय अर्थात् जन्म से ही अवधिज्ञान होता है और पिछले दो वर्गवालों में गुणप्रत्यय अर्थात् गुणो से अवधिज्ञान होता है।

प्रश्न—जब सभी अवधिज्ञानवाले देहधारी ही है तब ऐसा क्यो है कि किसी को तो बिना प्रयत्न के ही जन्म से वह प्राप्त हो जाता है और किसी को उसके लिए विशेष प्रयत्न करना पडता है?

उत्तर—कार्य की विचित्रता अनुभवसिद्ध है। सब जानते है कि पक्षियो को जन्म लेते ही आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और मनुष्य आकाश में उड नही सकता जब तक कि वह विमान आदि का सहारा न ले। हम यह भी देखते हैं कि कितने ही लोगो में काव्यशक्ति जन्मसिद्ध होती है और कितने ही लोगो को वह विना प्रयत्न के प्राप्त ही नही होती।

तिर्यञ्चो और मनुष्यो के अवधिज्ञान के छ भेद है—आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

१ जैसे वस्त्र आदि किसी वस्तु को जिस स्थान पर रंग लगाया है वहाँ से उसे हटा लेने पर भी रंग कायम ही रहता है वैसे ही जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिक्षेत्र को छोडकर दूसरी जगह चले जाने पर भी कायम रहता है उसे आनुगामिक कहते हैं।

२. जैसे किसी का ज्योतिष-ज्ञान ऐसा होता है कि वह प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर अमुक स्थान में ही दे सकता है, दूसरे स्थान में नही, वैसे ही जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिस्थान को छोड देने पर कायम नही रहता उसे अनानुगामिक कहते हैं।

३ जैसे दियासलाई या अरणि आदि से उत्पन्न आग की चिनगारी बहुत छोटी होने पर भी अधिकाधिक सूखे ईंधन आदि को पाकर क्रमश. बढती जाती है वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्तिकाल में अल्पविषयक होने पर भी परिणामशुद्धि के बढते जाने से क्रमश. अधिकाधिक विषयक होता जाता है उसे वर्धमान कहते हैं।

४. जैसे परिमित दाह्य वस्तुओं में लगी हुई आग नया दाह्य न मिलने से क्रमश. घटती जाती है वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषयक होने पर भी परिणाम-शुद्धि कम होते जाने से क्रमश: अल्प-अल्प विषयक होता जाता है उसे हीयमान कहते हैं।

५. जैसे किसी प्राणी को एक जन्म में प्राप्त पुरुष आदि वेद[1] या दूसरे अनेक तरह के शुभ-अशुभ संस्कार दूसरे जन्म में साथ जाते हैं या आजन्म कायम रहते हैं वैसे ही जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में कायम रहता है या केवलज्ञान की उत्पत्ति तक अथवा आजन्म टिकता है उसे अवस्थित कहते हैं।

६. जलतरङ्ग की तरह जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत होता है और कभी तिरोहित होता है उसे अनवस्थित कहते हैं।

यद्यपि तीर्थङ्कर मात्र को तथा किसी अन्य मनुष्य को भी अवधिज्ञान जन्म से प्राप्त होता है तथापि उसे गुणप्रत्यय ही समझना चाहिए, क्योंकि योग्य गुण न होने पर अवधिज्ञान आजन्म नहीं रहता, जैसे कि देव या नरकगति में रहता है। २१-२३।

मनःपर्याय के भेद और उनका अन्तर

ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः। २४।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। २५।

ऋजुमति और विपुलमति ये दो मनःपर्यायज्ञान हैं।

विशुद्धि से और पतन के अभाव से उन दोनों का अन्तर है।

मनवाले (संज्ञी) प्राणी किसी भी वस्तु या पदार्थ का चिन्तन मन द्वारा करते हैं। चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार चिन्तन में प्रवृत्त मन भिन्न-भिन्न आकृतियों को धारण करता रहता है। ये आकृतियाँ ही मन के पर्याय हैं और उन मानसिक आकृतियों को साक्षात् जाननेवाला ज्ञान मनःपर्याय है। इस ज्ञान से चिन्तनशील मन की आकृतियाँ जानी जाती हैं पर चिन्तनीय वस्तुएँ नहीं जानी जा सकती।

प्रश्न—तो फिर क्या चिन्तनीय वस्तुओं को मनःपर्यायज्ञानवाला जान नहीं सकता?

उत्तर—जान सकता है, पर बाद में अनुमान के द्वारा।

प्रश्न—किस प्रकार?

उत्तर—जैसे मानसशास्त्री किसी का चेहरा या हावभाव देखकर उस व्यक्ति के मनोभावों तथा सामर्थ्य का ज्ञान अनुमान से करता है वैसे ही मनःपर्यायज्ञानी मनःपर्याय-ज्ञान से किसी के मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष देखकर बाद में अभ्यासवश अनुमान कर लेता है कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिन्तन किया, क्योंकि इसका मन उस वस्तु के चिन्तन के समय अवश्य होनेवाला अमुक-अमुक प्रकार की आकृतियों से युक्त है।

---

१. देखें—अ० २, सू० ६।

प्रश्न—ऋजुमति और विपुलमति का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो विषय को सामान्य रूप से जानता है वह ऋजुमति मनःपर्याय-ज्ञान है और जो विशेष रूप से जानता है वह विपुलमति मनःपर्यायज्ञान है।

प्रश्न—जब ऋजुमति ज्ञान सामान्यग्राही है तब तो उसे 'दर्शन' ही कहना चाहिए, ज्ञान क्यो कहा जाता है ?

उत्तर—उसे सामान्यग्राही कहने का अभिप्राय इतना ही है कि वह विशेषों को तो जानता है पर विपुलमति के जितने विशेषों को नही जानता।

ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्यायज्ञान विशुद्धतर होता है क्योंकि वह सूक्ष्मतर और अधिक विशेषों को स्फुटतया जान सकता है। इसके अतिरिक्त दोनो में यह भी अन्तर है कि ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कदाचित् नष्ट भी हो जाता है, पर विपुलमति केवलज्ञान की प्राप्तिपर्यन्त बना ही रहता है। २४-२५।

अवधि और मनःपर्याय में अन्तर

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः। २६।

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय के द्वारा अवधि और मनःपर्याय में अन्तर होता है।

यद्यपि अवधि और मनःपर्याय दोनो पारमार्थिक विकल (अपूर्ण) प्रत्यक्ष रूप से समान हैं तथापि दोनो में कई प्रकार का अन्तर है, जैसे विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत, स्वामिकृत और विषयकृत। १. मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत विशद रूप से जानता है इसलिए उससे विशुद्धतर है। २ अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक तक है और मनःपर्यायज्ञान का क्षेत्र मानुषोत्तर पर्वतपर्यन्त ही है। ३ अवधिज्ञान के स्वामी चारो गतिवाले हो सकते है पर मनःपर्याय के स्वामी केवल संयत मनुष्य ही है। ४ अवधि का विषय कतिपय पर्यायसहित रूपी द्रव्य है पर मनःपर्याय का विषय तो केवल उसका अनन्तवाँ[1] भाग है, मात्र मनोद्रव्य है।

प्रश्न—विषय कम होने पर भी मनःपर्याय अवधि से विशुद्धतर कैसे माना जाता है ?

उत्तर—विशुद्धि का आधार विषय की न्यूनाधिकता नही है, विषयगत न्यूनाधिक सूक्ष्मताओ को जानना है। जैसे दो व्यक्तियो में से एक अनेक शास्त्रो को जानता है और दूसरा केवल एक शास्त्र, तो भी अनेक शास्त्रो के ज्ञाता की अपेक्षा एक शास्त्र को जाननेवाला व्यक्ति अपने विषय की सूक्ष्मताओ को अधिक जानता हो तो उसका ज्ञान पहले की अपेक्षा विशुद्धतर कहलाता है। वैसे ही विषय

१. देखें—अ० १, सू० २९।

अल्प होने पर भी उसकी सूक्ष्मताओं को अधिक जानने के कारण मनःपर्याय को अवधि से विशुद्धतर कहा गया है। २६।

पाँचो ज्ञानों के ग्राह्य विषय

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु । २७ ।
रूपिष्ववधेः । २८ ।
तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य । २९ ।
सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । ३० ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति (ग्राह्यता) सर्व-पर्यायरहित अर्थात् परिमित पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों मे होती है।

अवधिज्ञान की प्रवृत्ति सर्वपर्यायरहित केवल रूपी (मूर्त) द्रव्यों में होती है।

मन पर्यायज्ञान की प्रवृत्ति उस रूपी द्रव्य के सर्वपर्यायरहित अनन्तवें भाग मे होती है।

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सभी द्रव्यो मे और सभी पर्यायो में होती है।

मति और श्रुतज्ञान के द्वारा रूपी, अरूपी सभी द्रव्य जाने जा सकते है पर पर्याय उनके कुछ ही जाने जा सकते हैं, सब नही।

प्रश्न-उक्त कथन से ज्ञात होता है कि मति और श्रुत के ग्राह्य विषयो में न्यूनाधिकता है ही नही, क्या यह सही है ?

उत्तर-द्रव्यरूप ग्राह्य की अपेक्षा से तो दोनो के विषयों में न्यूनाधिकता नही है। पर पर्यायरूप ग्राह्य की अपेक्षा से दोनों के विषयो में न्यूनाधिकता अवश्य है। ग्राह्य पर्यायो की न्यूनाधिकता होने पर भी समानता इतनी ही है कि वे दोनो ज्ञान द्रव्यो के परिमित पर्यायो को ही जान सकते है, सम्पूर्ण पर्यायो को नहीं। मतिज्ञान वर्तमानग्राही होने से इन्द्रियो की शक्ति और आत्मा की योग्यता के अनुसार द्रव्यों के कुछ कुछ वर्तमान पर्यायो को ही ग्रहण करता है पर श्रुतज्ञान त्रिकालग्राही होने से तीनो कालों के पर्यायों को थोड़े-बहुत प्रमाण में ग्रहण करता है।

प्रश्न—मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों से पैदा होता है और इन्द्रियाँ केवल मूर्त द्रव्य को ही ग्रहण कर सकती है। फिर मतिज्ञान के ग्राह्य सब द्रव्य किस प्रकार माने गए ?

उत्तर—मतिज्ञान इन्द्रियो की तरह मन से भी होता है और मन स्वानुभूत या शास्त्रश्रुत सभी मूर्त-अमूर्तद्रव्यो का चिन्तन करता है। इसलिए मनोजन्य

मतिज्ञान की अपेक्षा से मतिज्ञान के ग्राह्य सब द्रव्य मानने में कोई विरोध नही है।

प्रश्न–स्वानुभूत या शास्त्रश्रुत विषयों में मन के द्वारा मतिज्ञान भी होगा और श्रुतज्ञान भी, तब दोनो में अन्तर क्या है ?

उत्तर–जब मानसिक चिन्तन शब्दोल्लेख सहित हो तब वह श्रुतज्ञान है और जब शब्दोल्लेख रहित हो तब मतिज्ञान है।

परम प्रकर्षप्राप्त परमावधि-ज्ञान जो अलोक में भी लोकप्रमाण असंख्यात खण्डो को देखने का सामर्थ्य रखता है, वह भी मात्र मूर्त द्रव्यों का साक्षात्कार कर पाता है, अमूर्त द्रव्यों का नही। इसी तरह वह मूर्त द्रव्यों के भी सम्पूर्ण पर्यायों को नही जान सकता।

मनःपर्याय-ज्ञान भी मूर्त द्रव्यो का ही साक्षात्कार करता है, पर अवधिज्ञान के बराबर नही। अवधिज्ञान के द्वारा सब प्रकार के पुद्गलद्रव्य ग्रहण किये जा सकते हैं, पर मनःपर्यायज्ञान के द्वारा केवल मनरूप बने हुए पुद्गल और वे भी मानुषोत्तर क्षेत्र के अन्तर्गत ही ग्रहण किये जा सकते हैं। इसी कारण मनःपर्यायज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवाँ भाग है। मनःपर्याय-ज्ञान कितना ही विशुद्ध हो, अपने ग्राह्य द्रव्यों के सम्पूर्ण पर्यायों को नही जान सकता। यद्यपि मनःपर्यायज्ञान के द्वारा साक्षात्कार तो केवल चिन्तनशील मूर्त मन का ही होता है पर बाद में होनेवाले अनुमान से तो उस मन के द्वारा चिन्तन किये गये मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं।

मति आदि चारों ज्ञान कितने ही शुद्ध हों पर वे चेतनाशक्ति के अपूर्ण विकसितरूप होने से एक वस्तु के भी समग्र भावो को जानने में असमर्थ हैं। नियम यह है कि जो ज्ञान किसी एक वस्तु के सम्पूर्ण भावो को जान सकता है वह सब वस्तुओ के सम्पूर्ण भावों को भी ग्रहण कर सकता है। वही ज्ञान पूर्णज्ञान कहलाता है, उसी को केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान चेतनाशक्ति के सम्पूर्ण विकास के समय प्रकट होता है। अतः इसके अपूर्णताजन्य भेद-प्रभेद नही हैं। कोई भी वस्तु या भाव ऐसा नही है जो इसके द्वारा प्रत्यक्ष न जाना जा सके। इसीलिए केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यो और सब पर्यायों में मानी गई है। २७–३०।

एक आत्मा में एक साथ पाये जानेवाले ज्ञान

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः। ३१।

एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार तक ज्ञान विकल्प से—अनियत रूप से होते हैं।

किसी आत्मा में एक साथ एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार ज्ञान तक सम्भव है पर पाँचों ज्ञान एक साथ किसी में नही होते। जब एक ज्ञान होता है, तब केवलज्ञान ही होता है क्योंकि परिपूर्ण होने से कोई अन्य अपूर्ण ज्ञान सम्भव ही नही है। जब दो ज्ञान होते हैं तब मति और श्रुत, क्योंकि पाँच ज्ञानो में से नियत सहचारी ये ही दो ज्ञान हैं। शेष तीनो ज्ञान एक-दूसरे को छोडकर भी रह सकते है। जब तीन ज्ञान होते है तब मति, श्रुत और अवधिज्ञान या मति, श्रुत और मन.पर्यायज्ञान होते हैं। तीन ज्ञान अपूर्ण अवस्था में ही सम्भव है और तब चाहे अवधिज्ञान हो या मन.पर्यायज्ञान, मति और श्रुत दोनों तो अवश्य होते है। जब चार ज्ञान होते है तब मति, श्रुत, अवधि और मन पर्याय होते हैं, क्योंकि ये ही चारो ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी होने से एक साथ हो सकते हैं। केवलज्ञान का अन्य किसी ज्ञान के साथ साहचर्य नही है क्योंकि वह पूर्ण अवस्थाभावी है और शेष सभी ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी हैं। पूर्णता तथा अपूर्णता दोनो अवस्थाएँ आपस में विरोधी होने से एक साथ आत्मा में नही होती। दो, तीन या चार ज्ञानो को एक साथ शक्ति की अपेक्षा से सम्भव कहा गया है, प्रवृत्ति की अपेक्षा से नही।

प्रश्न—इसे ठीक तरह से समझाइए।

उत्तर—जैसे मति और श्रुत दो ज्ञानवाला या अवधिसहित तीन ज्ञानवाला कोई आत्मा जिस समय मतिज्ञान के द्वारा किसी विषय को जानने में प्रवृत्त हो, उस समय वह अपने में श्रुत की शक्ति या अवधि की शक्ति होने पर भी उसका उपयोग करके तद्द्वारा उसके विषयों को नही जान सकता। इसी तरह वह श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति के समय मति या अवधि की शक्ति को भी काम में नही ला सकता। यही बात मनःपर्याय की शक्ति के विषय में है। साराश यह है कि एक आत्मा में एक साथ अधिक-से-अधिक चार ज्ञान-शक्तियाँ हो तब भी एक समय में कोई एक ही शक्ति जानने का काम करती है, अन्य शक्तियाँ निष्क्रिय रहती हैं।

केवलज्ञान के समय मति आदि चारों ज्ञान नहीं होते। यह सिद्धान्त सामान्य होने पर भी उसकी उपपत्ति दो तरह से की जाती है। कुछ आचार्य कहते है कि केवलज्ञान के समय भी मति आदि चारो ज्ञान-शक्तियाँ रहती हैं पर वे सूर्यप्रकाश के समय ग्रह-नक्षत्र आदि के प्रकाश की तरह केवलज्ञान की प्रवृत्ति से अभिभूत हो जाने के कारण अपना-अपना ज्ञानरूप कार्य नही कर सकती। इसीलिए शक्तियाँ होने पर भी केवलज्ञान के समय मति आदि ज्ञानपर्याय नही होते।

दूसरे आचार्यों का कथन है कि मति आदि चार ज्ञानशक्तियाँ आत्मा में स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु कर्म-क्षयोपशमरूप होने से औपाधिक अर्थात् कर्म-सापेक्ष है। इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने पर—जब कि केवलज्ञान प्रकट होता है—औपाधिक शक्तियाँ सम्भव ही नहीं है। इसलिए केवलज्ञान के समय कैवल्यशक्ति के सिवाय न तो अन्य ज्ञानशक्तियाँ ही रहती है और न उनका मति आदि ज्ञानपर्यायरूप कार्य ही रहता है। ३१।

विपर्ययज्ञान का निर्धारण और विपर्ययता के हेतु

मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च। ३२।
सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्। ३३।

मति, श्रुत और अवधि ये तीनों विपर्यय (अज्ञानरूप) भी हैं।

वास्तविक और अवास्तविक का अन्तर न जानने से यदृच्छोपलब्धि (विचारशून्य उपलब्धि) के कारण उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है।

मति, श्रुत आदि पाँचो ज्ञान चेतनाशक्ति के पर्याय है। इनका कार्य अपने-अपने विषय को प्रकाशित करना है। अतः ये सब ज्ञान कहलाते हैं। परन्तु इनमें से पहले तीनों को ज्ञान व अज्ञानरूप माना गया है। जैसे मतिज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुतज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अवधिज्ञान, अवधि-अज्ञान अर्थात् विभङ्गज्ञान।

प्रश्न—मति, श्रुत और अवधि ये तीनों पर्याय जब अपने-अपने विषय का बोध कराने के कारण ज्ञान है, तब उन्ही को अज्ञान क्यों कहा जाता है ? क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों शब्द परस्परविरुद्ध अर्थ के वाचक होने से प्रकाश और अन्धकार शब्द की तरह एक ही अर्थ में लागू नही हो सकते।

उत्तर—उक्त तीनो पर्याय लौकिक संकेत के अनुसार तो ज्ञान ही हैं, परन्तु यहाँ उन्हें ज्ञान और अज्ञानरूप शास्त्रीय संकेत के अनुसार ही कहा जाता है। आध्यात्मिक शास्त्र का संकेत है कि मति, श्रुत और अवधि ये तीनो ज्ञानात्मक पर्याय मिथ्यादृष्टि के अज्ञान है और सम्यग्दृष्टि के ज्ञान।

प्रश्न—यह कैसे कह सकते हैं कि केवल सम्यग्दृष्टि आत्मा ही प्रामाणिक व्यवहार चलाते हैं और मिथ्यादृष्टि नही चलाते ? यह भी नही कहा जा सकता कि सम्यग्दृष्टि को संशय या भ्रमरूप मिथ्याज्ञान बिलकुल नही होता और मिथ्यादृष्टि को ही होता है। यह भी सम्भव नही कि इन्द्रिय आदि साधन सम्यग्दृष्टि के तो पूर्ण तथा निर्दोष ही हो और मिथ्यादृष्टि के अपूर्ण तथा दुष्ट हो। यह भी कैसे कहा जा सकता है कि विज्ञान व साहित्य आदि विषयो पर अपूर्व प्रकाश डालनेवाले

और उनका यथार्थ निर्णय करनेवाले सभी सम्यग्दृष्टि हैं। इसलिए प्रश्न उठता है कि अध्यात्मशास्त्र के पूर्वोक्त ज्ञान-अज्ञान सम्बन्धी संकेत का आधार क्या है ?

उत्तर—अध्यात्मशास्त्र का आधार आध्यात्मिक दृष्टि है, लौकिक दृष्टि नहीं। जीव दो प्रकार के हैं—मोक्षाभिमुख और ससाराभिमुख। मोक्षाभिमुख जीव या आत्मा में समभाव और आत्मविवेक होता है, इसलिए वे अपने सभी ज्ञानों का उपयोग समभाव की पुष्टि में करते हैं, सासारिक वासना की पुष्टि में नहीं। लौकिक दृष्टि से उनका ज्ञान चाहे अल्प ही हो पर उसे ज्ञान कहा जाता है। ससाराभिमुख आत्मा का ज्ञान लौकिक दृष्टि से कितना ही विशाल और स्पष्ट हो, वह समभाव का पोषक न होने से जितने परिमाण में सासारिक वासना का पोषक होता है उतना अज्ञान कहलाता है। जैसे उन्मत्त मनुष्य भी सोने को सोना और लोहे को लोहा जानकर कभी यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है, पर उन्माद के कारण वह सत्य-असत्य का अन्तर जानने में असमर्थ होता है। इसलिए उसका सच्चा-झूठा सम्पूर्ण ज्ञान विचारशून्य या अज्ञान ही कहलाता है। वैसे ही संसाराभिमुख आत्मा को कितना ही अधिक ज्ञान हो, पर आत्मा के विषय में अंधेरा होने के कारण उसका सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही है।

साराश, उन्मत्त मनुष्य के अधिक विभूति भी हो जाय और कभी वस्तु का यथार्थ बोध भी हो जाय तथापि उसका उन्माद ही बढता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि आत्मा, जिसके राग-द्वेष की तीव्रता और आत्मा का अज्ञान होता है, वह अपनी विशाल ज्ञानराशि का भी उपयोग केवल सासारिक वासना के पोषण में ही करता है। इसीलिए उसके ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है। इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि आत्मा, जिसमें राग-द्वेष की तीव्रता न हो और आत्मज्ञान हो, वह अपने अल्प लौकिक ज्ञान का उपयोग भी आत्मिक तृप्ति में करता है। इसलिए उसके ज्ञान को ज्ञान कहा गया है। यह आध्यात्मिक दृष्टि है। ३२-३३।

नय के भेद

नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः। ३४।

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ। ३५।

नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पाँच नय हैं।

आद्य अर्थात् प्रथम नैगम नय के दो और शब्द नय के तीन भेद हैं।

नय के भेदो की संख्या के विषय में कोई एक निश्चित परम्परा नहीं है। इनकी तीन परम्पराएँ देखने में आती हैं। एक परम्परा तो सीधे तौर पर पहले से ही सात भेदो को मानती है, जैसे नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द,

समभिरूढ और एवंभूत । यह परम्परा जैनागमो और दिगम्बर ग्रन्थों की है। दूसरी परम्परा सिद्धसेन दिवाकर की है। वे नैगम को छोडकर शेष छ भेदों को मानते है। तीसरी परम्परा प्रस्तुत सूत्र और उसके भाष्य की है। इसके अनुसार नय के मूल पाँच भेद है और बाद में प्रथम नैगम नय के (भाष्य के अनुसार) देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी ये दो तथा पाँचवें शब्द नय के साम्प्रत, समभिरूढ और एवंभूत ये तीन भेद है।

नयो के निरूपण का भाव—कोई भी एक या अनेक वस्तुओ के विषय में एक या अनेक व्यक्तियो के अनेक विचार होते है। एक ही वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न विचारो की संख्या अपरिमित हो जाती है। तद्विषयक प्रत्येक विचार का बोध होना असम्भव हो जाता है। अतएव उनका अतिसंक्षिप्त और अतिविस्तृत प्रतिपादन छोडकर मध्यम-मार्ग से प्रतिपादन करना ही नयो का निरूपण है। इसी को विचारो का वर्गीकरण कहते है। नयवाद का अर्थ है विचारो की मीमासा। नयवाद में मात्र विचारो के कारण उनके परिणाम या उनके विषयों की ही चर्चा नही आती। जो विचार परस्परविरुद्ध दिखाई पड़ते है पर वास्तव में जिनका विरोध नही है, उन विचारो के अविरोध के बीज की गवेषणा करना ही नयवाद का मुख्य उद्देश्य है। अत. नयवाद की संक्षिप्त व्याख्या इस तरह हो सकती है—'परस्परविरुद्ध दिखाई देनेवाले विचारो के वास्तविक अविरोध के बीज की गवेषणा करके उन विचारो का समन्वय करनेवाला शास्त्र।' जैसे आत्मा के विषय में ही परस्परविरुद्ध मन्तव्य मिलते है। कही 'आत्मा एक है' ऐसा कथन है, तो कही 'अनेक है' ऐसा कथन भी मिलता है। एकत्व और अनेकत्व परस्परविरुद्ध दिखाई पडते है। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि इन दोनो का यह विरोध वास्तविक है या नही ? यदि वास्तविक नही तो कैसे ? इसका उत्तर नयवाद ने ढूंढ निकाला है और ऐसा समन्वय किया है कि व्यक्ति-रूप से देखा जाय तो आत्मतत्त्व अनेक है, किन्तु शुद्ध चैतन्य की दृष्टि से वह एक ही है। इस तरह का समन्वय करके नयवाद परस्परविरोधी वाक्यो में भी अविरोध या एकवाक्यता सिद्ध करता है। इसी तरह आत्मा के विषय में परस्परविरुद्ध दिखाई देनेवाले नित्यत्व-अनित्यत्व, कर्तृत्व-अकर्तृत्व आदि मतो का भी अविरोध नयवाद से ही सिद्ध होता है। ऐसे अविरोध का बीज विचारक की दृष्टि (तात्पर्य) में ही है। इसी दृष्टि के लिए प्रस्तुत शास्त्र में 'अपेक्षा' शब्द है। अत. नयवाद को अपेक्षावाद भी कहा जाता है।

नयवाद की देशना और उसकी विशेषता—ज्ञान-निरूपण में श्रुत[1] की

१. देखें—अ० १, सू० २०।

चर्चा आ चुकी है। श्रुत विचारात्मक ज्ञान है और नय भी एक तरह का विचारात्मक ज्ञान होने से श्रुत में ही समा जाता है। इसीलिए प्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रुत के निरूपण के बाद नयो को उससे भिन्न करके नयवाद की देशना अलग से क्यो की जाती है ? जैन तत्त्वज्ञान की एक विशेषता नयवाद मानी जाती है, लेकिन नयवाद तो श्रुत है और श्रुत कहते है आगम-प्रमाण को। जैनेतर दर्शनो में भी प्रमाण-चर्चा और उसमें भी आगम-प्रमाण का निरूपण है ही। अत सहज ही दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब आगम-प्रमाण की चर्चा अन्य दर्शनो में भी है, तब आगम-प्रमाण में समाविष्ट नयवाद की स्वतन्त्र देशना करने से ही वह जैनदर्शन की अपनी विशेषता कैसे मानी जाय ? अथवा श्रुतप्रमाण के अतिरिक्त नयवाद की स्वतत्र देशना करने में जैनदर्शन के प्रवर्तको का क्या उद्देश्य था ?

श्रुत और नय दोनो विचारात्मक ज्ञान है ही। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि किसी भी विषय को सर्वांश में स्पर्श करनेवाला अथवा सर्वांश में स्पर्श करने का प्रयत्न करनेवाला विचार श्रुत है और किसी एक अंश को स्पर्श करनेवाला विचार नय है। इस तरह नय को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नही कहा जा सकता, फिर भी वह अप्रमाण नही है। जैसे अगुली का अग्रभाग अंगुली नही है फिर भी उसे 'अंगुली नही है' यह भी नही कह सकते क्योकि वह अगुली का अग तो है ही। इसी तरह नय भी श्रुत-प्रमाण का अंश है। विचार की उत्पत्ति का क्रम और तत्कृत व्यवहार इन दो दृष्टियों से नय का निरूपण श्रुत-प्रमाण से भिन्न करके किया गया है। किसी भी पदार्थ के विभिन्न अंशो के विचार ही अन्त में विशालता या समग्रता में परिणत होते है। विचार जिस क्रम से उत्पन्न होते है, उसी क्रम से तत्त्वबोध के उपायरूप से उनका वर्णन होना चाहिए। इसे मान लेने से स्वाभाविक तौर से नय का निरूपण श्रुत-प्रमाण से अलग करना संगत हो जाता है और किसी एक विषय का समग्ररूप से कितना भी ज्ञान हो तो भी व्यवहार में उस ज्ञान का उपयोग एक-एक अंश को लेकर ही होता है। इसीलिए समग्र-विचारात्मक श्रुत से अश-विचारात्मक नय का निरूपण भिन्न किया जाता है।

यद्यपि जैनेतर दर्शनो में आगम-प्रमाण की चर्चा है तथापि उसी प्रमाण में समाविष्ट नयवाद की जैनदर्शन ने जो स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठा की है उसका अपना कारण है और वही इसकी विशेषता के लिए पर्याप्त है। सामान्यत. मनुष्य की ज्ञानवृत्ति अधूरी होती है और अस्मिता (अभिनिवेश) अत्यधिक होता है। जब वह किसी विषय में कुछ भी सोचता है तब वह उसको ही अन्तिम व

सम्पूर्ण मानने को प्रेरित होता है और इसी प्रेरणावश वह दूसरे के विचारो को समझने का धैर्य खो बैठता है। अन्तत वह अपने आशिक ज्ञान में ही सम्पूर्णता का आरोप कर लेता है। इस आरोप के कारण एक ही वस्तु के विषय में सच्चे लेकिन भिन्न-भिन्न विचार रखनेवालो के बीच सामंजस्य नही रहता। फलत पूर्ण और सत्य ज्ञान का द्वार बन्द हो जाता है।

आत्मा आदि किसी भी विषय में अपने आप्तपुरुष के आशिक विचार को ही जब कोई दर्शन सम्पूर्ण मानकर चलता है तब वह विरोधी होने पर भी यथार्थ विचार रखनेवाले दूसरे दर्शनो को अप्रमाण कहकर उनकी अवगणना करता है। इसी तरह दूसरा दर्शन उसकी और फिर दोनो किसी तीसरे की अवगणना करते है। परिणामत समता की जगह विषमता और विवाद खडे हो जाते है। इसीलिए सत्य और पूर्ण ज्ञान का द्वार खोलने और विवाद मिटाने के लिए ही नयवाद की प्रतिष्ठा की गई है। उससे यह सूचित किया गया है कि प्रत्येक विचारक को चाहिए कि वह अपने विचार को आगम-प्रमाण कहने के पूर्व यह देख ले कि उसका विचार प्रमाण'कोटि में आने योग्य सर्वांगी है अथवा नही है। नयवाद के द्वारा ऐसा निर्देश करना ही जैनदर्शन की विशेषता है।

सामान्य लक्षण—किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करनेवाला विचार नय है।

सक्षेप में नय के दो भेद है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

जगत् में छोटी या बडी सभी वस्तुएँ एक-दूसरे से न तो सर्वथा असमान ही होती है, न सर्वथा समान। इनमे समानता और असमानता दोनो अश रहते है। इसीलिए 'वस्तुमात्र 'सामान्य-विशेष (उभयात्मक) है,' ऐसा कहा जाता है। मनुष्य की बुद्धि कभी तो वस्तुओ के सामान्य अंश की ओर झुकती है और कभी विशेष अंश की ओर। जब वह सामान्य अश को ग्रहण करती है तब उसका वह विचार द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और जब वह विशेष अश को ग्रहण करती है तब पर्यायार्थिक नय कहलाता है। सभी सामान्य और विशेष दृष्टियाँ भी एक-सी नही होती, उनमें भी अन्तर रहता है। यही बतलाने के लिए इन दो दृष्टियो के फिर संक्षेप में भाग किये गये है। द्रव्यार्थिक के तीन और पर्यायार्थिक के चार—इस तरह कुल सात भाग बनते है और ये ही सात नय है। द्रव्यदृष्टि में विशेष (पर्याय) और पर्यायदृष्टि में द्रव्य (सामान्य) आता ही नही, ऐसी बात नही है। यह दृष्टिविभाग तो केवल गौण-प्रधान भाव की अपेक्षा से ही है।

प्रश्न—ऊपर निरूपित दोनो नयों को सरल उदाहरणो द्वारा समझाइए।

उत्तर—कही भी, कभी भी और किसी भी अवस्था में रहकर समुद्र की

तरफ दृष्टि डालने पर जब जल के रंग, स्वाद, उसकी गहराई या छिछलापन, विस्तार तथा सीमा इत्यादि विशेषताओं की ओर ध्यान न जाकर केवल जल-ही-जल ध्यान में आता है तब वह मात्र जल का सामान्य विचार कहलाता है और यही जल-विषयक द्रव्यार्थिक नय है। लेकिन जब रंग, स्वाद आदि विशेषताओं की ओर ध्यान जाता है तब वह विचार जल की विशेषताओं का होने से जल-विषयक पर्यायार्थिक नय कहा जायेगा।

इसी तरह अन्य सभी भौतिक पदार्थों के विषय में समझना चाहिए। विभिन्न स्थलों में फैली हुई जल जैसी एक ही तरह की नाना वस्तुओं के विषय में जिस प्रकार सामान्य और विशेष विचार करना सम्भव है; वैसे ही भूत, वर्तमान और भविष्य इस त्रिकालरूप अपार पट पर फैले हुए आत्मादि किसी एक पदार्थ के विषय में भी सामान्य और विशेष विचार सर्वथा सम्भव है। काल तथा अवस्था-भेदकृत चित्रों पर ध्यान न देकर जब केवल शुद्ध चैतन्य की ओर ध्यान जाता है, तब वह उसके विषय का द्रव्यार्थिक नय कहा जायेगा। चैतन्य की देश-कालादि-कृत विविध दशाओं पर जब ध्यान जायेगा तब वह चैतन्य-विषयक पर्यायार्थिक नय कहा जायेगा।

विशेष भेदों का स्वरूप—१ जो विचार लौकिक रूढि अथवा लौकिक संस्कार के अनुसरण से पैदा होता है वह नैगमनय है।

श्री उमास्वाति द्वारा निर्देशित नैगम नय के दो भेदों की व्याख्या इस प्रकार है—घट-पट जैसे सामान्यबोधक नाम से जब एकाध घट-पट जैसी अर्थवस्तु ही विचार में ग्रहण की जाती है तब वह विचार देश-परिक्षेपी नैगम कहलाता है और जब उस नाम से विवक्षित होनेवाले अर्थ की सम्पूर्ण जाति विचार में ग्रहण की जाती है तब वह विचार सर्वपरिक्षेपी नैगम कहलाता है।

२ जो विचार भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को तथा अनेक व्यक्तियों को किसी भी सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित करता है वह संग्रहनय है।

३ जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित वस्तुओं का व्यावहारिक प्रयोजन के अनुसार पृथक्करण करता है वह व्यवहारनय है।

इन तीनों नयों का उद्गम द्रव्यार्थिक की भूमिका में निहित है, अत. ये तीनों नय द्रव्यार्थिक प्रकृतिवाले कहलाते हैं।

प्रश्न—शेष नयों की व्याख्या करने से पहले उपर्युक्त तीन नयों को ही उदाहरणों द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—

नैगमनय—देश-काल एवं लोक-स्वभाव सम्बन्धी भेदो की विविधता के कारण लोकरूढियाँ तथा तज्जन्य संस्कार भी अनेक तरह के होते है, अतः उनसे उद्भूत नैगमनय भी अनेक तरह का होता है और उसके उदाहरण विविध प्रकार के मिल जाते है, वैसे ही अन्य उदाहरण भी बनाये जा सकते है।

किसी काम के संकल्प से जानेवाले से कोई पूछता है कि 'आप कहाँ जा रहे है ?' तब वह कहता है कि 'मैं कुल्हाडी या कलम लेने जा रहा हूँ।'

उत्तर देनेवाला वास्तव में तो कुल्हाडी के हत्थे (बेंट) के लिए लकडी अथवा कलम के लिए किलक लेने ही जा रहा होता है, लेकिन पूछनेवाला भी तत्क्षण उसके भाव को समझ जाता है। यह एक लोकरूढि है।

जात-पाँत छोडकर भिक्षु बने हुए व्यक्ति का परिचय जब कोई पूर्वाश्रम के ब्राह्मण-वर्ण द्वारा कराता है तब भी 'वह ब्राह्मण श्रमण है' यह कथन तत्काल स्वीकार कर लिया जाता है। इसी तरह लोग चैत्र शुक्ला नवमी व त्रयोदशी को हजारो वर्ष पूर्व के राम तथा महावीर के जन्मदिन के रूप में मानते है तथा उत्सवादि भी करते है। यह भी एक लोकरूढि है।

जब कभी कुछ लोग समूहरूप में लडने लगते है तब दूसरे लोग उनके क्षेत्र को ही लड़नेवाला मानकर कहने लगते है कि 'हिन्दुस्तान लड रहा है', 'चीन लड रहा है' इत्यादि; ऐसे कथन का आशय सुननेवाले समझ जाते है।

इस प्रकार लोकरूढ़ियो के द्वारा पडे सस्कारो के कारण जो विचार उत्पन्न होते है वे सभी नैगमनय के नाम से पहली श्रेणी में गिन लिये जाते है।

संग्रहनय—जड़, चेतनरूप अनेक व्यक्तियो में जो सद्रूप एक सामान्य तत्त्व है, उसी पर दृष्टि रखकर दूसरे विशेषो को ध्यान में न रखकर सभी व्यक्तियो को एकरूप मानकर ऐसा विचार करना कि सम्पूर्ण जगत् सद्रूप है, क्योकि सत्ता-रहित कोई वस्तु है ही नही, यही संग्रहनय है। इसी तरह वस्त्रो के विविध प्रकारों तथा विभिन्न वस्त्रो की ओर लक्ष्य न देकर मात्र वस्त्ररूप सामान्य तत्त्व को ही दृष्टि में रखकर विचार करना कि 'यहाँ केवल वस्त्र है', यही संग्रहनय है।

सामान्य तत्त्व के अनुसार तरतमभाव को लेकर सग्रहनय के अनन्त उदाहरण बन सकते है। जितना विशाल सामान्य होगा उतना ही विशाल संग्रहनय भी होगा तथा जितना छोटा सामान्य होगा उतना ही संक्षिप्त संग्रहनय होगा। साराश, जो भी विचार सामान्य तत्त्व के आश्रय से विविध वस्तुओ का एकीकरण करके प्रवृत्त होते हैं, वे सभी संग्रहनय की कोटि में आते हैं।

व्यवहारनय—विविध वस्तुओ को एक रूप में संकलित करने के बाद भी जब उनका विशेष रूप में बोध आवश्यक हो या व्यवहार में उपयोग करने का प्रसंग हो तब उनका विशेष रूप से भेद करके पृथक्करण करना पड़ता है। 'वस्त्र' कहने मात्र से भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रो का अलग-अलग बोध नहीं होता। जो केवल खादी चाहता है वह वस्त्रो का विभाग किये बिना खादी नही पा सकता, अत. खादी का कपडा, मिल का कपडा इत्यादि भेद भी करने पडते है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में सद्‌रूप वस्तु भी जड और चेतन दो प्रकार की है और चेतन तत्त्व भी ससारी और मुक्त दो प्रकार का है, इस तरह के पृथक्करण करने पडते हैं। ऐसे पृथक्करणोन्मुख सभी विचार व्यवहारनय की कोटि में आते हैं।

ऊपर के उदाहरणो से स्पष्ट है कि नैगमनय का आधार लोकरूढि है। लोक-रूढि आरोप पर आश्रित होती है और आरोप सामान्य-तत्त्वाश्रयी होता है। इस तरह यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि नैगमनय सामान्यग्राही है। संग्रहनय तो स्पष्ट रूप से एकीकरणरूप बुद्धि-व्यापार होने से सामान्यग्राही है ही। व्यवहार-नय में बुद्धि-व्यापार पृथक्करणोन्मुख होने पर भी उसकी क्रिया का आधार सामान्य होने से वह भी सामान्यग्राही ही है। इसीलिए ये तीनो नय द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं।

प्रश्न—इन तीनो का पारस्परिक भेद और उनका सम्बन्ध क्या है ?

उत्तर—नैगमनय का विषय सबसे अधिक विशाल है क्योकि वह सामान्य और विशेष दोनों का ही लोकरूढि के अनुसार कभी गौणरूप से और कभी मुख्यरूप से अवलंबन करता है। केवल सामान्यलक्षी होने से सग्रह का विषय नैगम से कम है और व्यवहार का विषय तो सग्रह से भी कम है, क्योकि वह संग्रह द्वारा संकलित विषय का ही मुख्य-मुख्य विशेषताओ के आधार पर पृथक्करण करता है, अत. केवल विशेषगामी है। इस तरह विषय-क्षेत्र उत्तरोत्तर कम होने से इन तीनो का पारस्परिक पौर्वापर्य सम्बन्ध है। नैगमनय सामान्य, विशेष और इन दोनो के सम्बन्ध की प्रतीति कराता है। इसी में से सग्रह का उद्‌भव होता है और संग्रह की भित्ति पर ही व्यवहार का चित्र खीचा जाता है।

प्रश्न—इसी प्रकार शेष चार नयों की व्याख्या कीजिए, उनके उदाहरण दीजिए तथा दूसरी जानकारी कराइए।

उत्तर—१. जो विचार भूतकाल और भविष्यत्‌काल का ध्यान न करके केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र है।

२ जो विचार शब्द-प्रधान होकर अनेक शाब्दिक धर्मों की ओर झुककर तदनुसार अर्थ-भेद की कल्पना करता है वह शब्दनय है।

श्री उमास्वाति द्वारा सूत्र में निर्देशित शब्दनय के तीन भेदों में से प्रथम भेद साम्प्रत है। अर्थात् शब्दनय यह सामान्य पद साम्प्रत, समभिरूढ और एवभूत इन तीनो भेदो को व्याप्त कर लेता है, परन्तु प्रचलित सब परम्पराओ में साम्प्रत नामक पहले भेद में ही 'शब्दनय' यह सामान्य पद रूढ हो गया है और साम्प्रत-नय पद का स्थान शब्दनय पद ने ले लिया है। इसलिए यहाँ पर साम्प्रत नय की सामान्य व्याख्या न कर आगे विशेष स्पष्टीकरण करते समय शब्दनय पद का ही व्यवहार किया गया है। उसका जो स्पष्टीकरण किया गया है वही भाष्यकथित साम्प्रत नय का स्पष्टीकरण है।

३ जो विचार शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ-भेद की कल्पना करता है वह समभिरूढनय है।

४. जो विचार शब्द से फलित होनेवाले अर्थ के घटने पर ही वस्तु को उस रूप मे मानता है, अन्यथा नही, वह एवभूतनय है।

ऋजुसूत्रनय—यद्यपि मनुष्य की कल्पना भूत और भविष्य की सर्वथा उपेक्षा करके नही चलती तथापि मनुष्य की बुद्धि कई बार तात्कालिक परिणाम की ओर झुककर वर्तमान में ही प्रवृत्ति करने लगती है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य-बुद्धि ऐसा मानने लगती है कि जो उपस्थित है वही सत्य है, वही कार्यकारी है और भूत तथा भावी वस्तु वर्तमान में कार्यसाधक न होने से शून्यवत् है। वर्तमान समृद्धि ही सुख का साधन होने से समृद्धि कही जा सकती है। भूत-समृद्धि का स्मरण या भावी-समृद्धि की कल्पना वर्तमान मे सुख-साधक न होने से समृद्धि नही कही जा सकती। इसी तरह पुत्र मौजूद हो और वह माता-पिता की सेवा करे, तब तो पुत्र है। किन्तु जो पुत्र अतीत हो या भावी हो पर मौजूद न हो, वह पुत्र ही नही। इस तरह केवल वर्तमानकाल से सम्बन्ध रखनेवाले विचार ऋजु-सूत्रनय की कोटि मे आते हैं।

शब्दनय—जब विचार की गहराई में उतरनेवाली बुद्धि एक बार भूत और भविष्यत् की जड काटने पर उतारू हो जाती है तब वह उससे भी आगे बढकर किसी दूसरी जड को भी काटने को तैयार होने लगती है। वह भी मात्र शब्द को पकडकर प्रवृत्त होती है और ऐसा विचार करने लगती है कि यदि भूत या भावी से पृथक् होने के कारण केवल वर्तमानकाल मान लिया जाय, तब तो एक ही अर्थ में व्यवहृत होनेवाले भिन्न-भिन्न लिङ्ग, काल, सख्या, कारक, पुरुष और उपसर्गयुक्त शब्दो के अर्थ भी अलग-अलग क्यों न माने जायें? जैसे तीनो कालो

में कोई सूत्ररूप एक वस्तु नही है, किन्तु वर्तमान-स्थित वस्तु ही एकमात्र वस्तु कहलाती है, वैसे ही भिन्न-भिन्न लिङ्ग, सख्या और कालादि से युक्त शब्दो द्वारा कही जानेवाली वस्तुएँ भी भिन्न-भिन्न ही मानी जानी चाहिए। ऐसा विचार करके वुद्धि काल और लिङ्गादि के भेद से अर्थ में भी भेद मानने लगती है।

उदाहरणार्थ, शास्त्र में एक ऐसा वाक्य मिलता है कि 'राजगृह नाम का नगर था'। इस वाक्य का मोटे तौर पर यह अर्थ होता है कि राजगृह नाम का नगर भूतकाल में था, वर्तमानकाल में नही है, जब कि लेखक के समय मे भी राजगृह विद्यमान है। यदि वर्तमाल मे है, तव उसको 'था' क्यो लिखा गया ? इसका उत्तर शब्दनय देता है कि वर्तमान मे विद्यमान राजगृह से भूतकाल का राजगृह तो भिन्न ही है और उसी का वर्णन प्रस्तुत होने से 'राजगृह था' कहा गया है। यह कालभेद से अर्थभेद का उदाहरण है।

लिङ्गभेद से अर्थभेद जैसे कुआँ, कुई। यहाँ पहला शब्द नर जाति का और दूसरा नारी जाति का है। इन दोनो का कल्पित अर्थभेद भी व्यवहार मे प्रसिद्ध है। कितने ही तारे नक्षत्र नाम से पुकारे जाते है, फिर भी इस शब्दनय के अनुसार 'अमुक तारा नक्षत्र है' अथवा 'यह मघा नक्षत्र है' ऐसा शब्द-व्यवहार नही किया जा सकता। क्योंकि इस नय के अनुसार लिङ्गभेद मे अर्थभेद माने जाने के कारण 'तारा और नक्षत्र' एव 'मघा और नक्षत्र' इन दोनों शब्दो का एक ही अर्थ में प्रयोग नही कर सकते।

सस्थान (आकार), प्रस्थान (गमन), उपस्थान (उपस्थिति) इसी प्रकार आराम, विराम इत्यादि शब्दो में एक ही धातु होने पर भी उपसर्ग के लग जाने से जो अर्थ-भेद हो जाता है उसी से शब्दनय की भूमिका बनती है।

इस तरह विविध शाब्दिक धर्मों के आधार पर जो अर्थ-भेद की अनेक मान्यताएँ प्रचलित है, वे सभी शब्दनय की कोटि में आती है।

समभिरूढनय—शाब्दिक धर्मभेद के आधार पर अर्थभेद करनेवाली वुद्धि ही जब और आगे बढकर व्युत्पत्तिभेद का आश्रय लेने लगती है और ऐसा मानने पर उतारू हो जाती है कि जहाँ अनेक भिन्न-भिन्न शब्दो का एक अर्थ मान लिया जाता है, वहाँ भी वास्तव में उन सभी शब्दो का एक अर्थ नही हो सकता, किन्तु अलग-अलग अर्थ है। यदि लिङ्गभेद और संख्याभेद आदि से अर्थभेद मान सकते है, तब शब्दभेद भी अर्थ का भेदक क्यो नही मान लिया जाता ? इस दलील से वह वुद्धि राजा, नृप, भूपति आदि एकार्थक शब्दों के भी व्युत्पत्ति के अनुसार अलग-अलग अर्थ करती है और कहती है कि राजचिह्नो से शोभित

'राजा', मनुष्यों का रक्षण करनेवाला 'नृप' तथा पृथ्वी का पालन-संवर्धन करनेवाला 'भूपति' है। इस तरह उक्त तीनो नामो के एक ही अर्थ में व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थभेद माननेवाला विचार समभिरूढनय है। पर्याय-भेद से की जानेवाली अर्थभेद की सभी कल्पनाएँ समभिरूढनय की कोटि में आती है।

एवंभूतनय—विशेष रूप से गहराई मे जानेवाली बुद्धि अन्तिम गहराई में पहुँचने पर विचार करती है कि यदि व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद माना जा सकता है, तब तो ऐसा भी मानना चाहिए कि जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार करना चाहिए तथा उस शब्द के द्वारा उस अर्थ का प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा नही। इस कल्पना के अनुसार किसी समय राजचिह्नो से शोभित होने की योग्यता को धारण करना, अथवा मनुष्य-रक्षण के उत्तरदायित्व को प्राप्त करना मात्र ही 'राजा' या 'नृप' कहलाने के लिए पर्याप्त नही। 'राजा' तो वास्तव मे तभी कहला सकता है जब राजदण्ड धारण करता हुआ उससे शोभायमान हो रहा हो, इसी तरह 'नृप' तब कहना चाहिए जब वह मनुष्यो का रक्षण कर रहा हो। सारांश, किसी व्यक्ति के लिए राजा या नृप शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक है जब उसमें शब्द का व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ भी घटित होता हो।

इसी तरह जब कोई सेवा कर रहा हो, उसी समय या उतनी बार ही उसे 'सेवक' नाम से पुकारा जा सकता है। वास्तव मे जब कोई क्रिया हो रही हो तभी उससे सम्बन्धित विशेषण या विशेष्य नाम का व्यवहार एवंभूतनय कहलाता है।

शेष वक्तव्य—उक्त चारो प्रकार की विचार-कोटियो का अन्तर तो उदाहरणो से ही स्पष्ट हो सकता है। उसे अलग से लिखने की आवश्यकता नही। हाँ, इतना अवश्य है कि पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। अतएव उत्तर-उत्तर नय का विषय पूर्व-पूर्व नय के विषय पर ही अवलम्बित रहता है। इन चारो नयो का मूल पर्यायार्थिक नय है। यह बात इसलिए कही गई है कि ऋजुसूत्र केवल वर्तमान को ही स्वीकार करता है, भूत और भविष्यत् को नही। अत यह स्पष्ट है कि इसका विषय सामान्य न रहकर विशेष रूप से ही ध्यान में आता है, अर्थात् वास्तव में ऋजुसूत्र से ही पर्यायार्थिक नय—विशेषगामिनी दृष्टि—का आरम्भ माना जाता है। ऋजुसूत्र के बाद के तीन नय तो उत्तरोत्तर और भी अधिक विशेषगामी बनते जाते हैं। इस तरह उनका पर्यायार्थिक होना तो स्पष्ट ही है।

इन चार नयों में भी, जब कि उत्तर नय को पूर्व नय की अपेक्षा सूक्ष्म कहा जाता है, तब वह पूर्व नय उतने अश में तो उत्तर नय की अपेक्षा सामान्यगामी ही

है। इसी तरह द्रव्यार्थिक नय की भूमिका पर स्थित नैगमादि तीन नय भी पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्म होने से उतने अंश में तो पूर्व की अपेक्षा विशेषगामी हैं।

इतने पर भी पहले तीन नयो को द्रव्यार्थिक और बाद के चार नयों को पर्यायार्थिक कहने का तात्पर्य यही है कि प्रथम तीनो में सामान्य तत्त्व और उसका विचार अधिक स्पष्ट है, क्योकि वे तीनो अधिक स्थूल हैं। बाद के चार नय विशेष सूक्ष्म हैं, उनमें विशेष तत्त्व व उसका विचार भी ज्यादा स्पष्ट है। सामान्य और विशेष की इसी स्पष्टता अथवा अस्पष्टता के कारण तथा उनकी मुख्यता-गौणता को ध्यान में रखकर ही सात नयों के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो विभाग किये गए हैं। पर वास्तव में सामान्य और विशेष ये दोनों एक ही वस्तु के अविभाज्य दो पहलू है, अत. एकान्तरूप में एक नय के विषय को दूसरे नय के विषय से सर्वथा अलग नही किया जा सकता।

नयदृष्टि, विचारसरणी या सापेक्ष अभिप्राय इन सभी शब्दों का एक ही अर्थ है। पूर्वोक्त वर्णन से इतना अवश्य पता चलता है कि किसी भी एक विषय को लेकर अनेक विचारसरणियाँ हो सकती है। विचारसरणियाँ चाहे जितनी हो, पर संक्षिप्त करके अमुक दृष्टि से उनके सात ही भाग किये गए हैं। उनमें भी पहली विचारसरणी की अपेक्षा दूसरी में और दूसरी की अपेक्षा तीसरी में उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्मत्व आता जाता है। एवंभूत नाम की अन्तिम विचार-सरणी में सबसे अधिक सूक्ष्मत्व दिखाई देता है। इसीलिए उक्त चार विचार-सरणियो के अन्य प्रकार से भी दो भाग किये गए हैं—व्यवहारनय और निश्चयनय। व्यवहार अर्थात् स्थूलगामी या उपचार-प्रधान और निश्चय अर्थात् सूक्ष्मगामी या तत्त्वस्पर्शी। वास्तव में एवंभूत ही निश्चय की पराकाष्ठा है।

एक तीसरे प्रकार से भी सात नयो के दो विभाग किये जाते हैं—शब्दनय और अर्थनय। जिसमें अर्थ का प्राधान्य हो वह अर्थनय और जिसमें शब्द का प्राधान्य हो वह शब्दनय। पहले चार नय अर्थनय हैं और शेष तीन शब्दनय है।

पूर्वोक्त दृष्टियो के अतिरिक्त और भी अनेक दृष्टियाँ हैं। जीवन के दो भाग हैं—एक सत्य को पहचानने का और दूसरा सत्य को पचाने का। जो भाग केवल सत्य का विचार करता है अर्थात् तत्त्वस्पर्शी होता है, वह ज्ञानदृष्टि (ज्ञाननय) है और जो भाग तत्त्वानुभव को पचाने में ही पूर्णता समझता है वह क्रियादृष्टि (क्रियानय) है।

ऊपर वर्णित सातों नय तत्त्व-विचारक होने से ज्ञाननय में समा जाते है। इन नयो के द्वारा शोधित सत्य को जीवन में उतारने की दृष्टि ही क्रियादृष्टि है। क्रिया का अर्थ है जीवन को सत्यमय बनाना। ३४-३५।

: २ :

जीव

प्रथम अध्याय में सात पदार्थों का नामनिर्देश किया गया है। आगे के नौ अध्यायो में क्रमश उनका विशेष विचार किया गया है। इस अध्याय में 'जीव' पदार्थ का तत्त्वस्वरूप उसके भेद-प्रभेद आदि विषयो का वर्णन किया जा रहा है।

पांच भाव, उनके भेद और उदाहरण

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। १।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्। २।

सम्यक्त्वचारित्रे। ३।

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च। ४।

ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः यथाक्रमं सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च। ५।

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः। ६।

जीवभव्याभव्यत्वादीनि च। ७।

औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) ये तीन तथा औदयिक, पारिणामिक ये दो, कुल पांच भाव हैं। ये जीव के स्वरूप हैं।

उक्त पांच भावो के अनुक्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं।

सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिक भाव हैं।

ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ क्षायिक भाव है।

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र (सर्वविरति) और संयमासंयम (देशविरति) ये अठारह क्षायोपशमिक भाव हैं।

चार गतियाँ, चार कषाय, तीन लिङ्ग (वेद), एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धभाव और छः लेश्याएँ ये इक्कीस औदयिक भाव हैं।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन तथा अन्य भी पारिणामिक भाव हैं।

आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैनदर्शन का अन्य दर्शनो के साथ कैसा मन्तव्य-भेद है यही बतलाना प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है। सांख्य और वेदान्त-दर्शन आत्मा को कूटस्थनित्य मानते है तथा उसमें कोई परिणाम नहीं मानते। वे ज्ञान, सुख-दुःखादि परिणामो को प्रकृति या अविद्या के ही मानते हैं। वैशेषिक और नैयायिक ज्ञान आदि को आत्मा का गुण मानते हैं सही, फिर भी वे आत्मा को एकान्तनित्य (अपरिणामी) मानते हैं। नव्य-मीमासक मत वैशेषिक और नैयायिक जैसा ही है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार आत्मा एकान्तक्षणिक अर्थात् निरन्वय[1] परिणामो का प्रवाह मात्र है। जैनदर्शन का कथन है कि जैसे प्राकृतिक जड पदार्थों में न तो कूटस्थनित्यता[2] है और न एकान्तक्षणिकता, किन्तु परिणामिनित्यता[3] है, वैसे ही आत्मा भी परिणामिनित्य है। अतएव ज्ञान, सुख, दुःख आदि पर्याय आत्मा के ही हैं।

आत्मा के सभी पर्याय एक ही अवस्था के नही होते; कुछ पर्याय किसी एक अवस्था के होते हैं तो दूसरे कुछ पर्याय किसी दूसरी अवस्था के। पर्यायो की वे भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही भाव कहलाती हैं। आत्मा के पर्याय अधिक-से-अधिक पाँच भाववाले हो सकते हैं। वे पाँच भाव ये हैं—१. औपशमिक, २ क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४. औदयिक और ५. पारिणामिक।

---

१. विभिन्न क्षणों में सुख-दुःख अथवा थोडे-बहुत भिन्न विषयक ज्ञानादि परिणामों का जो अनुभव होता है, उन्हीं परिणामों को मानना और उनके बीच सूत्ररूप में किसी भी अखण्ड स्थिर तत्त्व को स्वीकार न करना ही निरन्वय परिणामों का प्रवाह है।

२. हथौडे की चाहे जितनी चोटें लगें, तब भी निहाई जैसे स्थिर ही रहती है, वैसे ही देश-कालादि सम्बन्धी विविध परिवर्तनों के होने पर भी जिसमें किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता वही कूटस्थनित्यता है।

३ तीनों कालों में मूल वस्तु के कायम रहने पर भी देश-कालादि के निमित्त से जो परिवर्तन होता रहता है वह परिणामिनित्यता है।

भावों का स्वरूप—१. औपशमिक भाव उपशम से उत्पन्न होता है। उपशम एक प्रकार की आत्म-शुद्धि है जो सत्तागत कर्म का उदय बिलकुल रुक जाने पर होती है, जैसे मैल तल में बैठ जाने पर जल स्वच्छ हो जाता है।

२. क्षायिक भाव क्षय से उत्पन्न होता है। क्षय आत्मा की वह परमविशुद्धि है जो कर्म का सम्बन्ध बिलकुल छूट जाने पर प्रकट होती है, जैसे सर्वथा मैल के निकल जाने पर जल नितान्त स्वच्छ हो जाता है।

३. क्षायोपशमिक भाव क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है। क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिकशुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का उदय सर्वथा रुक जाने पर और दूसरे अंश का प्रदेशोदय[1] द्वारा क्षय होते रहने पर प्रकट होती है। यह विशुद्धि मिश्रित है, जैसे कोदो को धोने से उसकी मादक शक्ति कुछ क्षीण हो जाती है और कुछ रह जाती है।

४. औदयिक भाव उदय से पैदा होता है। उदय एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य (मालिन्य) है, जो कर्म के विपाकानुभव से होता है, जैसे मैल के मिल जाने पर जल मलिन हो जाता है।

५. पारिमाणिक भाव द्रव्य का परिणाम है, जो द्रव्य के अस्तित्व से अपने आप होता है अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप-परिणमन ही पारिणामिक भाव है।

ये पाँचो भाव ही आत्मा के स्वरूप है। संसारी या मुक्त कोई भी आत्मा हो, उसके सभी पर्याय इन पाँच भावो में से किसी-न-किसी भाववाले ही होंगे। अजीव में पाँचो भाववाले पर्याय सम्भव नही है, इसलिए ये भाव अजीव के स्वरूप नही है। उक्त पाँचो भाव सभी जीवो में एक साथ होने का भी नियम नहीं है। मुक्त जीवो में दो भाव होते है—क्षायिक और पारिणामिक। ससारी जीवो में कोई तीन भाववाला, कोई चार भाववाला, कोई पाँच भाववाला होता है, पर दो भाववाला कोई नही होता। अर्थात् मुक्त आत्मा के पर्याय दो भावो तक और ससारी आत्मा के पर्याय तीन से लेकर पाँच भावो तक पाये जाते है। अतएव पाँच भावो को जीव का स्वरूप जीवराशि की अपेक्षा से या किसी जीव-विशेष में सम्भावना की अपेक्षा से कहा गया है।

औदयिक भाववाले पर्याय वैभाविक और शेष चारो भाववाले पर्याय स्वाभाविक है। १।

---

१. नीरस किये गये कर्मदलिकों का वेदन प्रदेशोदय है और रस विशिष्ट दलिकों का विपाकवेदन विपाकोदय है।

उक्त पाँचो भावों के कुल ५३ भेदो का निर्देश इस सूत्र में है, जो आगे के सूत्रो में नामपूर्वक क्रमश. इस प्रकार बतलाये गए है कि किस भाववाले कितने-कितने पर्याय है और कौन-कौन-से है । २ ।

औपशमिक भाव के भेद—दर्शन-मोहनीय कर्म के उपशम से सम्यक्त्व का और चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशम से चारित्र का आविर्भाव होता है। इसलिए सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही पर्याय औपशमिक भाववाले है । ३ ।

क्षायिक भाव के भेद—केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शन, पंचविध अन्तराय के क्षय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ, दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय से सम्यक्त्व तथा चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षय से चारित्र का आविर्भाव होता है। इसीलिए केवलज्ञानादि नवविध पर्याय क्षायिक कहलाते हैं । ४ ।

क्षायोपशमिक भाव के भेद—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मन पर्यायज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति, श्रुत, अवधि और मन.-पर्यायज्ञान का आविर्भाव होता है। मति-अज्ञानावरण, श्रुत-अज्ञानावरण और विभङ्ग-ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान का आविर्भाव होता है। चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन का आविर्भाव होता है। पञ्चविध अन्तराय के क्षयोपशम से दान, लाभ आदि पाँच लब्धियो का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क तथा दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम से सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के कषायो के क्षयोपशम से चारित्र (सर्वविरति) का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि अष्टविध कषाय के क्षयोपशम से सयमासंयम (देशविरति) का आविर्भाव होता है। इस तरह मतिज्ञान आदि अठारह पर्याय क्षायोपशमिक है । ५ ।

औदयिक भाव के भेद—गति नाम-कर्म के उदय का फल नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ हैं। कषायमोहनीय के उदय से क्रोध, मान, माया व लोभ ये चार कषाय पैदा होते है। वेदमोहनीय के उदय से स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद होता है। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से मिथ्यादर्शन (तत्त्व का अश्रद्धान) होता है। अज्ञान (ज्ञानाभाव) ज्ञानावरणीय कर्म के उदय का फल है। असंयतत्व(विरति का सर्वथा अभाव) अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के चारित्र-मोहनीय के उदय का परिणाम है। असिद्धत्व (शरीरधारण) वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म के उदय का परिणाम है। कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल ये छ. लेश्याएँ (कषायोदयरञ्जित योगपरिणाम) कषाय

के उदय अथवा योगजनक शरीरनामकर्म के उदय का परिणाम है। इस तरह ये गति आदि इक्कीस पर्याय औदयिक हैं। ६।

पारिणामिक भाव के भेद—जीवत्व (चैतन्य), भव्यत्व (मुक्ति की योग्यता), अभव्यत्व (मुक्ति की अयोग्यता) ये तीन भाव स्वाभाविक हैं अर्थात् न तो वे कर्म के उदय से, न उपशम से, न क्षय से और न क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं, वे अनादिसिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध हैं, इसी कारण वे पारिणामिक हैं।

प्रश्न—क्या पारिणामिक भाव तीन ही हैं ?

उत्तर—नहीं, और भी हैं।

प्रश्न—कौन-से हैं ?

उत्तर—अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणत्व, प्रदेशत्व, असंख्यात-प्रदेशत्व, असर्वगतत्व, अरूपत्व आदि अनेक हैं।

प्रश्न—फिर तीन ही क्यों बतलाये गए ?

उत्तर—यहाँ जीव का स्वरूप-कथन ही अभीष्ट है जो उसके असाधारण भावों द्वारा ही बतलाया जा सकता है। इसलिए औपशमिक आदि भावों के साथ पारिणामिक भाव भी वे ही बतलाये हैं जो असाधारण हैं। अस्तित्व आदि पारिणामिक हैं अवश्य, पर वे जीव की भाँति अजीव में भी होते हैं। अतः वे जीव के असाधारण भाव नहीं हैं। इसीलिए यहाँ उनका निर्देश नहीं किया गया तथापि अन्त के 'आदि' शब्द द्वारा उन्हीं को सूचित किया गया है और दिगम्बर सम्प्रदाय में यही अर्थ 'च' शब्द से लिया गया है। ७।

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम्। ८।

जीव का लक्षण उपयोग है।

जीव, जिसे आत्मा या चेतन भी कहते हैं, अनादिसिद्ध, स्वतन्त्र द्रव्य है। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने से उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता, पर स्वसंवेदन, प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि से उसका ज्ञान हो सकता है। तथापि सामान्य जिज्ञासुओं के लिए एक ऐसा लक्षण बतला देना उचित है जिससे आत्मा की पहचान हो सके। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत सूत्र में जीव का लक्षण बतलाया गया है। आत्मा लक्ष्य (ज्ञेय) है और उपयोग लक्षण (जानने का उपाय) है। जगत् अनेक जड-चेतन पदार्थों का मिश्रण है। उसमें से जड और

चेतन का विवेकपूर्वक निश्चय उपयोग के द्वारा ही हो सकता है, क्योकि उपयोग तरतमभाव से सभी आत्माओं में अवश्य होता है। जड़ ही उपयोगरहित होता है।

प्रश्न—उपयोग किसे कहते है ?

उत्तर—बोधरूप व्यापार को उपयोग कहते है।

प्रश्न—आत्मा में बोध की क्रिया होती है और जड में नही, ऐसा क्यो ?

उत्तर—बोध का कारण चेतनाशक्ति है। जिसमें चेतनाशक्ति हो उसी में बोधक्रिया सम्भव है। चेतनाशक्ति आत्मा में ही होती है, जड में नही।

प्रश्न—आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है इसलिए उसमें अनेक गुण होने चाहिए, फिर उपयोग को ही लक्षण क्यो कहा गया ?

उत्तर—नि सन्देह आत्मा में अनन्त गुण-पर्याय है, पर उन सब में उपयोग ही मुख्य है, क्योकि स्व-परप्रकाशरूप होने से उपयोग ही अपना तथा अन्य पर्यायो का ज्ञान कराता है। इसके सिवाय आत्मा जो कुछ अस्ति-नास्ति जानता है, ननु-नच करता है, सुख दु ख का अनुभव करता है वह सब उपयोग के द्वारा ही। अतएव उपयोग ही सब पर्यायो में प्रधान है।

प्रश्न—क्या लक्षण स्वरूप से भिन्न है ?

उत्तर—नही।

प्रश्न—तब तो पहले जिन पाँच भावो को जीव का स्वरूप कहा गया है वे भी लक्षण हुए, फिर दूसरा लक्षण बतलाने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर—सब असाधारण धर्म भी एक-से नही होते। कुछ तो ऐसे है जो लक्ष्य में होते है अवश्य, पर कभी होते है और कभी नही। कुछ ऐसे भी है जो समग्र लक्ष्य में नही रहते और कुछ ऐसे भी होते है जो तीनो कालो में समग्र लक्ष्य में रहते है। समग्र लक्ष्य में तीनो कालो में उपयोग ही होता है। इसलिए लक्षण-रूप से उसी का पृथक् रूप से कथन किया गया और उससे यह सूचित किया गया है कि औपशमिक आदि भाव जीव के स्वरूप है अवश्य, पर वे न तो सब आत्माओ में पाये जाते है और न त्रिकालवर्ती ही है। त्रिकालवर्ती और सब आत्माओ में पाया जानेवाला एक जीवत्वरूप पारिणामिक भाव ही है, जिसका फलित अर्थ उपयोग ही है। इसलिए उसी का कथन अलग से यहाँ लक्षणरूप में किया गया है। दूसरे सब भाव कादाचित्क (कभी होनेवाले, कभी नही होनेवाले), कतिपय लक्ष्यवर्ती और कर्म-सापेक्ष होने से जीव के उपलक्षण हो सकते है, लक्षण नही।

...va Bharati

लक्षण और उपलक्षण में यही अन्तर है कि जो प्रत्येक लक्ष्य में सर्वात्मभाव से तीनो कालो में पाया जाय, वह लक्षण है, जैसे अग्नि में उष्णत्व, और जो किसी लक्ष्य में हो और किसी में न हो, कभी हो और कभी न हो तथा स्वभावसिद्ध न हो, वह उपलक्षण है, जैसे अग्नि के लिए धूम। जीवत्व को छोडकर भावो के बावन भेद आत्मा के उपलक्षण ही है। ८।

उपयोग की विविधता

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः। ९।

वह उपयोग दो प्रकार का है तथा आठ और चार प्रकार का है।

जानने की शक्ति (चेतना) समान होने पर भी जानने की क्रिया (बोध-व्यापार या उपयोग) सब आत्माओं में समान नही होती। उपयोग की यह विविधता बाह्य-आभ्यन्तर कारणकलाप की विविधता पर अवलम्बित है। विषय-भेद, इन्द्रिय आदि साधन-भेद, देश-काल-भेद इत्यादि विविधता बाह्य सामग्री की है। आवरण की तीव्रता-मन्दता का तारतम्य आन्तरिक सामग्री की विविधता है। इस सामग्री-वैचित्र्य के कारण एक आत्मा भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की बोधक्रिया करती है और अनेक आत्माएँ एक ही समय में भिन्न-भिन्न बोधक्रियाएँ करती है। बोध की यह विविधता अनुभवगम्य है। इसको संक्षेप में वर्गीकरण द्वारा बतलाना ही इस सूत्र का प्रयोजन है।

उपयोगराशि के सामान्य रूप से दो विभाग किये जाते हैं—१. साकार, २. अनाकार। विशेष रूप से साकार-उपयोग के आठ और अनाकार-उपयोग के चार विभाग किये गए हैं। इस तरह उपयोग के कुल बारह भेद हैं।

साकार-उपयोग के आठ भेद ये है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:-पर्यायज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान। अनाकार-उपयोग के चार भेद ये है—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

प्रश्न—साकार और अनाकार उपयोग का अर्थ क्या है ?

उत्तर—जो बोध ग्राह्यवस्तु को विशेष रूप से जाननेवाला है वह साकार-उपयोग है और जो बोध ग्राह्यवस्तु को सामान्य रूप से जाननेवाला है वह अनाकार-उपयोग है। साकार-उपयोग को ज्ञान या सविकल्पक बोध और अनाकार-उपयोग को दर्शन या निर्विकल्पक बोध कहते है।

प्रश्न—उक्त बारह भेदो में से कितने भेद पूर्ण विकसित चेतनाशक्ति के व्यापार हैं और कितने अपूर्ण विकसित चेतनाशक्ति के ?

उत्तर—केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो पूर्ण विकसित चेतना के व्यापार हैं और शेष सब अपूर्ण विकसित चेतना के व्यापार हैं।

प्रश्न—विकास की अपूर्णता के समय तो अपूर्णता की विविधता के कारण उपयोग-भेद सम्भव है, पर विकास की पूर्णता के समय उपयोग-भेद कैसे ?

उत्तर—विकास की पूर्णता के समय केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप से उपयोग-भेद मानने का कारण केवल ग्राह्य-विषय की द्विरूपता है अर्थात् प्रत्येक विषय सामान्य और विशेष रूप से उभयस्वभावी है, इसलिए उसको जाननेवाला चेतनाजन्य व्यापार भी ज्ञान और दर्शन के रूप में दो प्रकार का होता है।

प्रश्न—साकार-उपयोग के आठ भेदों में ज्ञान और अज्ञान का अन्तर क्या है ?

उत्तर—और कुछ नही, केवल सम्यक्त्व के सहभाव अथवा असहभाव का अन्तर है।

प्रश्न—तो फिर शेष दो ज्ञानो के प्रतिपक्षी अज्ञान और दर्शन के प्रतिपक्षी अदर्शन क्यो नही ?

उत्तर—मन.पर्याय और केवल ये दो ज्ञान सम्यक्त्व के विना होते ही नही, इसलिए उनका प्रतिपक्ष सम्भव नही। दर्शनो में केवलदर्शन सम्यक्त्व के विना नही होता पर शेष तीन दर्शन सम्यक्त्व के अभाव में भी होते है तथापि उनके प्रतिपक्षी तीन अदर्शन न कहने का कारण यह है कि दर्शन सामान्यमात्र का बोध है। इसलिए सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के दर्शन में कोई भेद नही बतलाया जा सकता।

प्रश्न—उक्त बारह भेदो की व्याख्या क्या है ?

उत्तर—ज्ञान के आठ भेदो का स्वरूप[1] पहले ही बतलाया जा चुका है। दर्शन के चार भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—१. नेत्रजन्य सामान्यबोध चक्षुर्दर्शन, २ नेत्र के सिवाय अन्य किसी इन्द्रिय से या मन से होनेवाला सामान्यबोध अचक्षुर्दर्शन, ३. अवधिलब्धि से मूर्त पदार्थों का सामान्यबोध अवधिदर्शन और ४ केवललब्धि-जन्य समस्त पदार्थो का सामान्यबोध केवलदर्शन है। ९।

जीवराशि के विभाग

संसारिणो मुक्ताश्च । १० ।

संसारी और मुक्त ये दो विभाग हैं।

जीव अनन्त हैं। चैतन्य रूप से सब जीव समान हैं। यहाँ उनके दो भेद पर्याय-विशेष के सद्भाव-असद्भाव की अपेक्षा से किये गए है, अर्थात् एक संसार-

१. देखें—अ० १, सू० ९ से ३३ तक।

रूप पर्यायसहित और दूसरे ससाररूप पर्याय से रहित। पहले प्रकार के जीव ससारी और दूसरे प्रकार के मुक्त कहलाते है।

प्रश्न---ससार क्या है ?

उत्तर---द्रव्य और भावबन्ध ही संसार है। कर्मदल का विशिष्ट सम्बन्ध द्रव्यबन्ध है। राग-द्वेष आदि वासनाओ का सम्बन्ध भावबन्ध है। १०।

संसारी जीवो के भेद-प्रभेद

समनस्काऽमनस्काः। ११।
संसारिणस्त्रसस्थावराः। १२।
पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः। १३।
तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः। १४।

संसारी जीव मनसहित और मनरहित हैं।

तथा वे त्रस और स्थावर हैं।

पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय ये तीन स्थावर है।

तेज काय, वायुकाय और द्वीन्द्रिय आदि त्रस है।

ससारी जीव अनन्त है। संक्षेप मे उनके दो विभाग हैं, वे भी दो तरह से। पहला विभाग मन के सम्बन्ध और असम्बन्ध पर निर्भर है, अर्थात् मनसहित और मनरहित---इस तरह दो विभाग किये गए है, जिनमे सकल ससारी जीवो का समावेश हो जाता है। दूसरा विभाग त्रसत्व और स्थावरत्व के आधार पर है। इस विभाग में भी सकल ससारी जीवो का समावेश हो जाता है।

प्रश्न---मन किसे कहते है ?

उत्तर---जिससे विचार किया जा सके वह आत्मिक शक्ति मन है और इस शक्ति से विचार करने में सहायक होनेवाले एक प्रकार के सूक्ष्म परमाणु भी मन कहलाते है। पहले को भावमन और दूसरे को द्रव्यमन कहते हैं।

प्रश्न---त्रसत्व और स्थावरत्व क्या है ?

उत्तर---उद्देश्यपूर्वक एक जगह से दूसरी जगह जाने या हिलने-डुलने की शक्ति त्रसत्व है और इस शक्ति का न होना स्थावरत्व है।

प्रश्न---मनरहित जीवो के क्या द्रव्य या भाव में से कोई मन नही होता ?

उत्तर---होता है, केवल भावमन।

प्रश्न---तब तो सभी जीव मनसहित हुए, फिर मनसहित और मनरहित का भेद क्यो ?

उत्तर—द्रव्यमन की अपेक्षा से, अर्थात् जैसे अत्यन्त बूढा मनुष्य पांव और चलने की शक्ति होने पर भी लकडी के सहारे के बिना नही चल सकता, वैसे ही भावमन होने पर भी द्रव्यमन के बिना स्पष्ट विचार नही किया जा सकता। इसी कारण द्रव्यमन की प्रधानता मानकर उसके भाव और अभाव की अपेक्षा से मन-सहित और मनरहित विभाग किये गए है।

प्रश्न—दूसरा विभाग करने का यह अर्थ तो नही है कि सभी त्रस समनस्क और सभी स्थावर अमनस्क है ?

उत्तर—नही, त्रस में भी कुछ ही समनस्क होते है, सब नही। स्थावर तो सभी अमनस्क ही होते है। ११-१२।

स्थावर जीवो के पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय ये तीन भेद है और त्रस जीवो के तेजकाय, वायुकाय ये दो भेद तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ये चार भेद भी है।

प्रश्न—त्रस और स्थावर का अर्थ क्या है ?

उत्तर—जिसके त्रस नाम-कर्म का उदय हो वह त्रस जीव और जिसके स्थावर नाम कर्म का उदय हो वह स्थावर जीव।

प्रश्न—त्रस नाम-कर्म के उदय की और स्थावर नाम-कर्म के उदय की पहचान क्या है ?

उत्तर—दु ख त्यागने और सुख प्राप्त करने की प्रवृत्ति का स्पष्ट रूप में दिखाई देना और न दिखाई देना ही क्रमश. त्रस नाम-कर्म के उदय की और स्थावर नाम-कर्म के उदय की पहचान है।

प्रश्न—क्या द्वीन्द्रिय आदि जीवों की तरह तेज:कायिक और वायुकायिक जीव भी उक्त प्रवृत्ति करते हुए स्पष्ट दिखाई देते है कि उनको त्रस माना जाय ?

उत्तर—नही।

प्रश्न—तो फिर पृथिवीकायिक आदि की तरह उनको स्थावर क्यो नही कहा गया ?

उत्तर—उक्त लक्षण के अनुसार वे वास्तव में स्थावर ही है। यहाँ द्वीन्द्रिय आदि के साथ गति का सादृश्य देखकर उनको त्रस कहा गया है अर्थात् त्रस दो प्रकार के है—लब्धित्रस और गतित्रस। त्रस नाम-कर्म के उदयवाले लब्धित्रस है, ये ही मुख्य त्रस है जैसे द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीव। स्थावर नाम-कर्म का उदय होने पर भी त्रस जैसी गति होने के कारण जो त्रस कहलाते हैं वे

गतित्रस हैं। ये उपचार मात्र से त्रस हैं जैसे तेज.कायिक और वायु-कायिक। १३–१४।

इन्द्रियो की संख्या, उनके भेद-प्रभेद और नाम-निर्देश

पञ्चेन्द्रियाणि। १५।

द्विविधानि। १६।

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। १७।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। १८।

उपयोगः स्पर्शादिषु। १९।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। २०।

इन्द्रियाँ पाँच हैं।

प्रत्येक इन्द्रिय दो-दो प्रकार की है।

द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरणरूप है।

भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोगरूप है।

उपयोग स्पर्श आदि विषयो में होता है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियों के नाम हैं।

यहाँ इन्द्रियो की सख्या के निर्देश का उद्देश्य यह है कि यह ज्ञात किया जा सके कि संसारी जीवो के कितने विभाग हो सकते हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं। सभी संसारी जीवो के पाँच इन्द्रियाँ नही होती। कुछ के एक, कुछ के दो, इस तरह एक-एक बढाते-बढ़ाते कुछ के पाँच इन्द्रियाँ तक होती हैं। एक इन्द्रियवाले एकेन्द्रिय, दो वाले द्वीन्द्रिय, इसी तरह त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इस प्रकार संसारी जीवो के पाँच भेद होते हैं।

प्रश्न—इन्द्रिय का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिससे ज्ञान प्राप्त हो वह इन्द्रिय है।

प्रश्न—क्या इन्द्रियाँ पाँच से अधिक नही हैं ?

उत्तर—नही, ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं। यद्यपि साख्य आदि शास्त्रो में वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा) और उपस्थ (लिङ्ग या जननेन्द्रिय) को भी इन्द्रिय कहा गया है, परन्तु वे कर्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच से अधिक नही है और यहाँ उन्ही का उल्लेख है।

प्रश्न—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिससे मुख्यतया जीवन-यात्रोपयोगी ज्ञान हो वह ज्ञानेन्द्रिय और जिससे जीवन-यात्रोपयोगी आहार, विहार, निहार आदि क्रिया हो वह कर्मेन्द्रिय है। १५।

पाँचों इन्द्रियों के द्रव्य और भाव रूप से दो-दो भेद है। पुद्गलमय जड़ इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय है और आत्मिक परिणामरूप इन्द्रिय भावेन्द्रिय है। १६।

द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरण रूप से दो प्रकार की है। शरीर पर दीखनेवाली इन्द्रियो की पुद्गलस्कन्धों की विशिष्ट रचना के रूप में जो आकृतियाँ हैं उनको निर्वृत्ति-इन्द्रिय तथा निर्वृत्ति-इन्द्रिय की बाहरी व भीतरी पौद्गलिक शक्ति को उपकरणेन्द्रिय कहते हैं जिसके बिना निर्वृत्ति-इन्द्रिय ज्ञान पैदा करने में असमर्थ है। १७।

भावेन्द्रिय के भी लब्धि और उपयोग ये दो प्रकार हैं। मतिज्ञानावरणीयकर्म आदि का क्षयोपशम जो एक प्रकार का आत्मिक परिणाम है वह लब्धीन्द्रिय है। लब्धि, निर्वृत्ति तथा उपकरण इन तीनों के मिलने से जो रूपादि विषयो का सामान्य और विशेष बोध होता है वह उपयोगेन्द्रिय है। उपयोगेन्द्रिय मतिज्ञानरूप तथा चक्षु-अचक्षु दर्शनरूप है। १८।

मतिज्ञानरूप उपयोग जिसे भावेन्द्रिय कहा गया है वह अरूपी (अमूर्त) पदार्थों को जान सकता है पर उनके सकल गुण व पर्यायो को नही जान सकता, मात्र स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर्यायों को ही जान सकता है।

प्रश्न—प्रत्येक इन्द्रिय के द्रव्य-भावरूप से दो-दो और द्रव्य के तथा भाव के भी अनुक्रम से निर्वृत्ति-उपकरणरूप तथा लब्धि-उपयोगरूप दो-दो भेद तो ज्ञात हुए, किन्तु इनका प्राप्तिक्रम क्या है ?

उत्तर—लब्धीन्द्रिय होने पर ही निर्वृत्ति सम्भव है। निर्वृत्ति के बिना उपकरण नही अर्थात् लब्धि प्राप्त होने पर निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग हो सकते हैं। इसी तरह निर्वृत्ति प्राप्त होने पर उपकरण और उपयोग तथा उपकरण प्राप्त होने पर उपयोग सम्भव है। साराश यह है कि पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त होने पर उत्तर-उत्तर इन्द्रिय की प्राप्ति होती है। पर ऐसा कोई नियम नही है कि उत्तर-उत्तर इन्द्रिय के प्राप्त होने पर ही पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त हो। १९।

इन्द्रियों के नाम—१. स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा), २ रसनेन्द्रिय (जिह्वा), ३. घ्राणेन्द्रिय (नासिका), ४. चक्षुरिन्द्रिय (आँख), ५ श्रोत्रेन्द्रिय (कान)। पाँचों इन्द्रियों के लब्धि, निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग ये चार-चार प्रकार है

अर्थात् इन चार प्रकारो की समष्टि ही स्पर्शन आदि एक-एक पूर्ण इन्द्रिय है। इस समष्टि में जितनी न्यूनता है उतनी ही इन्द्रिय की अपूर्णता है।[1]

प्रश्न—उपयोग तो ज्ञान-विशेष है जो इन्द्रिय का फल है; उसको इन्द्रिय कैसे कहा गया?

उत्तर—यद्यपि लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीनों की समष्टि का कार्य उपयोग है तथापि यहाँ उपचार से अर्थात् कार्य में कारण का आरोप करके उसे भी इन्द्रिय कहा गया है। २०।

इन्द्रियो के ज्ञेय अर्थात् विषय

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः। २१।

श्रुतमनिन्द्रियस्य। २२।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण (रूप) और शब्द ये पाँच क्रमशः पाँच इन्द्रियों के अर्थ (ज्ञेय या विषय) हैं।

अनिन्द्रिय (मन) का विषय श्रुत है।

जगत् के सब पदार्थ एक-से नही हैं। कुछ पदार्थ मूर्त हैं और कुछ अमूर्त। वे मूर्त हैं जिनमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि हों। मूर्त पदार्थ ही इन्द्रियों से जाने जा सकते है, अमूर्त पदार्थ नही। पाँचों इन्द्रियो के जो भिन्न-भिन्न विषय बतलाये गए हैं वे आपस में सर्वथा भिन्न और मूलतत्त्व (द्रव्यरूप) नही किन्तु एक ही द्रव्य के भिन्न-भिन्न अंश (पर्याय) हैं अर्थात् पाँचो इन्द्रियाँ एक ही द्रव्य की पारस्परिक भिन्न-भिन्न अवस्था-विशेष को जानने में प्रवृत्त होती हैं। अतएव इस सूत्र में पाँच इन्द्रियों के जो पाँच विषय बतलाये गए हैं उन्हें स्वतन्त्र या अलग-अलग नही, अपितु एक ही मूर्त (पौद्गलिक) द्रव्य के अंश समझना चाहिए। जैसे एक लड्डू को पाँचों इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न रूप में जानती हैं। अगुली छूकर उसके शीत-उष्ण आदि स्पर्श का ज्ञान कराती है। जीभ चखकर उसके खट्टे-मीठे आदि रस का ज्ञान कराती है। नाक सूँघकर उसकी खुशबू या बदबू का ज्ञान कराता है। आँख देखकर उसके लाल, सफेद आदि रग का ज्ञान कराती है। कान उस कडे लड्डू को खाने आदि से उत्पन्न शब्दों या ध्वनि का ज्ञान कराता है। यह बात नही है कि उस लड्डू में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, और शब्द इन पाँचों विषयों का स्थान अलग-अलग होता है। वे सभी उसके सब भागो

१. इनके विशेष विचार के लिए देखें—हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ, पृ० ३६, 'इन्द्रिय' शब्दविषयक परिशिष्ट।

में एक साथ रहते हैं, क्योंकि वे सभी एक ही द्रव्य के अविभाज्य पर्याय हैं। उनका विभाग केवल बुद्धि द्वारा इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियों की शक्ति अलग-अलग है। वे कितनी ही पटु हों, अपने ग्राह्यविषय के अतिरिक्त अन्य विषय को जानने में समर्थ नहीं हैं। इसीलिए पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय असंकीर्ण (पृथक्-पृथक्) हैं।

प्रश्न—स्पर्श आदि पाँचों सहचरित हैं, तब ऐसा क्यों है कि किसी-किसी वस्तु में उन पाँचों की उपलब्धि न होकर केवल एक या दो की ही होती है, जैसे सूर्य आदि की प्रभा का रूप तो मालूम होता है, पर स्पर्श, रस, गन्ध आदि नहीं। इसी तरह पुष्पादि से अमिश्रित वायु का स्पर्श ज्ञात होने पर भी रस, गन्ध आदि ज्ञात नहीं होते।

उत्तर—प्रत्येक भौतिक द्रव्य में स्पर्श आदि उक्त सभी पर्याय होते हैं, पर उत्कट पर्याय ही इन्द्रियग्राह्य होता है। किसी में स्पर्श आदि पाँचों पर्याय उत्कट-तया अभिव्यक्त होते हैं और किसी में एक-दो आदि। शेष पर्याय अनुत्कट अवस्था में होने के कारण इन्द्रियों से नहीं जाने जाते, पर होते अवश्य हैं। इन्द्रिय की पटुता (ग्रहणशक्ति) भी सब जाति के प्राणियों की समान नहीं होती। एकजातीय प्राणियों में भी इन्द्रिय की पटुता विविध प्रकार की देखने में आती है। इसलिए स्पर्श आदि की उत्कटता या अनुत्कटता का विचार इन्द्रिय की पटुता के तरतमभाव पर भी निर्भर करता है। २१।

इन पाँचो इन्द्रियों के अतिरिक्त मन भी एक इन्द्रिय है। मन ज्ञान का साधन तो है, पर स्पर्शन आदि इन्द्रियो की तरह बाह्य साधन नहीं है। वह आन्तरिक साधन है, अतः उसे अन्तःकरण भी कहते है। मन का विषय परिमित नहीं है। बाह्य इन्द्रियाँ केवल मूर्त पदार्थ को और वह भी अंश रूप में ग्रहण करती हैं, जब कि मन मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थों को अनेक रूपो में ग्रहण करता है। मन का कार्य विचार करना है, जिसमें इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किये गए और न ग्रहण किये गए, विकास की योग्यता के अनुसार सभी विषय आते हैं। यह विचार ही श्रुत है। इसीलिए कहा गया है कि अनिन्द्रिय का विषय श्रुत है अर्थात् मूर्त-अमूर्त सभी तत्त्वो का स्वरूप मन का प्रवृत्ति-क्षेत्र है।

प्रश्न—श्रुत यदि मन का कार्य है और वह एक प्रकार का स्पष्ट तथा विशेष-ग्राही ज्ञान है, तो फिर मन से मतिज्ञान क्यो नहीं होता ?

उत्तर—होता है, किन्तु मन के द्वारा पहले पहल सामान्य रूप से वस्तु का जो ग्रहण होता है तथा जिसमें शब्दार्थ-सम्बन्ध, पौर्वापर्य शृंखला और विकल्प-

रूप विशेषता न हो वही मतिज्ञान है। इसके बाद होनेवाली उक्त विशेषतायुक्त विचारधारा श्रुतज्ञान है, अर्थात् मनोजन्य ज्ञान-व्यापार की धारा में प्राथमिक अल्प अंश मतिज्ञान है और बाद का अधिक अंश श्रुतज्ञान है। साराश, यह है कि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियो से केवल मतिज्ञान होता है, पर मन से मति और श्रुत दोनो होते हैं। इनमें भी मति की अपेक्षा श्रुत की ही प्रधानता है। इसी कारण श्रुत को यहाँ मन का विषय कहा गया है।

प्रश्न—मन को अनिन्द्रिय कहने का क्या कारण है ?

उत्तर—यद्यपि वह भी ज्ञान का साधन होने से इन्द्रिय ही है, परन्तु रूप आदि विषयो में प्रवृत्त होने के लिए उसको नेत्र आदि इन्द्रियो का सहारा लेना पडता है। इसी पराधीनता के कारण उसे अनिन्द्रिय या नोइन्द्रिय (ईषद्इन्द्रिय या इन्द्रिय-जैसा) कहा गया है।

प्रश्न—क्या मन भी नेत्र आदि की तरह शरीर के किसी विशिष्ट स्थान में रहता है या सर्वत्र रहता है ?

उत्तर—वह शरीर के भीतर सर्वत्र[1] रहता है, किसी विशिष्ट स्थान में नही; क्योकि शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानो मे स्थित इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गए सभी विषयो में मन की गति है जो इसे देहव्यापी माने बिना सम्भव नही। इसीलिए कहा जाता है 'यत्र पवनस्तत्र मन'। २१-२२।

इन्द्रियो के स्वामी

वाय्वन्तानामेकम्। २३।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि। २४।

संज्ञिनः समनस्काः। २५।

वायुकाय तक के जीवो के एक इन्द्रिय होती है।

कृमि, पिपीलिका (चीटी), भ्रमर और मनुष्य आदि के क्रमशः एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है।

संज्ञी मनवाले होते हैं।

सूत्र १३ व १४ में संसारी जीवो के स्थावर और त्रस ये दो भेद बतलाये गए हैं। उनके नौ निकाय (जातियाँ) हैं जैसे पृथिवीकाय, जलकाय, वनस्पति-

---

१. यह मत श्वेताम्बर परम्परा का है; दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्रव्य मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर नहीं है, केवल हृदय है।

काय, तेज काय, वायुकाय ये पाँच स्थावर तथा द्वीन्द्रिय आदि चार त्रस । इनमें से वायुकाय तक के पाँच निकायो के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है ।

कृमि, जलौका, लट आदि के दो इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शन और रसन । चीटी, कुंथु, खटमल आदि के तीन इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शन, रसन और घ्राण । भौंरे, मक्खी, बिच्छू, मच्छर आदि के चार इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण और नेत्र । मनुष्य, पशु, पक्षी तथा देव-नारक के पाँच इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, नेत्र तथा श्रोत्र ।

प्रश्न—यह सख्या द्रव्येन्द्रिय की है या भावेन्द्रिय की अथवा उभयेन्द्रिय की ?

उत्तर—उक्त सख्या केवल द्रव्येन्द्रिय की है, कुछ जीवो में द्रव्येद्रियाँ कम होने पर भी पाँचों भावेन्द्रियाँ तो सभी जीवो के होती है ।

प्रश्न—तो क्या कृमि आदि जीव भावेन्द्रिय के बल से देख या सुन लेते हैं ?

उत्तर—नही, केवल भावेन्द्रिय काम करने में समर्थ नही, उसे द्रव्येन्द्रिय का सहारा चाहिए । इसीलिए भावेन्द्रियो के होने पर भी कृमि या चीटी आदि नेत्र तथा कर्ण द्रव्येन्द्रिय न होने से देखने-सुनने में असमर्थ है । फिर भी वे जीव अपनी-अपनी द्रव्येन्द्रिय की पटुता के कारण जीवन-यात्रा चला ही लेते है ।

पृथिवीकाय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त आठ निकायों के तो मन होता ही नही, पञ्चेन्द्रियो में भी सबके मन नही होता । पञ्चेन्द्रिय जीवों के चार वर्ग है—देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च । पहले दो वर्गों में तो सभी के मन होता है और शेष दो वर्गों में से उन्ही के होता है जो गर्भोत्पन्न हो । मनुष्य और तिर्यञ्च गर्भोत्पन्न तथा संमूर्छिम दो-दो प्रकार के होते है । समूर्छिम मनुष्य और तिर्यञ्च के मन नही होता । सारांश, यह है कि पञ्चेन्द्रियो में सब देवों, सब नारको, गर्भज-मनुष्यो तथा गर्भज-तिर्यञ्चो के ही मन होता है ।

प्रश्न--इसकी क्या पहचान है कि किस के मन है और किस के नही है ?

उत्तर—इसकी पहचान सज्ञा का होना या न होना है ।

प्रश्न—वृत्ति को संज्ञा कहते है । न्यूनाधिक रूप में किसी-न-किसी प्रकार की वृत्ति सभी में होती हैं, क्योकि कृमि, चीटी आदि में भी आहार, भय आदि वृत्तियाँ है । फिर इन जीवो में मन क्यो नही माना जाता ?

उत्तर--यहाँ सज्ञा का अर्थ साधारण वृत्ति नही, विशिष्ट वृत्ति है ।[1] वह

---

१. इसके स्पष्टीकरण के लिए देखें—हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ, पृ० ३८ पर 'संज्ञा' शब्द का परिशिष्ट ।

विशिष्ट वृत्ति गुण-दोष की विचारणा है, जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार हो सके। इस विशिष्ट वृत्ति को शास्त्र में सम्प्रधारण संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा मन का कार्य है जो देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च में ही स्पष्ट रूप से होती है। इसलिए वे ही मनवाले माने जाते हैं।

प्रश्न—क्या कृमि, चींटी आदि जीव अपने-अपने इष्ट को पाने तथा अनिष्ट को त्यागने का प्रयत्न नहीं करते ?

उत्तर—करते हैं।

प्रश्न—तब उनमें सम्प्रधारण संज्ञा और मन क्यों नहीं माना जाता ?

उत्तर—कृमि आदि में भी अत्यन्त सूक्ष्म मन[1] विद्यमान है, इसीलिए व हित में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति करते हैं। पर उनका यह कार्य केवल देहयात्रोपयोगी है, अधिक नहीं। यहाँ इतना पुष्ट मन विवक्षित है जिससे निमित्त मिलने पर देह-यात्रा के अतिरिक्त और भी अधिक विचार किया जा सके अर्थात् जिससे पूर्वजन्म का स्मरण तक हो सके—विचार की इतनी योग्यता ही संप्रधारण संज्ञा कहलाती है। इस संज्ञावाले देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च ही होते हैं। अतएव उन्हीं को समनस्क कहा गया है। २३–२५।

अन्तराल[2] गति सम्बन्धी योग आदि पाँच बातें

विग्रहगतौ कर्मयोगः। २६।
अनुश्रेणि गतिः। २७।
अविग्रहा जीवस्य। २८।
विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः। २९।
एकसमयोऽविग्रहः। ३०।
एकं द्वौ वाऽनाहारकः। ३१।

विग्रहगति में कर्मयोग (कार्मणयोग) ही होता है।
गति, श्रेणि (सरलरेखा) के अनुसार होती है।
जीव (मुच्यमान आत्मा) की गति विग्रहरहित ही होती है।
संसारी आत्मा की गति अविग्रह और सविग्रह होती है।

---

१. देखें—ज्ञानबिन्दुप्रकरण, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, पृ० १४४।

२. इसे विशेष स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए देखें—हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ में, 'अनाहारक' शब्द का परिशिष्ट, पृ० १४३।

विग्रह चार से पहले अर्थात् तीन तक हो सकते हैं।

विग्रह का अभाव एक समय परिमित है अर्थात् विग्रहाभाववाली गति एक समय परिमाण है।

जीव एक या दो समय तक अनाहारक रहता है। -

पुनर्जन्म माननेवाले प्रत्येक दर्शन के सामने अन्तराल गति सम्बन्धी पाँच प्रश्न उपस्थित होते हैं :

१. जब जीव जन्मान्तर के लिए या मोक्ष के लिए गति करता है तब अर्थात् अन्तराल गति के समय स्थूल शरीर न होने से जीव किस तरह प्रयत्न करता है ?

२. गतिशील पदार्थ किस नियम से गतिक्रिया करते हैं ?

३. गतिक्रिया के कितने प्रकार हैं और कौन-कौन जीव किस-किस गतिक्रिया के अधिकारी हैं ?

४. अन्तराल गति का जघन्य या उत्कृष्ट कालमान कितना है और यह कालमान किस नियम पर अवलम्बित है ?

५ अन्तराल गति के समय जीव आहार करता है या नहीं ? अगर नहीं करता तो जघन्य या उत्कृष्ट कितने काल तक और अनाहारक स्थिति का कालमान किस नियम पर अवलम्बित है ?

आत्मा को व्यापक माननेवाले दर्शनों को भी इन पाँच प्रश्नों पर विचार करना चाहिए, क्योंकि उन्हें भी पुनर्जन्म की उपपत्ति के लिए सूक्ष्म शरीर का गमन और अन्तराल गति माननी ही पड़ती है। किन्तु जैनदर्शन तो देहव्यापी आत्मवादी है, अतः उसे तो उक्त प्रश्नों पर विचार करना ही चाहिए। यहाँ क्रमशः यही विचार किया जा रहा है।

योग—अन्तराल गति दो प्रकार की है—ऋजु और वक्र। ऋजुगति से स्थानान्तर जाते हुए जीव को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि जब वह पूर्व-शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व-शरीरजन्य वेग मिलता है। इस तरह वह दूसरे प्रयत्न के बिना ही धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे नये स्थान को पहुँच जाता है। दूसरी गति वक्र (घुमावदार) होती है, इसलिए जाते समय जीव को नये प्रयत्न की अपेक्षा होती है, क्योंकि पूर्व-शरीरजन्य प्रयत्न वहीं तक काम करता है जहाँ से जीव को घूमना पड़ता है। घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देहजनित प्रयत्न मन्द पड़ जाता है, अतः वहाँ से सूक्ष्म-शरीर से प्रयत्न होता है जो जीव के साथ उस समय भी रहता है। वही सूक्ष्म-शरीरजन्य प्रयत्न कार्मण-

योग कहलाता है। इसी आशय से सूत्र में विग्रहगति में कार्मणयोग होने की बात कही गई है। साराश, यह है कि वक्रगति से जानेवाला जीव केवल पूर्व-शरीरजन्य प्रयत्न से नये स्थान को नही पहुँच सकता, इसके लिए नया प्रयत्न कार्मण (सूक्ष्म) शरीर से ही साध्य है, क्योंकि उस समय दूसरा कोई स्थूल शरीर नही होता है। स्थूल शरीर न होने से मनोयोग और वचनयोग भी नही होते। २६।

गति का नियम—गतिशील पदार्थ दो ही हैं—जीव और पुद्गल। इन दोनो में गतिक्रिया की शक्ति है, इसलिए वे निमित्तवश गतिक्रिया में परिणत होकर गति करने लगते है। बाह्य उपाधि से भले ही वे वक्रगति करें, पर उनकी स्वाभाविक गति तो सीधी ही होती है। सीधी गति का आशय यह है कि पहले जिस आकाश-क्षेत्र में जीव या परमाणु स्थित हों, वहाँ से गति करते हुए वे उसी आकाश-क्षेत्र की सरल रेखा में ऊँचे, नीचे या तिरछे चाहे जहाँ चले जाते हैं। इसी स्वाभाविक गति को लेकर सूत्र में कहा गया है कि गति अनुश्रेणि होती है। श्रेणि अर्थात् पूर्वस्थान-प्रमाण आकाश की अन्यूनाधिक सरल रेखा। इस स्वाभाविक गति के वर्णन से सूचित होता है कि जब कोई प्रतिघातक कारण हो तब जीव या पुद्गल श्रेणि (सरल रेखा) को छोड़कर वक्र-रेखा से भी गमन करते हैं। साराश, यह है कि गतिशील पदार्थों की गतिक्रिया प्रतिघातक निमित्त के अभाव में पूर्वस्थान-प्रमाण सरल रेखा से ही होती है और प्रतिघातक निमित्त होने पर वक्ररेखा से भी होती है। २७।

गति का प्रकार—पहले कहा गया है कि गति ऋजु और वक्र दो प्रकार की है। ऋजुगति वह है जिसमें पूर्वस्थान से नये स्थान तक जाने में सरल रेखा का भंग न हो अर्थात् एक भी घुमाव न हो। वक्रगति वह है जिसमें पूर्वस्थान से नये स्थान तक जाने में सरल रेखा का भग हो अर्थात् कम-से-कम एक घुमाव अवश्य हो। यह भी कहा गया है कि जीव और पुद्गल दोनो इन दोनो गतियो के अधिकारी है। यहाँ मुख्य प्रश्न जीव का हैं। पूर्व-शरीर छोडकर स्थानान्तर जानेवाले जीव दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर को सदा के लिए छोडकर जाते हैं, ये जीव मुच्यमान (मोक्ष जानेवाले) कहलाते हैं। दूसरे वे जो पूर्व-स्थूलशरीर को छोडकर नये स्थूलशरीर को प्राप्त करते हैं। वे अन्तराल गति के समय सूक्ष्मशरीर से अवश्य वेष्टित होते हैं। ये जीव संसारी कहलाते हैं। मुच्यमान जीव मोक्ष के नियत स्थान पर ऋजुगति से ही जाते है, वक्रगति से नही; क्योंकि वे पूर्वस्थान की सरल रेखावाले मोक्षस्थान में ही प्रतिष्ठित होते है, किंचित् भी इधर-उधर नही। परन्तु संसारी जीव के उत्पत्तिस्थान का कोई नियम नहीं है। कभी तो उनको जहाँ उत्पन्न होना हो वह नया स्थान पूर्वस्थान

कभी बिलकुल सरल रेखा में होता है और कभी वक्र रेखा में, क्योंकि पुनर्जन्म के नवीन स्थान का आधार पूर्वकृत कर्म है और कर्म विविध प्रकार का होता है। इसलिए संसारी जीव ऋजु और वक्र दोनों गतियों के अधिकारी हैं। सारांश यह है कि मुक्तिस्थान को जानेवाली आत्मा की एकमात्र सरलगति होती है और पुनर्जन्म के लिए स्थानान्तर को जानेवाले जीवों की सरल तथा वक्र दोनों गतियाँ होती हैं। ऋजुगति का दूसरा नाम इषुगति भी है, क्योंकि वह धनुष के वेग से प्रेरित बाण की गति की तरह पूर्व-शरीरजनित वेग के कारण सीधी होती है। वक्रगति के पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका और गोमूत्रिका ये तीन नाम हैं।[1] जिसमें एक बार सरल रेखा का भङ्ग हो वह पाणिमुक्ता, जिसमें दो बार हो वह लाङ्गलिका और जिसमें तीन बार हो वह गोमूत्रिका। जीव की कोई भी ऐसी वक्रगति नहीं होती जिसमें तीन से अधिक घुमाव करने पड़ें, क्योंकि जीव का नया उत्पत्ति-स्थान कितना ही विश्रेणिपतित (वक्र रेखा स्थित) क्यों न हो, वह तीन घुमाव में तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। पुद्गल की वक्रगति में घुमाव की संख्या का कोई नियम नहीं है, उसका आधार प्रेरक निमित्त है। २८-२९।

गति का कालमान—अन्तराल गति का कालमान जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चार समय है। जब ऋजुगति हो तब एक ही समय और जब वक्रगति हो तब दो, तीन या चार समय समझना चाहिए। समय की संख्या की वृद्धि घुमाव की संख्या की वृद्धि पर आधृत है। जिस वक्रगति में एक घुमाव हो उसका कालमान दो समय का, जिसमें दो घुमाव हों उसका कालमान तीन समय का और जिसमें तीन घुमाव हों उसका कालमान चार समय का है। संक्षेप में, जब एक विग्रह की गति से उत्पत्तिस्थान में जाना हो तब पूर्वस्थान से घुमाव के स्थान तक पहुँचने में एक समय और घुमाव के स्थान से उत्पत्तिस्थान तक पहुँचने में दूसरा समय लग जाता है। इसी नियम के अनुसार दो विग्रह की गति में तीन समय और तीन विग्रह की गति में चार समय लग जाते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि ऋजुगति से जन्मान्तर करनेवाले जीव के पूर्वशरीर त्यागते समय ही नये आयु और गति कर्म का उदय हो जाता है और वक्रगतिवाले जीव के प्रथम वक्र स्थान से नवीन आयु, गति और आनुपूर्वी नामकर्म का यथासम्भव उदय हो जाता है, क्योंकि प्रथम वक्रस्थान तक ही पूर्वभवीय आयु आदि का उदय रहता है। ३०।

अनाहार का कालमान—मुच्यमान जीव के लिए तो अन्तराल गति में आहार का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि वह सूक्ष्म व स्थूल सब शरीरों से मुक्त है। पर

---

१. ये पाणिमुक्ता आदि संज्ञाएँ दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

संसारी जीव के लिए आहार का प्रश्न है, क्योंकि उसके अन्तराल गति में भी सूक्ष्मशरीर होता ही है। आहार का अर्थ है स्थूलशरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना। ऐसा आहार संसारी जीवों में अन्तराल गति के समय में पाया भी जाता है और नहीं भी पाया जाता। ऋजुगति से या दो समय की एक विग्रह-वाली गति से जानेवाले अनाहारक नही होते, क्योंकि ऋजुगतिवाले जिस समय में पूर्वशरीर छोडते हैं उसी समय में नया स्थान प्राप्त करते हैं, समयान्तर नही होता। इसलिए उनकी ऋजुगति का समय त्यागे हुए पूर्वभवीय शरीर के द्वारा ग्रहण किये गए आहार का या नवीन जन्मस्थान में ग्रहण किये गए आहार का समय है। यही स्थिति एक विग्रहवाली गति की है, क्योंकि इसके दो समयों में से पहला समय पूर्वशरीर के द्वारा ग्रहण किये हुए आहार का है और दूसरा समय नये उत्पत्तिस्थान में पहुँचने का है, जिसमें नवीन शरीर धारण करने के लिए आहार किया जाता है। परन्तु तीन समय की दो विग्रहवाली और चार समय की तीन विग्रहवाली गति में अनाहारक स्थिति होती है, क्योंकि इन दोनों गतियों के क्रमशः तीन और चार समयों में से पहला समय त्यक्त शरीर के द्वारा लिये हुए आहार का और अन्तिम समय उत्पत्तिस्थान में लिये हुए आहार का है। पर प्रथम तथा अन्तिम इन दो समयों को छोडकर बीच का काल आहारशून्य होता है। अतएव द्विविग्रह गति में एक समय और त्रिविग्रह गति में दो समय तक जीव अनाहारक माने गए हैं। प्रस्तुत सूत्र में यही भाव प्रकट किया गया है। साराश यह है कि ऋजुगति और एकविग्रह गति में आहारक दशा ही रहती है और द्विविग्रह तथा त्रिविग्रह गति में प्रथम और चरम इन दो समयो को छोडकर अनुक्रम से मध्यवर्ती एक तथा दो समय पर्यन्त अनाहारक दशा रहती है। कही-कहीं तीन समय भी अनाहारक दशा के पाँच समय की चार विग्रहवाली गति की सम्भावना की अपेक्षा से माने गए हैं।

प्रश्न—अन्तराल गति में शरीर-पोषक आहाररूप से स्थूल पुद्गलो के ग्रहण का अभाव तो ज्ञात हुआ, पर प्रश्न यह है कि उस समय कर्मपुद्गल ग्रहण किये जाते हैं या नहीं ?

उत्तर—किये जाते हैं।

प्रश्न—किस प्रकार किये जाते हैं ?

उत्तर—अन्तराल गति में भी संसारी जीवो के कार्मणशरीर अवश्य होता है। अतएव यह शरीरजन्य आत्मप्रदेश-कम्पन, जिसको कार्मण-योग कहते है, अवश्य होता है। जब योग है तब कर्मपुद्गल का ग्रहण भी अनिवार्य है, क्योंकि योग ही कर्मवर्गणा के आकर्षण का कारण है। जैसे जल-की वृष्टि के समय फेंका

गया संतप्त बाण जलकणों को ग्रहण करता हुआ तथा उन्हें सोखता हुआ चला जाता है, वैसे ही अन्तराल गति के समय कार्मणयोग से चञ्चल जीव भी कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है और उन्हें अपने साथ मिलाता हुआ स्थानान्तर की ओर गतिमान होता है। ३१।

जन्म और योनि के भेद तथा उनके स्वामी

सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म। ३२।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः। ३३।

जराय्वण्डपोतजानां गर्भः। ३४।

नारकदेवानामुपपातः। ३५।

शेषाणां सम्मूर्छनम्। ३६।

सम्मूर्छन, गर्भ और उपपात ये जन्म के तीन प्रकार हैं।

सचित्त, शीत और संवृत ये तीन तथा इन तीनों से विपरीत अचित्त, उष्ण और विवृत एवं मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत-विवृत—जन्म की कुल नौ योनियाँ हैं।

जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भ-जन्म होता है।

नारक और देवों का उपपात-जन्म होता है।

शेष सब प्राणियों का सम्मूर्छन-जन्म होता है।

जन्म-भेद—पूर्वभव समाप्त होने पर संसारी जीव नया भव धारण करते हैं। इसके लिए उन्हें जन्म लेना पड़ता है पर जन्म सबका एक-सा नहीं होता, यही बात यहाँ बतलाई गई है। पूर्वभव का स्थूल शरीर छोड़ने के बाद अन्तराल गति से केवल कार्मणशरीर के साथ आकर नवीन भव के योग्य स्थूल शरीर के लिए पहले पहल योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना जन्म है। जन्म के तीन प्रकार हैं—सम्मूर्छन, गर्भ और उपपात। माता-पिता के सम्बन्ध के बिना ही उत्पत्तिस्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों को पहले पहल शरीररूप में परिणत करना सम्मूर्छन-जन्म है। उत्पत्तिस्थान में स्थित शुक्र और शोणित के पुद्गलों को पहले पहल शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भ-जन्म है। उत्पत्तिस्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले पहल शरीररूप में परिणत करना उपपात-जन्म है। ३२।

योनि-भेद—जन्म के लिए स्थान आवश्यक है। जिस स्थान में पहले पहल स्थूल शरीर के लिए ग्रहण किये गए पुद्गल कार्मणशरीर के साथ गरम लोहे में

पानी की तरह मिल जाते हैं, उसी को योनि कहते हैं। योनि नौ प्रकार की है—सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत-विवृत। १. सचित्त—जो जीव-प्रदेशों से अधिष्ठित हो, २. अचित्त—जो अधिष्ठित न हो, ३. मिश्र—जो कुछ भाग में अधिष्ठित हो, कुछ भाग में न हो, ४. शीत—जिस उत्पत्तिस्थान में शीत स्पर्श हो, ५. उष्ण—जिसमें उष्ण स्पर्श हो, ६. मिश्र—जिसके कुछ भाग में शीत तथा कुछ भाग में उष्ण स्पर्श हो, ७. संवृत—जो उत्पत्तिस्थान ढका या दबा हो, ८. विवृत—जो ढका न हो, खुला हो, ९. मिश्र—जो कुछ ढका तथा कुछ खुला हो।

किस-किस योनि में कौन-कौन-से जीव उत्पन्न होते हैं, इसका विवरण इस प्रकार है :

जीव	योनि
नारक और देव	अचित्त
गर्भज मनुष्य और तिर्यंच	मिश्र (सचित्ताचित्त)
शेष सब अर्थात् पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य	त्रिविध—सचित्त, अचित्त तथा मिश्र (सचित्ताचित्त)
गर्भज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव[1]	मिश्र (शीतोष्ण)
तेज कायिक (अग्निकायिक)	उष्ण
शेष सब अर्थात् चार स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य तथा नारक	त्रिविध—शीत, उष्ण और मिश्र (शीतोष्ण)
नारक, देव और एकेन्द्रिय	संवृत
गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य	मिश्र (संवृतविवृत)
शेष सब अर्थात् तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच	विवृत

प्रश्न—योनि और जन्म में क्या अन्तर है ?

---

१. दिगम्बर टीका-ग्रन्थों में शीत और उष्ण योनियों के स्वामी देव और नारक माने गए हैं। तदनुसार वहाँ शीत, उष्ण आदि त्रिविध योनियों के स्वामियों में नारक जीवों को न गिनकर गर्भज मनुष्यों और तिर्यंचों को गिनना चाहिए।

उत्तर—योनि आधार है और जन्म आधेय, अर्थात् स्थूल शरीर के लिए योग्य पुद्‌गलो का प्राथमिक ग्रहण जन्म है और वह ग्रहण जिस जगह हो वह योनि है।

प्रश्न—योनियाँ तो चौरासी लाख मानी जाती हैं, फिर यहाँ नौ ही क्यों कही गईं?

उत्तर—चौरासी लाख योनियो का कथन विस्तार की अपेक्षा से किया गया है। पृथिवीकाय आदि जिस-जिस निकाय के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के तरतमभाववाले जितने-जितने उत्पत्तिस्थान है उस-उस निकाय की उतनी ही योनियाँ चौरासी लाख में गिनी गई हैं। यहाँ उन्ही चौरासी लाख योनियों के सचित्त आदि रूप से संक्षेप मे नौ विभाग कहे गए हैं। ३३।

जन्म के स्वामी—ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के जन्म में से कौन-कौन-सा जन्म किन-किन जीवो का होता है, इसका विभाग नीचे लिखे अनुसार है:

जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भजन्म होता है। देव और नारक का उपपातजन्म होता है। शेष सब अर्थात् पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य का सम्मूर्छन जन्म होता है। जरायुज वे हैं जो जरायु से पैदा हो, जैसे मनुष्य, गाय, भैंस, बकरी आदि जाति के जीव। जरायु एक प्रकार का जाल (झिल्ली) जैसा आवरण है जो रक्त और मांस से भरा होता है और जिसमें गर्भस्थ शिशु लिपटा रहता है। अण्डे से पैदा होनेवाले अण्डज हैं, जैसे साँप, मोर, चिड़िया, कबूतर आदि जाति के जीव। जो किसी प्रकार के आवरण से वेष्टित नही होते वे पोतज हैं, जैसे हाथी, शशक, नेवला, चूहा आदि जाति के जीव। ये न तो जरायु से ही लिपटे हुए पैदा होते हैं और न अण्डे से, अपितु खुले शरीर पैदा होते हैं। देवों और नारकों के जन्म के लिए विशेष नियत स्थान होता है, जिसे उपपात कहते हैं। देवशय्या के ऊपर का दिव्यवस्त्र से आच्छन्न भाग देवो का उपपात क्षेत्र है और वज्रमय भीत का गवाक्ष (कुम्भी) नारको का उपपात क्षेत्र है, क्योकि इस उपपात क्षेत्र में स्थित वैक्रियपुद्‌गलो को वे शरीर के लिए ग्रहण करते हैं। ३४-३६।

शरीरो के विषय

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि। ३७।
परं परं सूक्ष्मम्। ३८।
प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं[1] प्राक् तैजसात्। ३९।

---

१. भाष्य की वृत्ति में प्रदेश शब्द का अर्थ 'अनन्ताणुक स्कन्ध' किया गया है; परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि में 'परमाणु' अर्थ किया गया है।

अनन्तगुणे परे । ४० ।
अप्रतिघाते । ४१ ।
अनादिसम्बन्धे च । ४२ ।
सर्वस्य । ४३ ।
तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः । ४४ ।
निरुपभोगमन्त्यम् । ४५ ।
गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् । ४६ ।
वैक्रियमौपपातिकम् । ४७ ।
लब्धिप्रत्ययं च[1] । ४८ ।
शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव । ४९ ।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच प्रकार के शरीर हैं।

इन पाँच प्रकारो मे पर पर अर्थात् आगे-आगे का शरीर पूर्व-पूर्व से सूक्ष्म है।

तैजस के पूर्ववर्ती तीन शरीरो में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर शरीर प्रदेशो (स्कन्धो) से असख्यातगुण होता है।

परवर्ती दो अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर प्रदेशो से अनन्त-गुण होते हैं।

तैजस और कार्मण दोनो शरीर प्रतिघात-रहित हैं।

आत्मा के साथ अनादि सम्बन्धवाले हैं।

सब संसारी जीवों के होते है।

एक साथ एक जीव के तैजस और कार्मण से लेकर चार तक शरीर विकल्प से होते हैं।

अन्तिम अर्थात् कार्मण शरीर उपभोग (सुख दुःखादि के अनुभव) से रहित है।

---

१. इस सूत्र के बाद 'तैजसमपि' सूत्र दिगम्बर परम्परा में है, श्वेताम्बर परम्परा में नहीं है। सर्वार्थसिद्धि आदि मेंउसका अर्थ इस प्रकार है—'तैजस शरीर भी लब्धिजन्य है अर्थात् जैसे वैक्रिय शरीर लब्धि से उत्पन्न किया जा सकता है वैसे ही लब्धि से तैजस शरीर भी बनाया जा सकता है। इस अर्थ से यह फलित नहीं होता कि तैजस शरीर लब्धिजन्य ही है।

पहला अर्थात् औदारिक शरीर सम्मूर्छनजन्म और गर्भजन्म से ही होता है।

वैक्रिय शरीर उपपातजन्म से होता है।

वह लब्धि से भी होता है।

आहारक शरीर शुभ (प्रशस्त पुद्गल द्रव्यजन्य), विशुद्ध (निष्पाप कार्यकारी) और व्याघात (बाधा) रहित होता है तथा वह चौदह पूर्व-धारी मुनि के ही होता है।

जन्म ही शरीर का आरम्भ है, इसलिए जन्म के बाद शरीर का वर्णन किया गया है। शरीर से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों पर आगे क्रमशः विचार किया जा रहा है।

शरीर के प्रकार तथा व्याख्या—देहधारी जीव अनन्त है, उनके शरीर भी अलग-अलग है। अतः वे व्यक्तिशः अनन्त हैं। पर कार्य-कारण आदि के सादृश्य की दृष्टि से सक्षेप में उनके पाँच प्रकार बतलाये गए हैं; जैसे औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

शरीर जीव का क्रिया करने का साधन है। १. जो शरीर जलाया जा सके व जिसका छेदन-भेदन हो सके वह औदारिक है। २ जो शरीर कभी छोटा, कभी बडा, कभी पतला, कभी मोटा, कभी एक, कभी अनेक इत्यादि रूपो को धारण कर सके वह वैक्रिय है। ३ जो शरीर मात्र चतुर्दशपूर्वी मुनि के द्वारा ही निर्मित किया जा सके वह आहारक है। ४. जो शरीर तेजोमय होने से खाये हुए आहार आदि के परिपाक का हेतु और दीप्ति का निमित्त हो वह तैजस है। ५ कर्मसमूह ही कार्मण शरीर है। ३७।

स्थूल-सूक्ष्म भाव—उक्त पांचो शरीरो में औदारिक शरीर सबसे अधिक स्थूल है, वैक्रिय उससे सूक्ष्म है, आहारक वैक्रिय से भी सूक्ष्म है। इसी तरह आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण सूक्ष्म व सूक्ष्मतर है।

प्रश्न—यहाँ स्थूल और सूक्ष्म से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—स्थूल और सूक्ष्म का अर्थ है रचना की शिथिलता और सघनता, परिमाण नही। औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, पर आहारक से स्थूल है। इसी प्रकार आहारक आदि शरीर भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्म और उत्तर-उत्तर की अपेक्षा स्थूल हैं, अर्थात् यह स्थूल-सूक्ष्म भाव अपेक्षाकृत है। तात्पर्य यह है कि जिस शरीर की रचना जिस दूसरे शरीर की रचना से शिथिल हो वह उससे स्थूल है और दूसरा उससे सूक्ष्म है। रचना की शिथिलता और सघनता पौद्गलिक परिणति

पर निर्भर है। पुद्गलों में अनेक प्रकार के परिणमन की शक्ति होती है, अतः परिमाण में अल्प होने पर भी जब वे शिथिल रूप में परिणत होते हैं तब स्थूल कहलाते हैं और परिमाण में बहुत होने पर भी जैसे-जैसे सघन होते जाते हैं वैसे-वैसे वे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, भिंडी की फली और हाथी के दाँत को लें। दोनो समान आकार के होने पर भी भिंडी की रचना शिथिल होगी और दाँत की रचना ठोस। इस प्रकार परिमाण (आकार) तुल्य होने पर भी स्पष्ट है कि भिंडी की अपेक्षा दाँत का पौद्गलिक द्रव्य अधिक है। ३८।

आरम्भक या उपादान द्रव्य का परिमाण—स्थूल-सूक्ष्म भाव की उक्त व्याख्या के अनुसार उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भक द्रव्य पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा परिमाण में अधिक होता है, यह बात स्पष्ट हो जाती है, पर वह परिमाण जितना-जितना पाया जाता है उसी को यहाँ दो सूत्रो में बतलाया गया है।

परमाणुओ से बने जिन स्कन्धो से शरीर निर्मित होता है वे ही स्कन्ध शरीर के आरम्भक द्रव्य है। जब तक परमाणु अलग-अलग हो तब तक उनसे शरीर नही बनता। परमाणुपुञ्ज, जो कि स्कन्ध कहलाते हैं, से ही शरीर बनता है। वे स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओ के बने हुए होने चाहिए। औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्धो से वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध असख्यात-गुण होते हैं, अर्थात् औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्ध अनन्त परमाणुओं के होतें है और वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओ के, पर वैक्रिय शरीर के स्कन्धगत परमाणुओ की अनन्त संख्या औदारिक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओ की अनन्त संख्या से असंख्यात-गुण अधिक होती है। यही अधिकता वैक्रिय और आहारक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त सख्या में होती है।

आहारक स्कन्धगत परमाणुओ की अनन्त संख्या से तैजस के स्कन्धगत परमाणुओ की अनन्त संख्या अनन्तगुण होती है। इसी तरह तैजस से कार्मण के स्कन्धगत परमाणु भी अनन्तगुण अधिक होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भक द्रव्य अधिक-अधिक होता है। फिर भी परिणमन की विचित्रता के कारण ही उत्तर-उत्तर शरीर निबिड, निबिडतर, निबिडतम बनता जाता है और सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम कहलाता है।

प्रश्न—जब औदारिक के स्कन्ध भी अनन्त परमाणुवाले और वैक्रिय आदि के स्कन्ध भी अनन्त परमाणुवाले हैं, तो फिर उन स्कन्धो में न्यूनाधिकता कैसे समझी जाय ?

उत्तर—अनन्त संख्या अनन्त प्रकार की है। इसलिए अनन्त रूप में समानता

होने पर भी औदारिक आदि के स्कन्ध से वैक्रिय आदि के स्कन्ध का असंख्यातगुण अधिक होना असम्भव नही है। ३९-४०।

अन्तिम दो शरीरो का स्वभाव, कालमर्यादा और स्वामी—उक्त पाँचों शरीरो में से पहले तीन की अपेक्षा अन्तिम दो शरीरो में कुछ विशेषता है, जो क्रमश तीन सूत्रों में तीन बातों के द्वारा बतलाई गई है।

स्वभाव—तैजस और कार्मण इन दो शरीरो का सारे लोक में कही भी प्रतिघात नही होता अर्थात् वज्र जैसी कठिन वस्तु भी उन्हें प्रवेश करने से रोक नहीं सकती, क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म है। यद्यपि एक मूर्त वस्तु का दूसरी मूर्त वस्तु से प्रतिघात होता है, तथापि यह प्रतिघात का नियम स्थूल वस्तुओं पर लागू होता है, सूक्ष्म पर नही। सूक्ष्म वस्तु विना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश कर जाती है, जैसे लोहपिण्ड में अग्नि।

प्रश्न—तब तो सूक्ष्म होने से वैक्रिय और आहारक को भी अप्रतिघाती ही कहना चाहिए ?

उत्तर—अवश्य, वे भी विना प्रतिघात के प्रवेश करते हैं। पर यहाँ अप्रतिघात का अर्थ लोकान्त पर्यन्त अव्याहतगति है। वैक्रिय और आहारक अव्याहतगतिवाले हैं, पर तैजस व कार्मण की भाँति सम्पूर्ण लोक में नही, किन्तु लोक के विशिष्ट भाग अर्थात् त्रसनाडी में ही।

कालमर्यादा—तैजस और कार्मण का सम्बन्ध आत्मा के साथ प्रवाहरूप मे जैसा अनादि है वैसा पहले तीन शरीरो का नही है, क्योंकि वे तीनो शरीर अमुक काल के वाद कायम नही रहते। इसलिए औदारिक आदि तीनो शरीर कदाचित् (अस्थायी) सम्बन्धवाले कहे जाते हैं और तैजस व कार्मण अनादि सम्बन्धवाले।

प्रश्न—जब कि वे जीव के साथ अनादि सम्बद्ध है, तब तो उनका अभाव कभी न होना चाहिए, क्योंकि अनादिभाव[1] का नाश नही होता ?

उत्तर—उक्त दोनो शरीर व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं, प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। अतएव उनका भी अपचय-उपचय होता है। जो भावात्मक पदार्थ व्यक्तिरूप से अनादि होता है वही नष्ट नही होता, जैसे परमाणु।

स्वामी—तैजस और कार्मण शरीर सभी संसारी जीव धारण करते है, पर औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर नही। अत तैजस व कार्मण के स्वामी सभी संसारी जीव है, जब कि औदारिक आदि के स्वामी कुछ ही जीव होते है।

प्रश्न—तैजस और कार्मण में कुछ अन्तर तो होगा ही ?

१. तुलना करें—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।—गीता, २.१६।

उत्तर—कार्मण शरीर समस्त शरीरो की जड है, क्योकि वह कर्मस्वरूप है और कर्म ही सब कार्यों का निमित्त कारण है। तैजस शरीर सबका कारण नही। वह सबके साथ अनादिसम्बद्ध रहकर भुक्त-आहार के पाचन आदि में सहायक होता है। ४१-४३।

एक साथ लभ्य शरीरो की संख्या—तैजस और कार्मण ये दो शरीर सभी संसारी जीवो के ससारकाल पर्यन्त अवश्य होते है, पर औदारिक आदि बदलते रहते है, इस प्रकार वे कभी होते है और कभी नही। अतएव यह प्रश्न उठता है कि प्रत्येक जीव के कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने शरीर हो सकते है ? इसका उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। एक साथ एक संसारी जीव के कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक चार शरीर तक हो सकते है, पाँच कभी नही होते। जब दो होते है तब तैजस और कार्मण, क्योकि ये दोनों यावत् ससार-भावी है। ऐसी स्थिति अन्तराल गति में ही पाई जाती है, क्योकि उस समय अन्य कोई शरीर नही होता। जब तीन होते है तब तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रिय। पहला प्रकार मनुष्य व तिर्यञ्च में और दूसरा प्रकार देव व नारक में जन्मकाल से मरण पर्यन्त पाया जाता है। जब चार होते है तब तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक। पहला विकल्प वैक्रिय-लब्धि के प्रयोग के समय कुछ ही मनुष्यो तथा तिर्यंचों में पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक-लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दश पूर्वधारी मुनि में ही होता है। पाँच शरीर एक साथ किसी के भी नही होते, क्योकि वैक्रिय-लब्धि और आहारक-लब्धि का प्रयोग एक साथ सम्भव नही है।

प्रश्न—उक्त रीति से जब दो, तीन या चार शरीर हो तब उनके साथ एक ही समय में एक जीव का सम्बन्ध कैसे घटित होगा ?

उत्तर—जैसे एक ही प्रदीप का प्रकाश एक साथ अनेक वस्तुओ पर पड सकता है, वैसे ही एक जीव के प्रदेश अनेक शरीरों के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हो सकते है।

प्रश्न—क्या किसी के कोई एक ही शरीर नही होता ?

उत्तर—नही। सामान्य सिद्धान्त यह है कि तैजस और कार्मण ये दो शरीर कभी अलग नही होते। अतएव कोई एक शरीर कभी सम्भव नही, पर किसी[1] आचार्य का मत है कि तैजस शरीर कार्मण की तरह यावत्-संसार-भावी नही है,

---

१. यह मत भाष्य में निर्दिष्ट है।

वह आहारक की तरह लब्धिजन्य ही है। इस मत के अनुसार अन्तराल गति में केवल कार्मण शरीर होता है। अतएव उस समय एक शरीर का होना सम्भव है।

प्रश्न—जो यह कहा गया कि वैक्रिय और आहारक इन दो लब्धियों का युगपत् अर्थात् एक साथ प्रयोग नही होता, इसका क्या कारण है?

उत्तर—वैक्रियलब्धि के प्रयोग के समय और उस लब्धि से शरीर बना लेने पर नियम[1] से प्रमत्तदशा होती है। परन्तु आहारक के विषय में ऐसा नही है, क्योंकि आहारकलब्धि का प्रयोग तो प्रमत्तदशा में होता है, पर उससे शरीर बना लेने के बाद शुद्ध अध्यवसाय सम्भव होने के कारण अप्रमत्तभाव पाया जाता है। अत. उक्त दो लब्धियो का प्रयोग एक साथ असिद्ध है। साराश यह है कि आविर्भाव की अपेक्षा से युगपत् पाँच शरीरो का न होना कहा गया है। शक्तिरूप से तो पाँचो शरीर भी हो सकते हैं, क्योंकि आहारकलब्धिवाले मुनि के वैक्रियलब्धि भी सम्भव है। ४४।

प्रयोजन—प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई प्रयोजन होता है। इसलिए शरीर भी सप्रयोजन होने चाहिए, पर प्रश्न यह है कि उनका मुख्य प्रयोजन क्या है और वह सब शरीरो के लिए समान है या कुछ विशेषता भी है? शरीर का मुख्य प्रयोजन उपभोग है जो पहले चार शरीरो से सिद्ध होता है। केवल अन्तिम कार्मण शरीर से सिद्ध नही होता, इसीलिए उसको निरुपभोग कहा गया है।

प्रश्न—उपभोग का क्या अर्थ है?

उत्तर—कर्ण आदि इन्द्रियो से शुभ-अशुभ शब्द आदि विषय ग्रहण करके सुख-दुःख का अनुभव करना, हाथ, पाँव आदि अवयवो से दान, हिंसा आदि शुभ-अशुभ कर्म का बंध करना; बद्धकर्म के शुभ-अशुभ विपाक का अनुभव करना, पवित्र अनुष्ठान द्वारा कर्म की निर्जरा (क्षय) करना—यह सब उपभोग कहलाता है।

प्रश्न—औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर सेन्द्रिय तथा सावयव है, इसलिए उक्त प्रकार का उपभोग उनसे साध्य हो सकता है। पर तैजस शरीर न तो सेन्द्रिय है और न सावयव, अतः उससे उक्त उपभोग कैसे सम्भव है?

उत्तर—यद्यपि तैजस शरीर सेन्द्रिय और सावयव (हस्तपादादियुक्त) नही है तथापि उसका उपभोग पाचन आदि ऐसे कार्य में हो सकता है जिससे सुख दुःख का अनुभव आदि उक्त उपभोग सिद्ध हो। उसका अन्य कार्य शाप और अनुग्रह भी है। अर्थात् अन्न-पाचन आदि कार्य में तैजस शरीर का उपभोग तो सभी करते हैं, पर जो विशिष्ट तपस्वी तपस्याजन्य विशिष्ट लब्धि प्राप्त कर

१. यह विचार अ० २, सू० ४८ की भाष्यवृत्ति में है।

लेते हैं वे कुपित होकर उस शरीर के द्वारा अपने कोपभाजन को जला भी सकते हैं और प्रसन्न होकर उस शरीर से अनुग्रह-पात्र को शान्ति भी पहुँचा सकते है। इस प्रकार तैजस शरीर का उपभोग शाप, अनुग्रह आदि में हो सकता है, अत. सुख-दु ख का अनुभव, शुभाशुभ कर्म का बन्ध आदि उसका उपभोग माना गया है।

प्रश्न—यो सूक्ष्मतापूर्वक देखा जाय तो कार्मण शरीर का भी, जो कि तैजस के समान ही सेन्द्रिय और सावयव नही है, उपभोग हो सकेगा, क्योकि वही अन्य सब शरीरो की जड है। इसलिए अन्य शरीरो का उपभोग वास्तव में कार्मण का ही उपभोग मानना चाहिए, फिर उसे निरुपभोग क्यों कहा गया है ?

उत्तर—ठीक है, उक्त रीति से कार्मण भी सोपभोग अवश्य है। यहाँ उसे निरुपभोग कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जब तक अन्य शरीर सहायक न हों तब तक मात्र कार्मणशरीर से उक्त प्रकार का उपभोग साध्य नही हो सकता, अर्थात् उक्त विशिष्ट उपभोग को सिद्ध करने में औदारिक आदि चार शरीर साक्षात् साधन हैं। इसीलिए वे सोपभोग कहे गए है और परम्परया साधन होने से कार्मण को निरुपभोग कहा गया है। ४५।

जन्मसिद्धता और कृत्रिमता—एक प्रश्न यह भी उठता है कि कितने शरीर जन्मसिद्ध है और कितने कृत्रिम है तथा जन्मसिद्ध में कौन-सा शरीर किस जन्म से पैदा होता है और कृत्रिम होने का कारण क्या है ? इसी प्रश्न का उत्तर यहाँ चार सूत्रों में दिया गया है।

तैजस और कार्मण ये दो शरीर न तो जन्मसिद्ध है और न कृत्रिम अर्थात् वे जन्म के बाद भी होते हैं, फिर भी अनादिसम्बद्ध हैं। औदारिक जन्मसिद्ध ही है जो गर्भ तथा सम्मूर्छन इन दो जन्मो से पैदा होता है तथा जिसके स्वामी मनुष्य और तिर्यञ्च है। वैक्रिय शरीर जन्मसिद्ध और कृत्रिम दो प्रकार का है। जो जन्मसिद्ध है वह उपपातजन्म के द्वारा पैदा होता है और देवो तथा नारको के ही होता है। कृत्रिम वैक्रिय शरीर का कारण लब्धि है। लब्धि एक प्रकार की तपोजन्य शक्ति है, जो कुछ ही गर्भज मनुष्यो और तिर्यञ्चो में सम्भव है। इसलिए वैसी लब्धि से होनेवाले वैक्रिय शरीर के अधिकारी गर्भज मनुष्य और तिर्यञ्च ही है। कृत्रिम वैक्रिय शरीर की कारणभूत एक अन्य प्रकार की भी लब्धि है, जो तपोजन्य न होकर जन्म से ही मिलती है। ऐसी लब्धि कुछ बादर वायुकायिक जीवो में ही मानी गई है। इसलिए वे भी लब्धिजन्य (कृत्रिम) वैक्रिय शरीर के अधिकारी हैं। आहारक शरीर कृत्रिम ही है। इसका कारण विशिष्ट लब्धि ही है, जो मनुष्य के सिवाय अन्य जातियो में नही होती और मनुष्य में भी विशिष्ट मुनि के ही होती है।

प्रश्न—कौन-से विशिष्ट मुनि के होती है ?

उत्तर—चतुर्दश पूर्वधारी मुनि के होती है।

प्रश्न—वे उस लब्धि का प्रयोग कब और किसलिए करते हैं ?

उत्तर—किसी सूक्ष्म विषय में सन्देह होने पर उसके निवारण के लिए अर्थात् जब कभी किसी चतुर्दश पूर्वधारी मुनि को गहन विषय में सन्देह हो और सर्वज्ञ का सन्निधान न हो तब वे औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असम्भव देखकर अपनी विशिष्ट लब्धि का प्रयोग करते हैं और हस्तप्रमाण छोटा-सा शरीर बनाते हैं, जो शुभ पुद्गल-जन्य होने से सुन्दर होता है, प्रशस्त उद्देश्य से बनाये जाने के कारण निरवद्य होता है और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अव्याघाती अर्थात् किसी को रोकनेवाला या किसी से रुकनेवाला नहीं होता। ऐसे शरीर से वे क्षेत्रान्तर में सर्वज्ञ के निकट पहुँचकर अपने सन्देह का निवारण कर फिर अपने स्थान पर लौट आते हैं। यह कार्य केवल अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है।

प्रश्न—अन्य कोई शरीर लब्धिजन्य नहीं है ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—शाप और अनुग्रह के द्वारा तैजस का जो उपभोग बतलाया गया, उससे तो वह लब्धिजन्य स्पष्ट मालूम होता है, फिर अन्य कोई शरीर लब्धिजन्य नहीं है, ऐसा क्यों ?

उत्तर—यहाँ लब्धिजन्य का अर्थ उत्पत्ति है, प्रयोग नहीं। तैजस की उत्पत्ति लब्धि से नहीं होती, जैसे वैक्रिय और आहारक की होती है, पर उसका प्रयोग कभी-कभी लब्धि से किया जाता है। इसी आशय से तैजस शरीर को यहाँ लब्धिजन्य (कृत्रिम) नहीं कहा गया। ४६-४९।

वेद (लिंग) के प्रकार

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि। ५०।

न देवाः। ५१।

नारक और सम्मूर्छिम नपुंसक ही होते हैं।

देव नपुंसक नहीं होते।

शरीरों के वर्णन के बाद वेद या लिंग का प्रश्न उठता है। इसी का स्पष्टीकरण यहाँ किया गया है। चिह्न को लिंग कहते हैं। वह तीन प्रकार का है। यह बात पहले औदयिक भावों की संख्या बतलाते समय कही जा चुकी है।[1]

---

१. देखें—अ० २, सू० ६।

लिंग तीन है—पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुसकलिंग। लिंग का दूसरा नाम वेद भी है। ये तीनों वेद द्रव्य और भाव रूप से दो-दो प्रकार के है।[1] द्रव्यवेद अर्थात् ऊपर का चिह्न और भाववेद अर्थात् अभिलाषा-विशेष। १. जिस चिह्न से पुरुष की पहचान होती है वह द्रव्य-पुरुषवेद है और स्त्री के संसर्ग-सुख की अभिलाषा भाव पुरुषवेद है। २. स्त्री की पहचान का साधन द्रव्य-स्त्रीवेद और पुरुष के ससर्ग-सुख की अभिलाषा भाव-स्त्रीवेद है। ३ जिसमें कुछ स्त्री के चिह्न और कुछ पुरुष के चिह्न हो वह द्रव्य-नपुसकवेद और स्त्री-पुरुष दोनो के संसर्ग-सुख की अभिलाषा भाव-नपुसकवेद है। द्रव्यवेद पौद्गलिक आकृतिरूप है जो नाम-कर्म के उदय का फल है। भाववेद एक मनोविकार है जो मोहनीय कर्म के उदय का फल है। द्रव्यवेद और भाववेद में साध्य-साधन या पोष्य-पोषक का सम्बन्ध है।

विभाग—नारक और सम्मूर्छिम जीवो के नपुसकवेद होता है। देवो के नपुसकवेद नही होता, शेष दो होते है। शेष सब अर्थात् गर्भज मनुष्यों तथा तिर्यञ्चो के तीनों वेद होते है।

विकार की तरतमता—पुरुष-वेद का विकार सबसे कम स्थायी होता है। स्त्री-वेद का विकार उससे अधिक स्थायी और नपुंसक-वेद का विकार स्त्रीवेद के विकार से भी अधिक स्थायी होता है। यह बात उपमान से, इस तरह समझी जा सकती है :

पुरुषवेद का विकार घास की अग्नि के समान है जो शीघ्र शान्त हो जाता है और प्रकट भी शीघ्र होता है। स्त्रीवेद का विकार अंगारे के समान है जो जल्दी शान्त नही होता और प्रकट भी जल्दी नही होता। नपुसकवेद का विकार सन्तप्त ईंट के समान है जो बहुत देर में शान्त होता है तथा प्रकट भी बहुत देर में होता है।

स्त्री में कोमल भाव मुख्य है जिसे कठोर तत्त्व की अपेक्षा रहती है। पुरुष में कठोर भाव मुख्य है जिसे कोमल तत्त्व की अपेक्षा रहती है। पर नपुसक में दोनों भावो का मिश्रण होने से उसे दोनों तत्त्वों की अपेक्षा रहती है। ५०-५१।

आयुष के प्रकार और उनके स्वामी

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः। ५२।

औपपातिक (नारक और देव), चरमशरीरी, उत्तमपुरुष और असंख्यातवर्षजीवी—ये अनपवर्तनीय आयुवाले ही होते हैं।

---

१. द्रव्य और भाव वेद का पारस्परिक सम्बन्ध तथा तत्सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातें जानने के लिए देखें—हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ, पृ० ५३ की टिप्पणी।

युद्ध आदि विप्लव में हजारो नौजवानो को एक साथ मरते देखकर और बूढे तथा जर्जर देहवालों को भी भयानक विपदाओ से बचते देखकर यह सन्देह होता है कि क्या अकालमृत्यु भी है, जिससे अनेक लोग एक साथ मर जाते हैं और कोई नहीं भी मरता ? इसका उत्तर हाँ और ना में यहाँ दिया गया है।

आयु के दो प्रकार हैं--अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही शीघ्र भोगी जा सके वह अपवर्तनीय है और जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके वह अनपवर्तनीय है, अर्थात् जिस आयु का भोगकाल बन्धकालीन स्थितिमर्यादा से कम हो वह अपवर्तनीय और जिसका भोगकाल उक्त मर्यादा के समान ही हो वह अनपवर्तनीय है।

अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु का बन्ध स्वाभाविक नही है किन्तु परिणाम के तारतम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में निर्माण की जाती है। उस समय यदि परिणाम मन्द हो तो आयु का बन्ध शिथिल हो जाता है, जिससे निमित्त मिलने पर बन्धकालीन कालमर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत यदि परिणाम तीव्र हो तो आयु का बन्ध गाढ होता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बन्धकालीन कालमर्यादा नही घटती और न आयु एक साथ भोगी जा सकती है। जैसे अत्यन्त दृढ होकर खडे पुरुषो की पंक्ति अभेद्य और शिथिल रूप में खडे पुरुषों की पंक्ति भेद्य होती है, अथवा जैसे सघन बोये हुए बीजों के पौधे पशुओ के लिए दुष्प्रवेश्य और दूर-दूर बोये हुए बीजो के पौधे सुप्रवेश्य होते हैं, वैसे ही तीव्र परिणाम से गाढ रूप में बद्ध आयु शस्त्र-विष आदि का प्रयोग होने पर भी अपनी नियत कालमर्यादा से पहले पूर्ण नही होती और मन्द परिणाम से शिथिल रूप में बद्ध आयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही अन्तर्मुहूर्त मात्र में भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को ही अपवर्तना या अकालमृत्यु कहते हैं और नियत स्थिति के भोग को अनपवर्तना या कालमृत्यु कहते है। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम—उपक्रम सहित ही होती है। तीव्र शस्त्र, तीव्र विष, तीव्र अग्नि आदि जिन निमित्तो से अकालमृत्यु होती है उनका प्राप्त होना उपक्रम है। यह अपवर्तनीय आयु के अवश्य होता है, क्योंकि वह आयु नियम से कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही भोगने योग्य होती है। परन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार की होती है अर्थात् उस आयु को अकालमृत्यु लानेवाले उक्त निमित्तो का सन्निधान होता भी है और नही भी होता। उक्त निमित्तो का सन्निधान होने पर भी अनपवर्तनीय आयु नियत कालमर्यादा के पहले पूर्ण नही

होती । साराश यह है कि अपवर्तनीय आयुवाले प्राणियों को शस्त्र आदि कोई-न-कोई निमित्त मिल ही जाता है जिससे वे अकाल में ही मर जाते है और अनपवर्तनीय आयुवालो को कैसा भी प्रबल निमित्त क्यो न मिले, वे अकाल में नही मरते ।

अधिकारी—उपपात जन्मवाले नारक और देव ही होते है । मनुष्य ही चरमदेह तथा उत्तमपुरुष होते है । बिना जन्मान्तर के उसी शरीर से मोक्ष पानेवाले चरमदेह कहलाते है । तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि उत्तमपुरुष कहलाते है । असंख्यातवर्षजीवी कुछ मनुष्य और कुछ तिर्यंच ही होते है ।[1] इनमें से औपपातिक और असंख्यातवर्षजीवी निरुपक्रम अनपवर्तनीय आयुवाले ही होते है । चरमदेह और उत्तमपुरुष सोपक्रम अनपवर्तनीय तथा निरुपक्रम अनपवर्तनीय दोनो आयुवाले होते है । इनके अतिरिक्त शेष सभी मनुष्य व तिर्यंच अपवर्तनीय आयुवाले होते हैं ।

प्रश्न—नियत कालमर्यादा के पहले आयु का भोग हो जाने से कृतनाश, अकृतागम और निष्फलता ये दोष लगेंगे, जो शास्त्र में इष्ट नही है, इनका निवारण कैसे होगा ?

उत्तर—शीघ्र भोग होने में उक्त दोष नही है, क्योकि जो कर्म चिरकाल तक भोगा जा सकता है वह एक साथ भोग लिया जाता है । उसका कोई भी भाग बिना विपाकानुभव के नही छूटता । इसलिए न तो कृतकर्म का नाश है और न बद्धकर्म की निष्फलता ही है । इसी प्रकार मृत्यु कर्मानुसार ही आती है, अतएव अकृतकर्म का आगम भी नही है । जैसे घास की सघनराशि में एक ओर से छोटा अग्निकण छोड दिया जाय तो वह अग्निकण एक-एक तिनके को क्रमशः जलाते हुए उस सारी राशि को कुछ देर में भस्म कर सकता है । वे ही अग्निकण घास की शिथिल राशि में चारो ओर से छोड दिये जायँ तो एक साथ उसे जला डालते है ।

इस बात के विशेष स्पष्टीकरण के लिए शास्त्र में और भी दो दृष्टान्त दिये गए है पहला गणितक्रिया का और दूसरा वस्त्र सुखाने का । जैसे किसी विशिष्ट सख्या का लघुतम छेद निकालना हो तो गणितप्रक्रिया में इसके लिए अनेक उपाय है । निपुण गणितज्ञ ऐसी रीति का उपयोग करता है कि बहुत शीघ्र अभीष्ट

---

१. असख्यातवर्षजीवी मनुष्य तीस अकर्मभूमियों, छप्पन अन्तर्द्वीपों और कर्मभूमियों में उत्पन्न युगलिक ही हैं । परन्तु असख्यातवर्षजीवी तिर्यंच तो उक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त ढाई द्वीप के बाहर के द्वीप-समुद्रों में भी होते हैं ।

परिणाम निकल आता है और दूसरा साधारण जानकार मनुष्य भागाकार आदि विलम्ब-साध्य क्रिया द्वारा देरी से अभीष्ट परिणाम निकाल पाता है। परिणाम तुल्य होने पर भी दक्ष गणितज्ञ उसे शीघ्र निकाल लेता है और साधारण गणितज्ञ देरी से निकालता है। इसी तरह समान रूप में भीगे हुए दो कपड़ों में से एक को समेटकर और दूसरे को फैलाकर सुखाने पर पहला देरी से सूखता है और दूसरा जल्दी। पानी का परिमाण और शोषणक्रिया समान होने पर भी कपड़े के संकोच और विस्तार के कारण सूखने में देरी और जल्दी का अन्तर पड़ता है। समान परिमाणयुक्त अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु के भोगने में भी केवल देरी और जल्दी का ही अन्तर पड़ता है। इसलिए कृत का नाश आदि उक्त दोष नही आते। ५२।

: ३ :

अधोलोक-मध्यलोक

द्वितीय अध्याय में गति की अपेक्षा से संसारी जीवों के नारक, मनुष्य, तिर्यंच और देव ऐसे चार प्रकार कहे गए हैं। स्थान, आयु, अवगाहना आदि के वर्णन द्वारा उनका विशेष स्वरूप तीसरे और चौथे अध्याय में निरूपित हैं। प्रस्तुत तृतीय अध्याय में नारक, तिर्यंच और मनुष्य का वर्णन है।

नारकों का वर्णन

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः। १।

तासु नरकाः। २।

नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः। ३।

परस्परोदीरितदुःखाः। ४।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः। ५।

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानां परा स्थितिः। ६।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ हैं। ये भूमियाँ घनाम्बु, वात और आकाश पर स्थित हैं, एक-दूसरे के नीचे हैं और नीचे की ओर अधिक-अधिक विस्तीर्ण हैं।

उन भूमियों में नरक हैं।

वे नरक नित्य (निरन्तर) अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले हैं।

परस्पर उत्पन्न किये गए दुःखवाले हैं।

चौथी भूमि से पहले अर्थात् तीन भूमियों तक संक्लिष्ट असुरों के द्वारा उत्पन्न किये गए दुःखवाले भी हैं।

उन नरकों में स्थित प्राणियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सतरह, बाईस और तेंतीस सागरोपम है।

लोक के अध , मध्य और ऊर्ध्व तीन भाग है। अधोभाग मेरुपर्वत के समतल के नीचे नौ सौ योजन की गहराई के बाद गिना जाता है, जो आकाश में औंधे किये हुए सकोरे के समान है अर्थात् नीचे-नीचे विस्तीर्ण है। समतल के नीचे तथा ऊपर के नौ सौ+नौ सौ योजन अर्थात् कुल अठारह सौ योजन का मध्यलोक है, जो आकार में झालर के समान बराबर आयाम-विष्कम्भ (लम्बाई-चौड़ाई) वाला है। मध्यलोक के ऊपर ऊर्ध्वलोक है जो आकार में पखावज (मृदङ्गविशेष) के समान है।

नारकों के निवासस्थान अधोलोक में हैं जहाँ की भूमियाँ 'नरकभूमि' कहलाती हैं। ये भूमियाँ सात हैं जो समश्रेणि में न होकर एक-दूसरी के नीचे हैं। उनका आयाम (लम्बाई) और विष्कम्भ (चौड़ाई) समान नहीं है, किन्तु नीचे-नीचे की भूमि की लम्बाई-चौड़ाई अधिक-अधिक है, अर्थात् पहली भूमि से दूसरी की लम्बाई-चौड़ाई अधिक है, दूसरी से तीसरी की। इसी प्रकार छठी से सातवीं तक की लम्बाई-चौड़ाई अधिक-अधिक होती गई है।

ये सातों भूमियाँ एक-दूसरी के नीचे है, किन्तु बिलकुल सटी हुई नहीं है, एक-दूसरी के बीच बहुत अन्तर है। इस अन्तर में घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश क्रमशः नीचे-नीचे हैं अर्थात् पहली नरकभूमि के नीचे घनोदधि है; इसके नीचे घनवात, घनवात के नीचे तनुवात और तनुवात के नीचे आकाश है। आकाश के बाद दूसरी नरकभूमि है। दूसरी भूमि और तीसरी भूमि के बीच भी क्रमशः घनोदधि आदि हैं। इसी तरह सातवीं भूमि तक सब भूमियों के नीचे उसी क्रम से घनोदधि आदि है।[1] ऊपर की अपेक्षा नीचे का पृथ्वीपिंड—भूमि

१. भगवतीसूत्र में लोक स्थिति का स्वरूप-वर्णन बहुत स्पष्ट रूप में इस प्रकार है—

"त्रस-स्थावरादि प्राणियों का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। वायु के आधार पर उदधि और उसके आधार पर पृथ्वी कैसे ठहर सकती है ? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण यह है : कोई पुरुष चमड़े की मशक को हवा भरकर फुला दे। फिर उसके मुँह को चमड़े के फीते से मजबूत गाँठ देकर बाँध दे। इस मशक के बीच के भाग को भी बाँध दे। ऐसा करने से मशक में भरे हुए पवन के दो भाग हो जाएँगे, जिससे मशक डुगडुगी जैसी लगेगी। तब मशक का मुँह खोलकर ऊपर के भाग में से हवा निकाल दे और उसकी जगह पानी भर कर फिर मशक का मुँह बन्द कर दे और बीच का बन्धन खोल दे। फिर ऐसा लगेगा कि जो पानी मशक के ऊपर के भाग में भरा गया है वह ऊपर के भाग में ही रहेगा अर्थात् वायु के ऊपर के भाग में ही रहेगा, वायु के ऊपर ही ठहरेगा, नीचे नहीं जा सकता, क्योंकि ऊपर के भाग में जो पानी है, उसका आधार मशक के नीचे के भाग की वायु है। जैसे मशक में हवा के आधार पर पानी ऊपर रहता है वैसे ही पृथ्वी आदि भी हवा के आधार पर प्रतिष्ठित हैं।" देखें—भगवतीसूत्र, शतक १, उद्देशक ६।

की मोटाई अर्थात् ऊपर से लेकर नीचे के तल तक का भाग कम-कम है। प्रथम भूमि की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन, दूसरी की एक लाख बत्तीस हजार, तीसरी की एक लाख अट्ठाईस हजार, चौथी की एक लाख बीस हजार, पाँचवी की एक लाख अठारह हजार, छठी की एक लाख सोलह हजार तथा सातवी की एक लाख आठ हजार योजन है। सातों भूमियो के नीचे जो सात घनोदधि-वलय है उन सबकी मोटाई समान अर्थात् बीस-बीस हजार योजन है और जो सात घनवात तथा सात तनुवात-वलय हैं उनकी मोटाई सामान्य रूप से असंख्यात योजन की होने पर भी तुल्य नही है, अर्थात् प्रथम भूमि के नीचे के घनवात-वलय तथा तनुवात-वलय की असंख्यात योजन की मोटाई से दूसरी भूमि के नीचे के घनवात-वलय तथा तनुवात-वलय की असंख्यात योजन की मोटाई विशेष है। इसी क्रम से उत्तरोत्तर छठी भूमि के घनवात-तनुवातवलय से सातवी भूमि के घनवात-तनुवातवलय की मोटाई विशेष-विशेष हैं। यही बात आकाश के विषय में भी है।

पहली भूमि रत्नप्रधान होने से रत्नप्रभा कहलाती है। इसी तरह दूसरी शर्करा (कंकड) के सदृश होने से शर्कराप्रभा है। तीसरी वालुका (रेती) की मुख्यता होने से वालुकाप्रभा है। चौथी पङ्क (कीचड) की अधिकता होने से पङ्कप्रभा है। पाँचवी धूम (धूएँ) की अधिकता होने से धूमप्रभा है। छठी तम. (अधकार) की विशेपता से तम प्रभा और सातवीं महातम. (घन-अन्धकार) की प्रचुरता से महातम प्रभा है। इन सातो के नाम क्रमश. घर्मा, *वंशा, शैला, अञ्जना, रिष्टा, माघव्या और माघवी हैं।*

रत्नप्रभा भूमि के तीन काण्ड (हिस्से) हैं। सबसे ऊपर का प्रथम खर-काण्ड रत्नप्रचुर है, जो मोटाई में १६ हजार योजन है। उसके नीचे का दूसरा काण्ड पङ्कबहुल है, जिसकी मोटाई ८४ हजार योजन है। उसके नीचे का तीसरा काण्ड जलबहुल है, जिसकी मोटाई ८० हजार योजन है। तीनो काण्डो की मोटाई कुल मिलाकर १ लाख ८० हजार योजन होती है। दूसरी से लेकर सातवी भूमि तक ऐसे काण्ड नही है, क्योकि उनमें शर्करा, वालुका आदि पदार्थ सर्वत्र एक-से है। रत्नप्रभा का प्रथम काण्ड दूसरे पर और दूसरा तीसरे पर स्थित है। तीसरा काण्ड घनोदधिवलय पर, घनोदधि घनवातवलय पर, घनवात तनुवातवलय पर और तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित है। परन्तु आकाश किसी पर स्थित न होकर आत्म-प्रतिष्ठित है, क्योकि आकाश को स्वभावत दूसरे आधार की अपेक्षा नही होती। दूसरी भूमि का आधार उसका घनोदधिवलय है, वह अपने नीचे के घनवातवलय पर आश्रित है, घनवात अपने नीचे के तनुवात पर आश्रित है,

तनुवात नीचे के आकाश पर प्रतिष्ठित है और आकाश स्वाश्रित है। यही क्रम सातवी भूमि तक प्रत्येक भूमि और उसके घनोदधिवलय की स्थिति का है।

ऊपर-ऊपर की भूमि से नीचे-नीचे की भूमि का बाहुल्य कम होने पर भी उसका आयाम-निष्कम्भ बढता जाता है, इसलिए उनका सस्थान छत्रातिछत्रवत् अर्थात् उत्तरोत्तर पृथु-पृथुतर (विस्तीर्ण-विस्तीर्णतर) कहा गया है। १।

सातो भूमियो की जितनी-जितनी मोटाई ऊपर कही गई है, उसके ऊपर तथा नीचे के एक-एक हजार योजन को छोडकर शेष मध्यभाग में नरकावास है, जैसे रत्नप्रभा की १ लाख ८० हजार योजन मोटाई में से ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन छोडकर बीच के १ लाख ७८ हजार योजन के हिस्से में नरक है। यही क्रम सातवी भूमि तक है। नरको के रौरव, रौद्र, घातन, शोचन आदि अशुभ नाम है, जिनको सुनने मात्र से भय होता है। रत्नप्रभा के सीमान्तक नामक नरकावास से लेकर महातम प्रभा के अप्रतिष्ठान नामक नरकावास तक के सभी नरकावास वज्र के छुरे के सदृश तलवाले हैं। संस्थान (आकार) सबका समान नही है—कुछ गोल है, कुछ त्रिकोण है, कुछ चतुष्कोण है, कुछ हाँडी जैसे है और कुछ लोहे के घडे जैसे है। प्रस्तर (प्रतर) जो कि मजिलवाले घर के तले के समान है, उनकी संख्या इस प्रकार है—रत्नप्रभा में तेरह और शर्कराप्रभा में ग्यारह प्रस्तर है। इस प्रकार नीचे की प्रत्येक भूमि में दो-दो घटते हुए सातवी महातम-प्रभा भूमि में एक ही प्रस्तर है। इन्ही प्रस्तरो में नरक है।

नरकावासो की संख्या—प्रथम भूमि में तीस लाख, दूसरी में पचीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवी में तीन लाख, छठी में पाँच कम एक लाख और सातवी में केवल पाँच नरकावास है।

प्रश्न—प्रस्तरों में नरक कहने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—एक प्रस्तर और दूसरे प्रस्तर के बीच जो अवकाश (अन्तर) है उसमें नरक नही है, किन्तु प्रत्येक प्रस्तर की तीन-तीन हजार योजन की मोटाई में ये विविध सस्थानवाले नरक है।

प्रश्न—नरक और नारक में क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—नारक जीव है और नरक उनके स्थान है। नरक नामक स्थान के सम्बन्ध से ही वे जीव नारक कहलाते है। २।

पहली भूमि से दूसरी और दूसरी से तीसरी इसी प्रकार सातवी भूमि तक के नरक अशुभ, अशुभतर, अशुभतम रचनावाले है। इसी प्रकार उन नरको में स्थित नारकों की लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया भी उत्तरोत्तर अशुभ है।

लेश्या—रत्नप्रभा में कापोत लेश्या है। शर्कराप्रभा में भी कापोत है, पर रत्नप्रभा से अधिक तीव्रसंक्लेशकारी है। वालुकाप्रभा में कापोत-नील लेश्या है। पङ्कप्रभा में नील लेश्या है। धूमप्रभा में नील-कृष्ण लेश्या है, तम.प्रभा में कृष्ण लेश्या है और महातम.प्रभा में भी कृष्ण लेश्या है, पर तमःप्रभा से तीव्रतम है।

परिणाम—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, सस्थान आदि अनेक प्रकार के पौद्गलिक परिणाम सातो भूमियो में उत्तरोत्तर अशुभ है।

शरीर—सातो भूमियो के नारको के शरीर अशुभ नामकर्म के उदय से उत्तरोत्तर अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, सस्थानवाले तथा अशुचिपूर्ण और बीभत्स हैं।

वेदना—सातो भूमियो के नारको की वेदना उत्तरोत्तर तीव्र है। पहली तीन भूमियो में उष्ण वेदना, चौथी में उष्ण-शीत, पाँचवी में शीतोष्ण, छठी में शीत और सातवी में शीततर वेदना है। यह उष्ण और शीत वेदना इतनी तीव्र है कि नारक जीव यदि मर्त्यलोक की भयंकर गरमी या ठण्ड में आ जायँ तो उन्हें बडे सुख की नीद आ सकती है।

विक्रिया—उनकी विक्रिया भी उत्तरोत्तर अशुभ होती है। वे दु.ख से घबरा कर छुटकारे के लिए प्रयत्न करते है, पर होता है उलटा। सुख के साधन जुटाने में उनको दु ख के साधन ही प्राप्त होते है। वे वैक्रियलब्धि से बनाने लगते है कुछ शुभ, किन्तु बन जाता है अशुभ ही।

प्रश्न—लेश्या आदि अशुभतर भावो को नित्य कहने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर—नित्य अर्थात् निरन्तर। गति, जाति, शरीर और अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से नरकगति में लेश्या आदि भाव जीवन-पर्यन्त अशुभ ही बने रहते है, बीच में एक पल का भी अन्तर नही पडता और न कभी वे शुभ ही होते है। ३।

एक तो नरक में क्षेत्र-स्वभाव से सरदी-गरमी का भयंकर दु.ख है ही, भूख-प्यास का दु.ख तो और भी भयकर है। भूख इतनी सताती है कि अग्नि की भाँति सर्व-भक्षण से भी शान्त नही होती, अपितु और भी बढती जाती है। प्यास इतनी लगती है कि चाहे जितना जल पिया जाय तो भी तृप्ति नही होती। इसके अतिरिक्त बडा भारी दु ख तो आपसी वैर और मारपीट का है। जैसे कौआ और उल्लू तथा साँप और नेवला जन्मजात शत्रु है, वैसे ही नारक जीव जन्मजात शत्रु होते है। इसलिए वे एक-दूसरे को देखकर कुत्तो की तरह आपस में लडते है, काटते है और गुस्से से जलते हैं; इसीलिए वे परस्परजनित दु.खवाले कहे गए है। ४।

नारको में तीन प्रकार की वेदना मानी गई है, जिनमें क्षेत्रस्वभावजन्य और

परस्परजन्य वेदनाओं का वर्णन ऊपर आ गया है। तीसरी वेदना उत्कट अधर्मजन्य है। प्रथम दो वेदनाएँ सातों भूमियों में साधारण हैं। तीसरी वेदना केवल पहली तीन भूमियों में होती है, क्योंकि उन्हीं भूमियों में परमाधार्मिक असुर हैं। ये बहुत क्रूर स्वभाववाले और पापरत होते हैं। इनकी अम्ब, अम्बरीष आदि पन्द्रह जातियाँ हैं। ये स्वभावत. इतने निर्दय और कुतूहली होते हैं कि इन्हें दूसरों को सताने में ही आनन्द आता है। इसलिए नारकों को ये अनेक प्रकार के प्रहारों से दु:खी करते रहते हैं। उन्हें आपस में कुत्तों, भैंसों और मल्लों की तरह लड़ाते हैं। नारकों को आपस में लड़ते, मार-पीट करते देखकर इन्हें बड़ा आनन्द आता है। यद्यपि ये परमाधार्मिक एक प्रकार के देव हैं, इन्हें और भी अनेक प्रकार के सुख-साधन प्राप्त हैं, तथापि पूर्वजन्मकृत तीव्र दोष के कारण इन्हें दूसरों को सताने में ही प्रसन्नता होती है। नारक भी बेचारे कर्मवश असहाय होकर सम्पूर्ण जीवन तीव्र वेदनाओं के अनुभव में ही बिताते हैं। वेदना कितनी ही अधिक हो, पर नारकों के लिए न तो कोई शरण है और अनपवर्तनीय आयु के कारण जीवन भी जल्दी समाप्त नहीं होता। ५।

नारकों की स्थिति—प्रत्येक गति के जीवों की स्थिति (आयुमर्यादा) जघन्य और उत्कृष्ट दो प्रकार की है। जिससे कम न हो वह जघन्य और जिससे अधिक न हो वह उत्कृष्ट स्थिति है। यहाँ नारकों की उत्कृष्ट स्थिति का ही निर्देश है। जघन्य स्थिति का वर्णन आगे किया जायगा।[1] पहली भूमि में एक सागरोपम की, दूसरी में तीन, तीसरी में सात, चौथी में दस, पाँचवी में सतरह, छठी में बाईस और सातवी में तैंतीस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु-स्थिति कही गई है।

यहाँ अधोलोक का सामान्य वर्णन पूरा होता है। इसमें दो बातें विशेष ज्ञातव्य हैं—गति-आगति और द्वीप-समुद्र आदि की सम्भावना।

गति—असंज्ञी प्राणी मरने पर पहली भूमि में उत्पन्न हो सकते हैं। भुजपरिसर्प पहली दो भूमियों तक, पक्षी तीन भूमियों तक, सिंह चार भूमियों तक, उरग पाँच भूमियों तक, स्त्री छ. भूमियों तक और मत्स्य व मनुष्य सातवी भूमि तक जा सकते हैं। सारांश यह है कि तिर्यंच और मनुष्य ही नरक-भूमि में पैदा हो सकते हैं, देव और नारक नहीं। कारण यह है कि उनमें वैसे अध्यवसाय का अभाव होता है। नारक मरकर पुन तत्काल न तो नरक गति में ही पैदा होते हैं और न देव गति में। वे तिर्यंच एव मनुष्य गति में ही पैदा हो सकते हैं।

आगति—पहली तीन भूमियों के नारक जीव मनुष्य गति में आकर तीर्थङ्कर पद तक प्राप्त कर सकते हैं। चार भूमियों के नारक जीव मनुष्य गति में आकर

१. देखें—अ० ४, सू० ४३-४४।

निर्वाण भी प्राप्त कर सकते हैं। पाँच भूमियों के नारक मनुष्य गति में संयम धारण कर सकते हैं। छ. भूमियों से निकले हुए नारक जीव देशविरति और सात भूमियों से निकले हुए सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं।

द्वीप-समुद्र आदि की अवस्थिति—रत्नप्रभा भूमि को छोड़ शेष छः भूमियों में न तो द्वीप, समुद्र, पर्वत और सरोवर ही हैं, न गाँव, शहर आदि हैं; न वृक्ष, लता आदि बादर वनस्पतिकाय है, न द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक तिर्यंच हैं; न मनुष्य हैं और न किसी प्रकार के देव ही हैं। रत्नप्रभा का कुछ भाग मध्यलोक में सम्मिलित है, अत. उसमें द्वीप, समुद्र, ग्राम, नगर, वनस्पति, तिर्यंच, मनुष्य, देव होते हैं। रत्नप्रभा के अतिरिक्त शेष छ भूमियों में केवल नारक और कुछ एकेन्द्रिय जीव ही हैं। इस सामान्य नियम का भी अपवाद है, क्योंकि उन भूमियों में कभी किसी स्थान पर कुछ मनुष्य, देव और पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों का होना भी सम्भव है। मनुष्य तो इस अपेक्षा से सम्भव है कि केवली समुद्घात करनेवाला मनुष्य सर्वलोकव्यापी होने से उन भूमियों में भी आत्मप्रदेश फैलाता है। वैक्रियलब्धि-वाले मनुष्य की भी उन भूमियों तक पहुँच है। तिर्यंचों की पहुँच भी उन भूमियों तक है, परन्तु यह केवल वैक्रियलब्धि की अपेक्षा से ही मान्य है। कुछ देव कभी-कभी अपने पूर्वजन्म के मित्रों को दु खमुक्त करने के उद्देश्य से नरकों में पहुँच जाते हैं। किन्तु देव भी केवल तीन भूमियों तक ही जा पाते हैं। नरकपाल कहे जानेवाले परमाधार्मिक देव जन्म से ही पहली तीन भूमियों में रहते हैं, अन्य देव जन्म से केवल पहली भूमि में पाये जाते हैं। ६।

मध्यलोक

जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः। ७।
द्विर्द्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः। ८।
तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः। ९।
तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि। १०।
तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः। ११।
द्विर्धातकीखण्डे। १२।
पुष्करार्धे च। १३।
प्राङ्मानुषोत्तरान् मनुष्याः। १४।
आर्या म्लेच्छाश्च। १५।
भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः। १६।

नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते । १७ ।
तिर्यग्योनीनां च । १८ ।

जम्बूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप तथा लवण आदि शुभ नामवाले समुद्र हैं।

वे सभी द्वीप और समुद्र वलय (चूड़ी) की आकृतिवाले, पूर्व-पूर्व को वेष्टित करनेवाले और दुगुने-दुगुने विष्कम्भ (व्यास या विस्तार) वाले हैं।

उन सबके मध्य में जम्बूद्वीप है जो गोल है, एक लाख योजन विष्कम्भवाला है और जिसके मध्य मे मेरुपर्वत है।

जम्बूद्वीप में भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष नामक सात क्षेत्र है।

उन क्षेत्रो को पृथक् करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे हिमवान्. महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी—ये छः वर्षधर पर्वत हैं।

घातकीखण्ड में पर्वत तथा क्षेत्र जम्बूद्वीप से दुगुने हैं।

पुष्करार्धद्वीप में भी उतने (घातकीखण्ड जितने) ही हैं।

मानुषोत्तर नामक पर्वत के पहले तक (इस ओर) ही मनुष्य है।

वे आर्य और म्लेच्छ हैं।

देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़ भरत, ऐरावत तथा विदेह—ये सभी कर्मभूमियाँ है।

मनुष्यो की स्थिति (आयु) उत्कृष्ट तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

तिर्यंचो की स्थिति (आयु) भी उतनी ही है।

द्वीप और समुद्र—मध्यलोक की आकृति झालर के समान है। यह बात द्वीप-समुद्रो के वर्णन से स्पष्ट है।

मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, जो द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप इस क्रम से अवस्थित है। उन सबके नाम शुभ ही है। यहाँ द्वीप-समुद्रो के व्यास, उनकी रचना और आकृति सम्बन्धी तीन बातें वर्णित है, जिनसे मध्यलोक का आकार ज्ञात होता है।

व्यास—जम्बूद्वीप का पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण विस्तार एक-एक लाख योजन है, लवणसमुद्र का उससे दुगुना है। इसी प्रकार घातकीखण्ड का लवणसमुद्र से, कालोदधि का घातकीखण्ड से, पुष्करवरद्वीप का कालोदधि से, पुष्करोदधि का पुष्करवरद्वीप से दुगुना-दुगुना विष्कम्भ है। विष्कम्भ का यही क्रम

अन्त तक चलता है। अन्तिम द्वीप स्वयम्भूरमण है, जिससे अंतिम समुद्र स्वयम्भूरमण का विष्कम्भ दुगुना है।

रचना—द्वीप-समुद्रो की रचना चक्की के पाट और उसके थाल के समान है। जम्बूद्वीप लवणसमुद्र से वेष्टित है। इसी प्रकार लवणसमुद्र घातकीखण्ड से, घातकीखण्ड कालोदधि से, कालोदधि पुष्करवरद्वीप से और पुष्करवरद्वीप पुष्करोदधि से वेष्टित है। यही क्रम स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यंत है।

आकृति—जम्बूद्वीप थाली के समान गोल है और अन्य सब द्वीप-समुद्रो की आकृति वलय (चूडी) के समान है। ७-८।

जम्बूद्वीप के क्षेत्र और प्रधान पर्वत—जम्बूद्वीप सबसे प्रथम और सब द्वीप-समुद्रो के मध्य में है अर्थात् उसके द्वारा कोई द्वीप या समुद्र वेष्टित नही है। जम्बूद्वीप का विष्कम्भ एक लाख योजन है। वह कुम्हार के चाक की भाँति गोल है, लवणादि की तरह वलयाकृति नही। उसके बीच में मेरुपर्वत है। सक्षेप में मेरु का वर्णन इस प्रकार है.

मेरु की ऊँचाई एक लाख योजन है, जिसमें एक हजार योजन का भाग भूमि के अन्दर अर्थात् अदृश्य है। निन्यानवे हजार योजन का भाग भूमि के ऊपर है। जमीन के अन्दरवाले भाग की लम्बाई-चौडाई सब जगह दस हजार योजन है। बाहरी भाग के ऊपर का अश, जहाँ से चूलिका निकलती है, एक-एक हजार योजन लम्बा-चौडा है। मेरु के तीन काण्ड है। वह तीनों लोकों में अवगाहित होकर स्थित है और चार वनो से घिरा है। प्रथम काण्ड एक हजार योजन का है जो जमीन में है। दूसरा तिरसठ हजार योजन का और तीसरा छत्तीस हजार योजन का है। पहले काण्ड में शुद्ध पृथिवी तथा कंकड आदि की, दूसरे में चाँदी, स्फटिक आदि की और तीसरे में स्वर्ण की प्रचुरता है। क्रमश चार वनो के नाम भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक हैं। एक लाख योजन की ऊँचाई के बाद सबसे ऊपर एक चूलिका (चोटी) है, जो चालीस योजन ऊँची है। वह मूल में बारह योजन, बीच में आठ योजन और ऊपर चार योजन लम्बी-चौडी है।

जम्बूद्वीप में मुख्यतया सात क्षेत्र है जो वंश, वर्ष या वास्य कहलाते हैं। इनमें पहला भरत दक्षिण की ओर है। भरत के उत्तर में हैमवत, हैमवत के उत्तर में हरि, हरि के उत्तर में विदेह, विदेह के उत्तर में रम्यक, रम्यक के उत्तर में हैरण्यवत और हैरण्यवत के उत्तर में ऐरावतवर्ष है। व्यवहारसिद्ध दिशा के नियम[1] के अनुसार मेरुपर्वत सातो क्षेत्रों के उत्तरी भाग में अवस्थित है।

---

१ दिशा का नियम सूर्य के उदयास्त पर निर्भर है। सूर्योदय की ओर मुख करके खडे होने पर बायीं ओर उत्तर दिशा में मेरु पड़ता है। भरतक्षेत्र में सूर्यास्त की दिशा ही

सातो क्षेत्रो को एक-दूसरे से अलग करनेवाले छ पर्वत है जो वर्षधर कहलाते है। ये सभी पूर्व-पश्चिम लम्बे है। भरत और हैमवत क्षेत्र के बीच हिमवान् पर्वत है। हैमवत और हरिवर्ष का विभाजक महाहिमवान् है। हरिवर्ष और विदेह का विभाजक निषधपर्वत है। विदेह और रम्यकवर्ष का विभाजक नीलपर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत का विभाजक रुक्मीपर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावत का विभाजक शिखरीपर्वत है।

ऊपर निर्दिष्ट सातो क्षेत्र थाली की आकृति के जम्बूद्वीप में पूर्वी छोर से पश्चिमी छोर तक विस्तृत लम्बे पट के रूप में एक के बाद एक अवस्थित हैं। विदेहक्षेत्र इन सबके मध्य में है, इसलिए मेरुपर्वत भी उस क्षेत्र के ठीक मध्य में अवस्थित है। विदेहक्षेत्र को रम्यकक्षेत्र से नीलपर्वत विभक्त करता है और हरिवर्षक्षेत्र को निषधपर्वत विभक्त करता है। विदेहक्षेत्र में मेरु और नीलपर्वत के बीच का अर्धचन्द्राकार भाग उत्तरकुरु है जिसकी पूर्व-पश्चिम सीमा वहाँ के दो पर्वतो से निश्चित होती है, तथा मेरु तथा निषधपर्वत के बीच का वैसा ही अर्धचन्द्राकार भाग देवकुरु है। देवकुरु और उत्तरकुरु ये दोनो क्षेत्र विदेह अर्थात् महाविदेह के ही भाग है, परन्तु उन क्षेत्रो में युगलियो की आबादी होने के कारण वे भिन्न रूप-से पहचाने जाते है। देवकुरु और उत्तरकुरु के भाग का क्षेत्र छोडने पर महाविदेह के अवशिष्ट पूर्व और पश्चिम भाग में सोलह-सोलह विभाग है। ये विभाग विजय कहलाते है। इस प्रकार सुमेरपर्वत के पूर्व और पश्चिम दोनो ओर कुल मिलाकर ३२ विजय है।

जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र की सीमा पर स्थित हिमवान्पर्वत के दोनों छोर पूर्व-पश्चिम लवणसमुद्र में फैले हुए है। इसी प्रकार ऐरावतक्षेत्र की सीमा पर स्थित शिखरीपर्वत के दोनो छोर भी लवणसमुद्र में फैले हुए है। प्रत्येक छोर दो भागो में विभाजित होने से कुल मिलाकर दोनो पर्वतों के आठ भाग लवणसमुद्र में आते है। दाढो की आकृति के होने से उन्हें दाढा कहा जाता है। प्रत्येक दाढा पर मनुष्यो की आबादीवाले सात-सात क्षेत्र है। ये क्षेत्र लवणसमुद्र में आने के कारण अतर्द्वीप के रूप में प्रसिद्ध है, जिनकी संख्या छप्पन है। उनमें भी युगलिया मनुष्य रहते है। ९-११।

धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीप—जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकीखण्ड में मेरु, वर्ष और वर्षधर की संख्या दुगुनी है, अर्थात् वहाँ दो मेरु, चौदह वर्ष और बारह

ऐरावतक्षेत्र में सूर्योदय की दिशा है। इसलिए वहाँ भी सूर्योदय की ओर मुख करने से मेरुपर्वत उत्तर दिशा में ही पडता है। इसी प्रकार दूसरे क्षेत्रों में भी मेरु उत्तर में ही पडता है।

वर्षधर हैं, परन्तु सबके नाम जम्बूद्वीपवर्ती मेरु, वर्षधर और वर्ष के समान ही हैं। वलयाकृति धातकीखण्ड के पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध दो भाग है। यह विभाग दो पर्वतो से होता है, जो दक्षिणोत्तर विस्तृत है और इष्वाकार (बाण के समान सीधे) है। प्रत्येक विभाग में एक-एक मेरु, सात-सात वर्ष और छ-छ. वर्षधर है। साराश यह है कि नदी, क्षेत्र, पर्वत आदि जो कुछ जम्बूद्वीप में है वे सब धातकीखण्ड में दुगुने हैं। धातकीखण्ड को पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में विभक्त करनेवाले दक्षिणोत्तर विस्तृत और इष्वाकार दो पर्वत हैं तथा पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में पूर्व-पश्चिम में फैले हुए छ.-छ. वर्षधर (पर्वत) है। ये सभी एक ओर से कालोदधि को और दूसरी ओर से लवणोदधि को स्पर्श करते है। पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में स्थित छ-छ वर्षधरों को पहिये की नाभि में लगे हुए आरो की उपमा दी जाय तो उन वर्षधरो से विभक्त होनेवाले भरत आदि सात क्षेत्रो को आरो के बीच के अन्तर की उपमा दी जा सकती है।

धातकीखण्ड में मेरु, वर्ष और वर्षधरो की जो संख्या है वही पुष्करार्ध द्वीप में भी है। वहाँ भी दो मेरु, चौदह वर्ष तथा बारह वर्षधर है जो इष्वाकार पर्वतों द्वारा विभक्त पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में अवस्थित है। इस प्रकार ढाई द्वीप में पाँच मेरु, तीस वर्षधर (पर्वत) और पैंतीस वर्ष (क्षेत्र) है। उक्त पैंतीस क्षेत्रों के पाँच महाविदेह क्षेत्रो में पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु और एक सौ साठ विजय है। अन्तर्द्वीप केवल लवणसमुद्र में ही है, अत. छप्पन ही है। पुष्करवरद्वीप में मानुषोत्तर नाम का एक पर्वत है, जो पुष्करवरद्वीप के ठीक मध्य में किले की तरह गोलाकार खडा है और मनुष्यलोक को घेरे हुए है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधा पुष्करवर द्वीप ये ढाई तथा लवण, कालोदधि ये दो समुद्र—यही क्षेत्र 'मनुष्यलोक' कहलाता है। उक्त क्षेत्र का नाम मनुष्यलोक और उक्त पर्वत का नाम मानुषोत्तर इसलिए पडा है कि इससे बाहर मनुष्य का जन्म-मरण नही होता। विद्यासम्पन्न मुनि या वैक्रिय लब्धिधारी मनुष्य ही ढाई द्वीप के बाहर जा सकते है, किंतु उनका भी जन्म-मरण मानुषोत्तर पर्वत के अंदर ही होता है। १२–१३।

मनुष्यजाति का क्षेत्र और प्रकार—मानुषोत्तर पर्वत के पहले जो ढाई द्वीप और दो समुद्र हैं उनमें मनुष्य की स्थिति है अवश्य, पर वह सार्वत्रिक नही। जन्म से तो मनुष्यजाति का स्थान मात्र ढाई द्वीप के अन्तर्गत पैंतीस क्षेत्रो और छप्पन अन्तर्द्वीपो में ही है परन्तु संहरण, विद्या या लब्धि के निमित्त से मनुष्य ढाई द्वीप तथा दो समुद्रो के किसी भी भाग में रह सकता है। इतना ही नही, मेरुपर्वत की चोटी पर भी वह उक्त निमित्त से रह सकता है। फिर भी यह

भारतीय है, यह हैमवतीय है इत्यादि व्यवहार क्षेत्र के सम्बन्ध से और यह जम्बूद्वीपीय है, यह धातकीखण्डीय है इत्यादि व्यवहार द्वीप के सम्बन्ध से होता है। १४।

मनुष्यजाति के मुख्यतः आर्य और म्लेच्छ ये दो भेद हैं। निमित्तभेद की दृष्टि से छ प्रकार के आर्य हैं जैसे क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, शिल्प और भाषा। १. क्षेत्र-आर्य वे है, जो पन्द्रह कर्मभूमियों में और उनमें भी आर्यदेशों में उत्पन्न होते है।[1] २ जाति-आर्य वे हैं जो इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, ज्ञात, कुरु, उग्र आदि वंशों में उत्पन्न होते हैं। ३. कुल-आर्य वे हैं जो कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि के रूप में विशुद्ध कुल में उत्पन्न होते हैं। ४. कर्म-आर्य वे हैं जो यजन, याजन, पठन, पाठन, कृषि, लिपि, वाणिज्य आदि द्वारा आजीविका चलाते हैं। ५. शिल्प-आर्य जुलाहा, नाई, कुम्हार आदि हैं जो अल्प आरम्भवाली और अनिन्द्य आजीविकावाले है। ६. भाषा आर्य वे हैं जो शिष्टपुरुषमान्य[2] भाषाओं में सुगम रीति से वचन आदि का व्यवहार करते हैं। इनसे विपरीत लक्षणोंवाले सभी मनुष्य म्लेच्छ[3] हैं, जैसे शक, यवन, कम्बोज, शबर, पुलिन्द आदि। छप्पन अन्तर्द्वीपों में रहनेवाले सभी मनुष्य तथा कर्मभूमियों में भी अनार्य देशोत्पन्न म्लेच्छ ही हैं। १५।

कर्मभूमियाँ—कर्मभूमि वही है जहाँ मोक्षमार्ग के ज्ञाता और उपदेष्टा तीर्थङ्कर उत्पन्न होते हैं। ढाई द्वीप में मनुष्य की उत्पत्ति के पैंतीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर्द्वीप हैं। उनमें ऐसी कर्मभूमियाँ पन्द्रह ही हैं और वे हैं पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह। इनके अतिरिक्त शेष बीस क्षेत्र तथा सब अन्तर्द्वीप अकर्मभूमि (भोगभूमि) ही हैं। यद्यपि देवकुरु और उत्तरकुरु ये दो क्षेत्र विदेह के अन्तर्गत ही है तथापि वे कर्मभूमियाँ नहीं हैं, क्योंकि उनमें युगलिक-धर्म होने से चारित्र धारण करना सम्भव नहीं है, जैसे हैमवत आदि अकर्मभूमियों में। १६।

मनुष्य और तिर्यञ्चों की स्थिति—मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति (आयुमर्यादा)

---

१. प्रत्येक क्षेत्र में साढे पच्चीस आर्यदेश के हिसाब से पाँच भरत और पाँच ऐरावत में दो सौ पचपन आर्यदेश है और पाँच विदेह के एक सौ साठ चक्रवर्ति-विजय आर्यदेश है। इन्हीं में तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और धर्मप्रवर्तन करते हैं। इनको छोड़कर पन्द्रह कर्मभूमियों का शेष क्षेत्र आर्यदेश नहीं माना जाता।

२ तीर्थंकर, गणधर आदि जो अतिशयसम्पन्न है वे शिष्ट है, उनकी भाषा संस्कृत व अर्धमागधी आदि होती है।

३ इस व्याख्या के अनुसार हैमवत आदि तीस भोगभूमियों (अकर्मभूमियों) के निवासी म्लेच्छ ही हैं।

तीन पल्योपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तिर्यञ्चों की स्थिति भी मनुष्य के बराबर उत्कृष्ट तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

भव और कायभेद से स्थिति दो प्रकार की है। कोई भी जन्म पाकर उसमें जघन्य अथवा उत्कृष्ट जितने काल तक जी सकता है वह भवस्थिति है और बीच में किसी दूसरी जाति में जन्म न ग्रहण करके किसी एक ही जाति में बार-बार उत्पन्न होना कायस्थिति है। ऊपर मनुष्यों और तिर्यञ्चो की जघन्य तथा उत्कृष्ट भवस्थिति का निर्देश किया गया है। मनुष्य हो या तिर्यञ्च, सबकी जघन्य कायस्थिति तो भवस्थिति की भाँति अन्तर्मुहूर्त ही है। मनुष्य की उत्कृष्ट काय-स्थिति सात अथवा आठ भवग्रहण की है, अर्थात् किसी भी मनुष्य को लगातार सात अथवा आठ जन्म तक रहने के बाद अवश्य मनुष्यजाति छोड देनी पडती है।

सब तिर्यञ्चो की कायस्थिति भवस्थिति की तरह समान नही है। अत तिर्यञ्चो की दोनो स्थितियों का विस्तृत वर्णन यहाँ आवश्यक है। पृथ्वीकाय की भवस्थिति बाईस हजार वर्ष, जलकाय की भवस्थिति सात हजार वर्ष, वायुकाय की भवस्थिति तीन हजार वर्ष और तेज.काय की भवस्थिति तीन अहोरात्र है। इन चारों की कायस्थिति असख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण है। वनस्पतिकाय की भवस्थिति दस हजार वर्ष और कायस्थिति अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण है। द्वीन्द्रिय की भवस्थिति बारह वर्ष, त्रीन्द्रिय की उनचास अहोरात्र और चतु-रिन्द्रिय की छ. मास है। इन तीनों की कायस्थिति संख्यात हजार वर्ष है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चो में गर्भज और सम्मूर्छिम की भवस्थिति भिन्न-भिन्न है। गर्भजो में जलचर, उरग और भुजग की भवस्थिति करोडपूर्व, पक्षियों की भवस्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और चतुष्पद स्थलचर की भवस्थिति तीन पल्योपम है। संमूर्छिम जीवों में जलचर की भवस्थिति करोडपूर्व, उरग की भव-स्थिति त्रेपन हजार वर्ष, भुजग की भवस्थिति बयालीस हजार वर्ष, पक्षियो की भवस्थिति बहत्तर हजार वर्ष और स्थलचरो की भवस्थिति चौरासी हजार वर्ष है। गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चो की कायस्थिति सात या आठ जन्मग्रहण और संमूर्छिम जीवो की कायस्थिति सात जन्मग्रहण प्रमाण है। १७-१८।

: ४ :

देवलोक

तृतीय अध्याय में मुख्यरूप से नारकों, मनुष्यों और तिर्यञ्चों की स्थिति, क्षेत्र आदि का वर्णन किया गया है। इस चतुर्थ अध्याय में देवों के निकायों, उनकी स्थिति, उनकी विशेषताओं आदि का वर्णन किया जा रहा है।

देवों के प्रकार

देवाश्चतुर्निकायाः । १ ।

देव चार निकायवाले हैं।

समूह विशेष या जाति को निकाय कहते हैं। देवों के चार निकाय या प्रकार हैं—१. भवनपति, २. व्यन्तर, ३ ज्योतिष्क और ४. वैमानिक । १ ।

तृतीय निकाय की लेश्या

तृतीयः पीतलेश्यः[1] । २ ।

तीसरा निकाय पीतलेश्यावाला है।

उक्त चार निकायों में ज्योतिष्क तीसरे निकाय के देव हैं। उनमें केवल पीत (तेज.) लेश्या होती है। यहाँ लेश्या[2] का अर्थ द्रव्यलेश्या अर्थात् शारीरिक वर्ण है, अध्यवसाय-विशेष के रूप में भावलेश्या नहीं, क्योंकि छहों भावलेश्याएँ तो चारों निकायों के देवों में होती हैं। २ ।

---

१. दिगम्बर परम्परा में भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायों में कृष्ण से तेज. पर्यन्त चार लेश्याएँ मानी गयी हैं, पर श्वेताम्बर परम्परा में भवनपति व व्यन्तर दो निकायों में ही उक्त चार लेश्याएँ मानी गयी हैं और ज्योतिष्क निकाय में केवल तेजोलेश्या। इसी मतभेद के कारण श्वेताम्बर परम्परा में यह दूसरा और आगे सातवाँ दोनों सूत्र भिन्न हैं। दिगम्बर परम्परा में इन दोनों सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र 'आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्या.' प्रचलित है।

२. लेश्या के विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—हिन्दी 'चौथा कर्मग्रन्थ' में 'लेश्या' शब्द-विषयक परिशिष्ट, पृ० ३३।

चार निकायो के भेद

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः । ३ ।

कल्पोपपन्न देवो तक चतुर्निकायिक देवों के क्रमशः दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं।

भवनपतिनिकाय के दस, व्यन्तरनिकाय के आठ, ज्योतिष्कनिकाय के पाँच और वैमानिकनिकाय के बारह भेद है, जिनका वर्णन आगे आयेगा। वैमानिकनिकाय के बारह भेद कल्पोपपन्न वैमानिक देव तक के है, क्योकि कल्पातीत देव वैमानिक-निकाय के तो है, पर उनकी गणना उक्त बारह भेदो में नही है। सौधर्म से अच्युत तक बारह स्वर्ग (देवलोक) है, जिन्हें कल्प कहा जाता है।'३।

चतुर्निकाय के अवान्तर भेद

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः । ४ ।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः । ५ ।

चतुर्निकाय के उक्त दस आदि एक-एक इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिकरूप हैं।

व्यन्तर और ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल-रहित हैं।

भवनपतिनिकाय के असुरकुमार आदि दस प्रकार के देव हैं। ये सब देव इन्द्र, सामानिक आदि दस भागो में विभक्त हैं। १. इन्द्र—सामानिक आदि सब प्रकार के देवो के स्वामी। २. सामानिक—आयु आदि में इन्द्र के समान अर्थात् अमात्य, पिता, गुरु आदि की तरह पूज्य, पर इनमें मात्र इन्द्रत्व नहीं होता। ३. त्रायस्त्रिंश—मंत्री या पुरोहित का काम करनेवाले। ४. पारिषद्य—मित्र का काम करनेवाले। ५. आत्मरक्षक—शस्त्र धारण करके आत्मरक्षक के रूप में पीठ की ओर खड़े रहनेवाले। ६. लोकपाल—सीमा के रक्षक। ७. अनीक—सैनिक और सेनाधिपति। ८. प्रकीर्णक—नगरवासी और देशवासी के समान। ९ आभियोग्य—सेवक या दास के तुल्य। १०. किल्विषिक—अन्त्यजो के समान। बारह देवलोको में अनेक प्रकार के वैमानिक देव भी इन्द्र, सामानिक आदि दस भागो में विभक्त है।

व्यन्तरनिकाय के आठ और ज्योतिष्कनिकाय के पाँच प्रकार के देव इन्द्र आदि आठ विभागों में ही विभक्त है, क्योकि इन दोनो निकायो में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जाति के देव नही होते। ४-५।

इन्द्रों की संख्या

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः । ६ ।

प्रथम दो निकायो मे दो-दो इन्द्र हैं।

भवनपतिनिकाय के असुरकुमार आदि दस प्रकार के देवों में तथा व्यन्तर-निकाय के किन्नर आदि आठ प्रकार के देवों में दो-दो इन्द्र है। जैसे चमर और बलि असुरकुमारों के, धरण और भूतानन्द नागकुमारो के, हरि और हरिसह विद्युत्कुमारो के, वेणुदेव और वेणुदारी सुपर्णकुमारों के, अग्निशिख और अग्नि-माणव अग्निकुमारो के, वेलम्ब और प्रभञ्जन वातकुमारों के, सुघोष और महाघोष स्तनितकुमारो के जलकान्त और जलप्रभ उदधिकुमारो के, पूर्ण और वासिष्ठ द्वीप-कुमारों के, तथा अमितगति और अमितवाहन दिक्कुमारो के इन्द्र है। इसी तरह व्यन्तरनिकाय में भी हैं जैसे किन्नरो के किन्नर और किंपुरुष, किंपुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष, महोरग के अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश, यक्षो के पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसों के भीम और महाभीम, भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप तथा पिशाचो के काल और महाकाल ये दो-दो इन्द्र हैं।

भवनपति और व्यन्तर इन दोनों निकायों में दो-दो इन्द्र बतलाकर शेष दो निकायो में दो-दो इन्द्रों का अभाव दर्शाया गया है। ज्योतिष्कनिकाय में तो चन्द्र और सूर्य ही इन्द्र हैं। चन्द्र और सूर्य असंख्यात है, इसलिए ज्योतिष्कनिकाय में इन्द्र भी इतने ही है। वैमानिकनिकाय में प्रत्येक कल्प में एक-एक इन्द्र हैं। सौधर्म कल्प में शक्र, ऐशान में ईशान, सानत्कुमार में सनत्कुमार नामक इन्द्र है। इसी प्रकार ऊपर के देवलोको में उन देवलोको के नामवाला एक-एक इन्द्र है। विशेषता इतनी ही है कि आनत और प्राणत इन दो कल्पो का प्राणत नामक एक ही इन्द्र है। आरण और अच्युत इन दो कल्पो का भी अच्युत नामक एक ही इन्द्र है। ६।

प्रथम दो निकायों में लेश्या

पीतान्तलेश्याः । ७ ।

प्रथम दो निकायो के देव पीत (तेजः) पर्यन्त लेश्यावाले हैं।

भवनपति और व्यन्तर जाति के देवो में शारीरिक वर्णरूप द्रव्यलेश्या चार ही मानी जाती हैं, जैसे कृष्ण, नील, कापोत और पीत (तेज.)। ७।

देवों का कामसुख

कायप्रवीचारा आ-ऐशानात् । ८ ।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः । ९ ।

परेऽप्रवीचाराः । १० ।

ऐशान कल्प तक के देव कायप्रवीचार होते हैं अर्थात् शरीर से विषयसुख भोगते हैं ।

शेष देव दो-दो कल्पों में क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और संकल्प द्वारा विषयसुख भोगते हैं ।

अन्य सब देव प्रवीचार से रहित अर्थात् वैषयिक सुखभोग से मुक्त होते हैं ।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा पहले व दूसरे कल्प के वैमानिक ये सब देव मनुष्य की भाँति शरीर से कामसुख का अनुभव करके प्रसन्न होते हैं।

तीसरे कल्प तथा ऊपर के सभी कल्पो के वैमानिक देव मनुष्य के समान सर्वाङ्गीण शरीरस्पर्श द्वारा कामसुख नही भोगते, अपितु अन्यान्य प्रकार से वैषयिक सुख भोगते है। तीसरे और चौथे कल्प के देवो की तो देवियो के स्पर्श-मात्र से कामतृप्ति हो जाती है। पाँचवें और छठे स्वर्ग के देव देवियो के सुसज्जित (शृंगारित) रूप को देखकर ही विषयसुख प्राप्त कर लेते हैं। सातवें और आठवें स्वर्ग के देवो की कामवासना देवियो के विविध शब्दो को सुनने से पूरी हो जाती है। नवें और दसवें तथा ग्यारहवें और बारहवें इन दो जोडों अर्थात् चार स्वर्गो के देवो की वैषयिक तृप्ति देवियो का चिन्तन करने मात्र से हो जाती है। इस तृप्ति के लिए उन्हें न तो देवियो के स्पर्श की, न उनका रूप देखने की और न गीत आदि सुनने की आवश्यकता रहती है। साराश यह है कि दूसरे स्वर्ग तक ही देवियाँ है, ऊपर के कल्पो में नही हैं। वे जब तृतीय आदि ऊपर के स्वर्गों के देवों को विषयसुख के लिए उत्सुक अर्थात् अपनी ओर आदरशील जानती हैं तभी वे उनके निकट पहुँचती है। देवियो के हस्त आदि के स्पर्श मात्र से तीसरे-चौथे स्वर्ग के देवो की कामतृप्ति हो जाती है। उनके शृंगारसज्जित मनोहर रूप को देखने मात्र से पाँचवें और छठे स्वर्ग के देवो की कामलालसा पूर्ण हो जाती है। इसी प्रकार उनके सुन्दर सगीतमय शब्दो के श्रवण मात्र से सातवें और आठवें स्वर्ग के देव वैषयिक आनन्द का अनुभव प्राप्त कर लेते है। देवियो की पहुँच आठवें स्वर्ग तक ही है, ऊपर नही। नवें से बारहवें स्वर्ग तक के देवो की काम-सुखतृप्ति केवल देवियो का चिन्तन करने से ही हो जाती है। बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देव शान्त और

कामलालसा से परे होते हैं। उन्हें देवियों के स्पर्श, रूप, शब्द या चिन्तन द्वारा कामसुख भोगने की अपेक्षा नही रहती, फिर भी वे नीचे के देवो से अधिक सन्तुष्ट और अधिक सुखी होते हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि ज्यों-ज्यों कामवासना प्रबल होती है त्यों-त्यो चित्तसंक्लेश अधिक बढता है तथा ज्यों-ज्यों चित्तसंक्लेश बढता है त्यों-त्यो उसके निवारण के लिए विषयभोग भी अधिकाधिक आवश्यक होता है। दूसरे स्वर्ग तक के देवो की अपेक्षा तीसरे और चौथे स्वर्ग के देवो की, उनकी अपेक्षा पाँचवें-छठे स्वर्ग के देवो की और इस तरह ऊपर-ऊपर के स्वर्गों के देवो की कामवासना मन्द होती जाती है। इसलिए उनका चित्तसंक्लेश भी कम होता जाता है। उनके कामभोग के साधन भी अल्प होते हैं। बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देवो की कामवासना शान्त होती है, अत उन्हें स्पर्श, रूप, शब्द, चिन्तन आदि किसी भी प्रकार के भोग की कामना नही होती। वे संतोषजन्य परमसुख में निमग्न रहते हैं। यही कारण है कि नीचे-नीचे की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देवो का सुख अधिकाधिक माना गया है। ८-१०।

चतुर्निकाय के देवों के भेद

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः। ११।

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगान्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः। १२।

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च। १३।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके। १४।

तत्कृतः कालविभागः। १५।

बहिरवस्थिताः। १६।

वैमानिकाः। १७।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च। १८।

उपर्युपरि। १९।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च[1]। २०।

---

१. श्वेताम्बर परम्परा में बारह कल्प माने गए हैं। दिगम्बर परम्परा में सोलह कल्पों की मान्यता है, अत. उनमें ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र और शतार ये चार कल्प अधिक हैं, जो क्रमश. छठे, आठवें, नवें और ग्यारहवें हैं।

असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार—ये (दस) भवनवासीनिकाय हैं।

किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच—ये (आठ) व्यन्तरनिकाय है।

सूर्य, चन्द्र तथा ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारा—ये (पाँच) ज्योतिष्क-निकाय हैं।

वे मनुष्यलोक में मेरु के चारो ओर प्रदक्षिणा करते हैं तथा नित्य गतिशील है।

काल का विभाग उनके (चरज्योतिष्कों) द्वारा किया हुआ है।

ज्योतिष्क मनुष्यलोक के बाहर स्थिर होते हैं।

चतुर्थ निकायवाले वैमानिक देव हैं।

वे कल्पोपपन्न और कल्पातीत हैं।

ऊपर-ऊपर रहते हैं।

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत (इन १२ कल्पों) तथा नौ ग्रैवेयक और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध में उनका निवास है।

भवनपति—दसो प्रकार के भवनपति देव जम्बूद्वीपवर्ती सुमेरुपर्वत के नीचे, उसके दक्षिण और उत्तर भाग में तिरछे अनेक कोटाकोटि लक्ष योजन तक रहते हैं। असुरकुमार प्राय आवासो में और कभी भवनो में वसते हैं तथा नागकुमार आदि सब प्राय. भवनो में ही वसते हैं। आवास रत्नप्रभा के पृथ्वीपिंड में ऊपर-नीचे के एक-एक हजार योजन को छोडकर बीच के एक लाख अठहत्तर हजार योजन के भाग में सब जगह हैं, पर भवन तो रत्नप्रभा के नीचे नब्बे हजार योजन के भाग में ही होते हैं। आवास बडे मण्डप जैसे होते है और भवन नगर के समान। भवन बाहर से गोल, भीतर से समचतुष्कोण और तल में पुष्करकर्णिका जैसे होते है।

सभी भवनपति इसलिए कुमार कहे जाते है कि वे कुमार की तरह मनोहर तथा सुकुमार दीखते हैं। उनकी गति मृदु व मधुर होती है तथा वे क्रीडाशील होते हैं। दस प्रकार के भवनपति देवों की चिह्नादि स्वरूपसम्पत्ति जन्मना अपनी-अपनी जाति में भिन्न भिन्न है। जैसे असुरकुमारों के मुकुट में चूडामणि का, नागकुमारों के

नाग का, विद्युत्कुमारों के वज्र का, सुपर्णकुमारो के गरुड का, अग्निकुमारो के घट का, वातकुमारो के अश्व[1] का, स्तनितकुमारो के वर्धमान सकोरासंपुट (सकोरायुगल) का, उदधिकुमारो के मकर का, द्वीपकुमारों के सिंह का और दिक्कुमारो के हस्ति का चिह्न होता है। नागकुमार आदि सभी के चिह्न उनके आभरण में होते हैं। सभी के वस्त्र, शस्त्र, भूषण आदि विविध होते हैं। ११।

व्यन्तरों के भेद-प्रभेद—सभी व्यन्तरदेव ऊर्ध्व, मध्य और अध: तीनो लोको में भवनो तथा आवासों में बसते हैं। वे स्वेच्छा से या दूसरो की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न स्थानो पर जाते रहते है। उनमें से कुछ तो मनुष्यो की भी सेवा करते है। विविध पहाड़ो और गुफाओ के अन्तरों में तथा वनों के अन्तरों में बसने के कारण उन्हें व्यन्तर कहा जाता है। इनमें से किन्नर नामक व्यन्तरदेव दस प्रकार के हैं—किन्नर, किंपुरुष, किंपुरुषोत्तम, किन्नरोत्तम, हृदयंगम, रूपशाली, अनिन्दित, मनोरम, रतिप्रिय और रतिश्रेष्ठ। किंपुरुष नामक व्यन्तरदेव दस प्रकार के है—पुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषवृषभ, पुरुषोत्तम, अतिपुरुष, मरुदेव, मरुत, मेरुप्रभ और यशस्वान्। महोरग दस प्रकार के हैं—भुजग, भोगशाली, महाकाय, अतिकाय, स्कन्धशाली, मनोरम, महावेग, महेष्वक्ष, मेरुकान्त और भास्वान्। गान्धर्व बारह प्रकार के हैं—हाहा, हूहू, तुम्बुरव, नारद, ऋषिवादिक, भूतवादिक, कादम्ब, महाकादम्ब, रैवत, विश्वावसु, गीतरति और गीतयश। यक्ष तेरह प्रकार के है—पूर्णभद्र, मणिभद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्ययक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष और यक्षोत्तम। राक्षस सात प्रकार के हैं—भीम, महाभीम, विघ्न, विनायक, जलराक्षस, राक्षस और ब्रह्मराक्षस — भूत नौ प्रकार के है—सुरूप, प्रतिरूप, अतिरूप, भूतोत्तम, स्कन्दिक, महास्कन्दिक, महावेग, प्रतिच्छन्न और आकाशग। पिशाच पन्द्रह प्रकार के है—कूष्माण्ड, पटक, जोष, आह्नक, काल, महाकाल, चौक्ष, अचौक्ष, तालपिशाच, मुखरपिशाच, अधस्तारक, देह, महाविदेह, तूष्णीक और वनपिशाच।

आठो प्रकार के व्यन्तरो के चिह्न क्रमश: अशोक, चम्पक, नाग, तुम्बरु, वट, खट्वाङ्ग,[2] सुलस और कदम्बक हैं। खट्वाङ्ग के अतिरिक्त शेष सब चिह्न वृक्ष जाति के हैं जो उनके आभूषण आदि में होते है। १२।

पञ्चविध ज्योतिष्क—मेरु के समतल भूभाग से सात सौ नब्बे योजन की

१. संग्रहणी ग्रन्थ में उदधिकुमारों के अश्व का और वातकुमारों के मकर का चिन्ह उल्लिखित है। देखें—गा० २६।

२. तापस का उपकरण विशेष।

Vishva Bharati Instit

ऊँचाई पर ज्योतिश्चक्र का क्षेत्र आरम्भ होता है जो वहाँ से ऊँचाई में एक सौ दस योजन का है और तिरछे असंख्यात द्वीपसमुद्र तक है। दस योजन की ऊँचाई पर अर्थात् उक्त समतल से आठ सौ योजन की ऊँचाई पर सूर्य के विमान हैं। वहाँ से अस्सी योजन ऊँचे अर्थात् समतल से आठ सौ अस्सी योजन ऊपर चन्द्र के विमान हैं। वहाँ से बीस योजन की ऊँचाई तक अर्थात् समतल से नौ सौ योजन की ऊँचाई तक ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारागण हैं। प्रकीर्ण तारो से आशय यह है कि कुछ तारे ऐसे भी है जो अनियतचारी होने से कभी सूर्य-चन्द्र के नीचे चलते है और कभी ऊपर। चन्द्र के ऊपर बीस योजन की ऊँचाई में पहले चार योजन की ऊँचाई पर नक्षत्र है, फिर चार योजन की ऊँचाई पर बुधग्रह, बुध से तीन योजन की ऊँचाई पर शुक्र, शुक्र से तीन योजन की ऊँचाई पर गुरु, गुरु से तीन योजन ऊपर मङ्गल और मङ्गल से तीन योजन ऊपर शनैश्चर है। अनियतचारी तारा सूर्य के नीचे चलते समय ज्योतिष-क्षेत्र में सूर्य के नीचे दस योजन तक रहता है। ज्योतिष (प्रकाशमान) विमान में रहने से सूर्य आदि ज्योतिष्क कहलाते है। इन सबके मुकुटो में प्रभामण्डल जैसा उज्ज्वल, सूर्यादिमण्डल जैसा चिह्न होता है। सूर्य के सूर्यमण्डल जैसा, चन्द्र के चन्द्रमण्डल जैसा और तारा के तारामण्डल जैसा चिह्न होता है। १२।

चरज्योतिष्क—मानुषोत्तर पर्वत तक मनुष्यलोक होने की बात पहले कही जा चुकी है।[1] मनुष्यलोक के ज्योतिष्क सदा मेरु के चारो ओर भ्रमण करते रहते है। मनुष्यलोक में एक सौ बत्तीस सूर्य और चन्द्र है—जम्बूद्वीप में दो-दो, लवणसमुद्र में चार-चार, धातकीखण्ड में बारह-बारह, कालोदधि में बयालीस-बयालीस और पुष्करार्ध में बहत्तर-बहत्तर है। एक चन्द्र का परिवार २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोटाकोटि तारो का है। यद्यपि लोकमर्यादा के स्वभावानुसार ज्योतिष्कविमान सदा अपने-आप घूमते रहते है तथापि समृद्धि-विशेष प्रकट करने के लिए और आभियोग्य (सेवक) नामकर्म के उदय से क्रीडाशील कुछ देव उन विमानो को उठाते है। सामने के भाग में सिंहाकृति, दाहिने गजाकृति, पीछे वृषभाकृति और बायें अश्वाकृतिवाले ये देव विमान को उठाकर चलते रहते है। १४।

कालविभाग—मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास आदि, अतीत, वर्तमान आदि एवं संख्येय-असंख्येय आदि के रूप में अनेक प्रकार का कालव्यवहार मनुष्यलोक में होता है, उसके बाहर नही होता। मनुष्यलोक के बाहर यदि कोई कालव्यवहार करनेवाला हो और व्यवहार करे तो मनुष्यलोक-प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार ही

१. देखें—अ० ३, सू० १४।

होगा, क्योंकि व्यावहारिक कालविभाग का मुख्य आधार नियत क्रिया मात्र है। ऐसी क्रिया सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति ही है। यह गति भी ज्योतिष्को की सर्वत्र नही, केवल मनुष्यलोक में वर्तमान ज्योतिष्को में ही मिलती है। इसीलिए माना गया है कि काल का विभाग ज्योतिष्को की विशिष्ट गति पर ही निर्भर है। दिन, रात, पक्ष आदि स्थूल कालविभाग सूर्य आदि ज्योतिष्कों की नियत गति पर अवलम्बित होने के कारण उससे ज्ञात हो सकते है, समय, आवलिका आदि सूक्ष्म कालविभाग उससे ज्ञात नही हो सकते। स्थान-विशेष में सूर्य के प्रथम दर्शन से लेकर स्थान-विशेष में सूर्य का जो अदर्शन होता है उस उदय और अस्त के बीच सूर्य की गतिक्रिया से ही दिन का व्यवहार होता है। इसी प्रकार सूर्य के अस्त से उदय तक की गतिक्रिया से रात्रि का व्यवहार होता है। दिन और रात्रि का तीसवां भाग मुहूर्त कहलाता है। पन्द्रह दिनरात का पक्ष होता है। दो पक्ष का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतु का अयन, दो अयन का वर्ष, पांच वर्ष का युग इत्यादि अनेक प्रकार का लौकिक कालविभाग सूर्य की गतिक्रिया से किया जाता है। जो क्रिया चालू है वह वर्तमानकाल, जो होनेवाली है वह अनागतकाल और जो हो चुकी है वह अतीतकाल है। जो काल गणना में आ सकता है वह सख्येय है, जो गणना में न आकर केवल उपमान से जाना जाता है वह असंख्येय है, जैसे पल्योपम, सागरोपम आदि और जिसका अन्त नहीं है वह अनन्त[1] है। १५।

स्थिरज्योतिष्क—मनुष्यलोक से बाहर के सूर्य आदि ज्योतिष्क विमान स्थिर हैं, क्योकि उनके विमान स्वभावत. एक स्थान पर स्थिर रहते हैं, यत्र-तत्र भ्रमण नही करते। अत उनकी लेश्या और प्रकाश भी एक रूप में स्थिर है, वहाँ राहु आदि की छाया न पड़ने से ज्योतिष्को का स्वाभाविक पीतवर्ण ज्यो का त्यों बना रहता है और उदय-अस्त न होने से उनका लक्ष योजन का प्रकाश भी एक-सा स्थिर रहता है। १६।

वैमानिक देव—चतुर्थ निकाय के देव वैमानिक हैं। उनका वैमानिक नाम पारिभाषिक मात्र है, क्योंकि विमान से तो अन्य निकायो के देव भी चलते हैं। १७।

वैमानिक देवों के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्प में रहनेवाले कल्पोपपन्न और कल्प के ऊपर रहनेवाले कल्पातीत। ये समस्त वैमानिक न तो एक ही स्थान में है और न तिरछे हैं किन्तु एक-दूसरे के ऊपर-ऊपर स्थित हैं। १८-१९।

---

१. यह अनन्त का शब्दार्थ है। उसका पूरा भाव जानने के लिए देखें—हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ।

सौधर्म, ऐशान आदि बारह कल्प (स्वर्ग) हैं। प्रथम सौधर्म कल्प ज्योतिश्चक्र के असख्यात योजन ऊपर मेरुपर्वत के दक्षिण भाग से उपलक्षित आकाशप्रदेश में स्थित है। उसके बहुत ऊपर किन्तु उत्तर की ओर ऐशान कल्प है। सौधर्म कल्प के बहुत ऊपर समश्रेणि में सानत्कुमार कल्प है और ऐशान के ऊपर समश्रेणि में माहेन्द्र कल्प है। इन दोनो के मध्य में किन्तु ऊपर ब्रह्मलोक कल्प है। इसके ऊपर समश्रेणि में क्रमश. लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार ये तीन कल्प एक-दूसरे के ऊपर हैं। इनके ऊपर सौधर्म और ऐशान की तरह आनत और प्राणत ये दो कल्प हैं। इनके ऊपर समश्रेणि में सानत्कुमार और माहेन्द्र की तरह आरण और अच्युत कल्प है। कल्पो से ऊपर-ऊपर अनुक्रम से नौ विमान हैं जो पुरुषाकृति लोक के ग्रीवास्थानीय भाग में होने से 'ग्रैवेयक' कहलाते हैं। इनसे ऊपर-ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। सबसे उत्तर (प्रधान) होने के कारण ये 'अनुत्तर' कहलाते हैं।

सौधर्म कल्प से अच्युत कल्प तक के देव कल्पोपपन्न हैं और इनसे ऊपर के सभी देव कल्पातीत हैं। कल्पोपपन्न देवो में स्वामि-सेवकभाव होता है, कल्पातीत में नही। सभी कल्पातीत देव इन्द्रवत् होते हैं, अत वे अहमिन्द्र कहलाते हैं। मनुष्यलोक में किसी निमित्त से आवागमन का कार्य कल्पोपपन्न देव ही करते हैं, कल्पातीत देव अपना स्थान छोडकर कही नही जाते। २०।

देवो की उत्तरोत्तर अधिकता और हीनता विषयक बातें

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः । २१ ।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः । २२ ।

स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधि-विषय की ऊपर-ऊपर के देवों में अधिकता होती है।

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की ऊपर-ऊपर के देवो में हीनता होती है।

नीचे-नीचे के देवो से ऊपर-ऊपर के देव सात बातो में अधिक (बढे हुए) होते हैं। ये सात बातें निम्नलिखित हैं .

१. स्थिति—इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे सूत्र ३० से ५३ तक किया गया है।

२. प्रभाव—निग्रह-अनुग्रह करने का सामर्थ्य, अणिमा-महिमा आदि सिद्धियों का सामर्थ्य और आक्रमण करके दूसरों से काम करवाने का बल यह सब प्रभाव के

अन्तर्गत है। यह प्रभाव ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक है, फिर भी उनमें उत्तरोत्तर अभिमान व सक्लेश परिणाम कम होने से वे अपने प्रभाव का उपयोग कम ही करते हैं।

३.४ सुख और द्युति—इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य विषयो का अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र और आभरण आदि की दीप्ति द्युति है। यह सुख और द्युति ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होने से उनमें उत्तरोत्तर क्षेत्रस्वभावजन्य शुभ पुद्गल-परिणाम की प्रकृष्टता होती है।

५ लेश्या-विशुद्धि—लेश्या के नियम की स्पष्टता सूत्र २३ में की जायेगी। यहाँ इतना ज्ञातव्य है कि जिन देवो की लेश्या समान है उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवो की लेश्या संक्लेश परिणाम की न्यूनता के कारण उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर होती है।

६ इन्द्रियविषय—दूर से इष्टविषयो को ग्रहण करने का इन्द्रियो का सामर्थ्य भी उत्तरोत्तर गुण की वृद्धि और सक्लेश की न्यूनता के कारण ऊपर-ऊपर के देवो में उत्तरोत्तर अधिक होता है।

७. अवधिविषय—अवधिज्ञान का सामर्थ्य भी ऊपर-ऊपर के देवो में अधिक होता है। पहले-दूसरे स्वर्ग के देव अधोभूमि में रत्नप्रभा तक तिरछे क्षेत्र में असख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वलोक में अपने-अपने भवन तक के क्षेत्र को अवधिज्ञान से जानते है। तीसरे-चौथे स्वर्ग के देव अधोभूमि में शर्कराप्रभा तक, तिरछे क्षेत्र में असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वलोक में अपने-अपने भवन तक अवधिज्ञान से देख सकते हैं। इसी प्रकार क्रमश बढते-बढते अनुत्तर-विमानवासी देव सम्पूर्ण लोकनाली को अवधिज्ञान से देख सकते है। जिन देवो का अवधिज्ञान-क्षेत्र समान होता है उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में विशुद्ध, विशुद्धतर ज्ञान का सामर्थ्य होता है। २१।

चार बातें ऐसी है जो नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर कम होती हैं। वे ये हैं:

१ गति—गमनक्रिया की शक्ति और गमनक्रिया में प्रवृत्ति ये दोनो बातें ऊपर-ऊपर के देवों में कम होती हैं, क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर महानुभावत्व और उदासीनत्व अधिक होने से देशान्तर विषयक क्रीडा करने की रति (रुचि) कम होती जाती है। सानत्कुमार आदि कल्पों के देव जिनकी जघन्य आयुस्थिति दो सागरोपम होती है, अधोभूमि में सातवें नरक तक और तिरछे क्षेत्र में असख्यात हजार कोटाकोटि योजन पर्यन्त जाने का सामर्थ्य रखते हैं। इनके ऊपर के

जघन्य स्थितिवाले देवो का गतिसामर्थ्य इतना घट जाता है कि वे अधिक-से-अधिक तीसरे नरक तक ही जा पाते है। शक्ति चाहे अधिक हो, पर कोई देव तीसरे नरक से नीचे न गया है और न जायेगा।

२ शरीर—शरीर का परिमाण पहले-दूसरे स्वर्ग में सात हाथ का, तीसरे-चौथे स्वर्ग में छ. हाथ का, पाँचवें-छठे स्वर्ग में पाँच हाथ का, सातवें-आठवें स्वर्ग मे चार हाथ का, नवें से बारहवें स्वर्ग तक में तीन-तीन हाथ का, नौ ग्रैवेयको में दो हाथ का और अनुत्तरविमानो में एक हाथ का होता है।

३ परिग्रह—स्वर्गों में विमानो का परिग्रह ऊपर-ऊपर कम होता जाता है। वह इस प्रकार है—पहले स्वर्ग में बत्तीस लाख, दूसरे में अट्ठाईस लाख, तीसरे में बारह लाख, चौथे में आठ लाख, पाँचवें में चार लाख, छठे में पचास हजार, सातवें में चालीस हजार, आठवें में छ. हजार, नवें से बारहवें तक में सात सौ, अधोवर्ती तीन ग्रैवेयको में एक सौ ग्यारह, मध्यवर्ती तीन ग्रैवेयको में एक सौ सात, ऊपर के तीन ग्रैवेयको में सौ और अनुत्तर म केवल पाँच विमान है।

४ अभिमान—अभिमान अर्थात् अहंकार। स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, विभूति, स्थिति आदि के कारण अभिमान उत्पन्न होता है। यह अभिमान कषायो की मन्दता के कारण ऊपर-ऊपर के देवो में उत्तरोत्तर कम होता जाता है।

इनके अतिरिक्त और भी पाँच बातें देवो के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है जो सूत्र मे नही कही गई हैं—१. उच्छ्वास, २. आहार, ३ वेदना, ४ उपपात और ५ अनुभाव वे इस प्रकार है .

१. उच्छ्वास—जैसे-जैसे देवो की आयुस्थिति बढती जाती है वैसे-वैसे उच्छ्वास का समय भी बढता जाता है, जैसे दस हजार वर्ष की आयुवाले देवों का एक-एक उच्छ्वास सात-सात स्तोक में होता है। एक पल्योपम की आयुवाले देवो का उच्छ्वास एक दिन में एक ही होता है। सागरोपम की आयुवाले देवो के विषय में यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की हो उनका एक-एक उच्छ्वास उतने पक्ष में होता है।

२ आहार—आहार के विषय में यह नियम है कि दस हजार वर्ष की आयुवाले देव एक-एक दिन बीच में छोड़कर आहार ग्रहण करते है। पल्योपम की आयुवाले दिनपृथक्त्व[1] के बाद आहार लेते है। सागरोपम की स्थितिवाले देवो के विषय में यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की हो वे देव उतने हजार वर्ष के बाद आहार ग्रहण करते है।

१. दो की सख्या से लेकर नौ की संख्या तक पृथक्त्व का व्यवहार होता है।

३. वेदना—सामान्यतः देवों के साता (सुख-वेदना) ही होती है। कभी असाता (दु ख-वेदना) हो जाय तो वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नही रहती। साता-वेदना भी लगातार छ. महीने तक एक-सी रहकर बदल जाती है।

४ उपपात—उपपात अर्थात् उत्पत्तिस्थान की योग्यता। पर अर्थात् जैनेतरलिङ्गिक मिथ्यात्वी बारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकते हैं। स्व अर्थात् जैनलिङ्गिक मिथ्यात्वी ग्रैवेयक तक जा सकते हैं। सम्यग्दृष्टि पहले स्वर्ग से सर्वार्थ-सिद्ध तक कहीं भी जा सकते हैं, परन्तु चतुर्दश पूर्वधारी सयत पाँचवें स्वर्ग से नीचे उत्पन्न नही होते।

५ अनुभाव—अनुभाव अर्थात् लोकस्वभाव (जगद्धर्म)। इसी के कारण सब विमान तथा सिद्धशिला आदि आकाश में निराधार अवस्थित हैं।

अरिहन्त भगवान् के जन्माभिषेक आदि प्रसगो पर देवों के आसन का कम्पित होना भी लोकानुभाव का ही कार्य है। आसनकम्प के अनन्तर अवधिज्ञान के उपयोग से तीर्थङ्कर की महिमा को जानकर कुछ देव उनके निकट पहुँचकर उनकी स्तुति, वन्दना, उपासना आदि करके आत्मकल्याण करते हैं। कुछ देव अपने ही स्थान पर प्रत्युत्थान, अञ्जलिकर्म, प्रणिपात, नमस्कार, उपहार आदि द्वारा तीर्थङ्कर की अर्चा करते हैं। यह भी लोकानुभाव का ही कार्य है। २२।

वैमानिको में लेश्या

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु। २३।

दो, तीन और शेष स्वर्गों मे क्रमश. पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या-वाले देव हैं।

पहले दो स्वर्गों के देवों में पीत (तेज) लेश्या होती है। तीसरे से पाँचवें स्वर्ग तक के देवों में पद्मलेश्या और छठे से सर्वार्थसिद्ध तक के देवो में शुक्ललेश्या होती है। यह विधान शरीरवर्णरूप द्रव्यलेश्या के विषय में है, क्योंकि अध्यव-सायरूप छहो भावलेश्याएँ तो सब देवो में होती है। २३।

कल्पो की परिगणना

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पा। २४।

ग्रैवेयको से पहले कल्प है।

जिनमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि रूप में देवों के विभाग की कल्पना है वे कल्प कहलाते हैं। ऐसे कल्प बारह हैं जो ग्रैवेयक के पहले तक अर्थात् सौधर्म से अच्युत तक है। ग्रैवेयक से लेकर ऊपर के सभी देवलोक कल्पातीत हैं,

क्योंकि उनमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि की विभाग-कल्पना नहीं है; वे सभी समान होने से अहमिन्द्र हैं। २४।

लोकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः । २५ ।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च[1] । २६ ।

ब्रह्मलोक ही लोकान्तिक देवों का आलय (निवासस्थान) है।

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट ये लोकान्तिक हैं।

लोकान्तिक देव विषयरति से परे होने से देवर्षि कहलाते हैं, आपस में छोटे-बड़े न होने के कारण सभी स्वतन्त्र हैं और तीर्थङ्कर के निष्क्रमण (गृह-त्याग) के समय उनके समक्ष उपस्थित होकर 'बुज्झह बुज्झह' शब्द द्वारा प्रति-बोधन के रूप में अपने आचार का पालन करते हैं। ये ब्रह्मलोक नामक पाँचवें स्वर्ग के ही चारों ओर दिशाओं-विदिशाओं में रहते हैं, अन्यत्र कहीं नहीं रहते। ये सभी वहाँ से च्युत होकर मनुष्य-जन्म धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

प्रत्येक दिशा, प्रत्येक विदिशा और मध्यभाग में एक-एक जाति के बसने के कारण लोकान्तिकों की कुल नौ जातियाँ हैं, जैसे पूर्वोत्तर अर्थात् ईशानकोण में सारस्वत, पूर्व में आदित्य, पूर्वदक्षिण (अग्निकोण) में वह्नि, दक्षिण में अरुण, दक्षिणपश्चिम (नैर्ऋत्यकोण) में गर्दतोय, पश्चिम में तुषित, पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण) में अव्याबाध, उत्तर में मरुत और बीच में अरिष्ट। इनके सारस्वत आदि नाम विमानों के नाम के आधार पर ही प्रसिद्ध हैं। हाँ, इतनी विशेषता और है कि इन दो सूत्रों के मूल भाष्य में लोकान्तिक देवों के आठ ही भेद निर्दिष्ट हैं, नौ नहीं। दिगम्बर सम्प्रदाय के सूत्रपाठ में भी आठ की संख्या ही उपलब्ध

---

१. रायल एशियाटिक सोसायटी की मुद्रित पुस्तक में 'अरिष्टाश्च' इस अंश को निश्चित रूप से सूत्र में न रखकर कोष्ठक में रखा गया है, परन्तु मनसुख भगुभाई की मुद्रित पुस्तक में यही अंश 'रिष्टाश्च' पाठ के रूप में सूत्रगत ही छपा है। यद्यपि श्वेताम्बर संप्रदाय के मूल सूत्र में 'ऽरिष्टाश्च' पाठ है तथापि इस सूत्र के भाष्य की टीका में 'नृग्णो-पात्ता. रिष्टविमानप्रस्तारवर्तिभि.' आदि का उल्लेख है। इससे 'अरिष्ट' के स्थान पर 'रिष्ट' होने का भी तर्क हो सकता है। परन्तु दिगम्बर संप्रदाय में इस सूत्र का अन्तिम अंश 'ऽव्याबाधारिष्टाश्च' पाठ के रूप में मिलता है। इसमें यहाँ स्पष्टतः 'अरिष्ट' ही निष्पन्न होता है, 'रिष्ट' नहीं, साथ ही 'मरुत' का भी विधान नहीं है।

होती है, उसमें 'मरुत' का उल्लेख नही है। स्थानाङ्ग आदि सूत्रों में नौ भेद मिलते हैं। उत्तमचरित्र में तो दस भेदो का भी उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि मूल सूत्र में 'मरुतो' पाठ बाद में प्रक्षिप्त हुआ है। २५-२६।

अनुत्तर विमानो के देवो की विशेषता

विजयादिषु द्विचरमाः। २७।

विजयादि के देव द्विचरम होते हैं अर्थात् दो बार मनुष्यजन्म धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

अनुत्तर विमान पाँच हैं। उनमें से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार विमानों के देव द्विचरम होते है। वे अधिक-से-अधिक दो बार मनुष्यजन्म धारण करके मोक्ष प्राप्त कर लेते है। इसका क्रम इस प्रकार है कि चार अनुत्तर विमानों से च्युत होने के बाद मनुष्यजन्म, उसके बाद अनुत्तर विमान में देवजन्म, वहाँ से फिर मनुष्यजन्म और उसी जन्म से मोक्ष। परन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देव च्युत होने के बाद केवल एक बार मनुष्यजन्म धारण करके उसी जन्म से मोक्ष प्राप्त करते है। अनुत्तर विमानवासी देवो के अतिरिक्त अन्य सब देवों के लिए कोई नियम नही है, क्योकि कोई तो एक ही बार मनुष्यजन्म लेकर मोक्ष जाते हैं, कोई दो बार तीन बार, चार बार या और भी अधिक बार मनुष्यजन्म धारण करते हैं। २७।

तिर्यंचो का स्वरूप

औपपातिकमनुष्येभ्य. शेषास्तिर्यग्योनयः। २८।

औपपातिक और मनुष्य से जो शेष है वे तिर्यंच योनिवाले है।

'तिर्यंच कौन है ?' इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में वर्णित है। औपपातिक (देव तथा नारक) तथा मनुष्य को छोडकर शेष सभी ससारी जीव तिर्यंच हैं। देव, नारक और मनुष्य केवल पञ्चेन्द्रिय होते हैं, पर तिर्यंच में एकेंद्रिय से पचेंद्रिय तक सब जीव आ जाते है। देव, नारक और मनुष्य लोक के विशेष भागो में ही होते है, तिर्यञ्च नही, क्योंकि उनका स्थान लोक के सब भागो में है। २८।

अधिकार-सूत्र

स्थितिः। २९।

आयु का वर्णन किया जाता है।

मनुष्यो और तिर्यञ्चों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु बतलाई गई है। देवो और नारकों की आयु बतलाना शेष है, जो इस अध्याय की समाप्ति तक वर्णित है। २९।

भवनपतिनिकाय की उत्कृष्ट स्थिति

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् । ३० ।

शेषाणां पादोने । ३१ ।

असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च । ३२ ।

भवनों मे दक्षिणार्ध के इन्द्रों को स्थिति डेढ पल्योपम है।

शेष इन्द्रों की स्थिति पौने दो पल्योपम है।

दो असुरेन्द्रो की स्थिति क्रमशः सागरोपम और कुछ अधिक सागरोपम है।

यहाँ भवनपतिनिकाय की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है, क्योकि जघन्य-स्थिति का वर्णन आगे सूत्र ४५ में आया है। भवनपतिनिकाय के असुरकुमार, नागकुमार आदि दस भेद हैं। प्रत्येक वर्ग के दक्षिणार्ध के अधिपति और उत्तरार्ध के अधिपति के रूप में दो-दो इन्द्र हैं। उनमें से दक्षिण और उत्तर के दो असुरेन्द्रो की उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—दक्षिणार्ध के अधिपति चमर नामक असुरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम और उत्तरार्ध के अधिपति बलि नामक असुरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम से कुछ अधिक है। असुरकुमार को छोडकर नागकुमार आदि शेष नौ प्रकार के भवनपति देवो के दक्षिणार्ध के धरण आदि नौ इन्द्रों की स्थिति डेढ पल्योपम और उत्तरार्ध के भूतानन्द आदि नौ इन्द्रो की स्थिति पौने दो पल्योपम है। ३०-३२।

वैमानिको की उत्कृष्ट स्थिति

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् । ३३ ।

सागरोपमे । ३४ ।

अधिके च । ३५ ।

सप्त सानत्कुमारे । ३६ ।

विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च । ३७ ।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च । ३८ ।

सौधर्म आदि देवलोको मे क्रमशः निम्नोक्त स्थिति है।

सौधर्म में स्थिति दो सागरोपम है।

ऐशान में स्थिति कुछ अधिक दो सागरोपम है।

सानत्कुमार मे स्थिति सात सागरोपम है।

माहेन्द्र से आरण-अच्युत तक क्रमश. कुछ अधिक सात सागरोपम, तीन से अधिक सात सागरोपम, सात से अधिक सात सागरोपम, दस से अधिक सात सागरोपम, ग्यारह से अधिक सात सागरोपम, तेरह से अधिक सात सागरोपम, पन्द्रह से अधिक सात सागरोपम स्थिति है।

आरण-अच्युत के ऊपर नौ ग्रैवेयक, चार विजयादि और सर्वार्थसिद्ध में स्थिति अनुक्रम से एक-एक सागरोपम अधिक है।

यहाँ वैमानिक देवों की क्रमश. जो स्थिति वर्णित है वह उत्कृष्ट है। पहले स्वर्ग में दो सागरोपम, दूसरे में दो सागरोपम से कुछ अधिक, तीसरे में सात सागरोपम, चौथे में सात सागरोपम से कुछ अधिक, पाँचवें में दस सागरोपम, छठे में चौदह सागरोपम, सातवें में सत्रह सागरोपम, आठवें में अठारह सागरोपम, नवें-दसवें में बीस सागरोपम और ग्यारहवें-बारहवें में बाईस सागरोपम की स्थिति है। प्रथम ग्रैवेयक में तेईस सागरोपम, दूसरे में चौबीस सागरोपम, इसी प्रकार एक-एक बढते-बढते नवें ग्रैवेयक में इकतीस सागरोपम की स्थिति है। पहले चार अनुत्तर विमानो में बत्तीस[1] और सर्वार्थसिद्ध में तैंतीस सागरोपम की स्थिति है। ३३-३८।

वैमानिक देवों की जघन्य स्थिति

अपरा पल्योपममधिकं च। ३९।

सागरोपमे। ४०।

अधिके च। ४१।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा। ४२।

अपरा (जघन्य स्थिति) पल्योपम और कुछ अधिक पल्योपम की है।

दो सागरोपम की है।

---

१. दिगम्बर टीकाओं में और कहीं-कहीं श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी विजयादि चार विमानों में उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम मानी गई है। देखें—इसी अध्याय के सूत्र ४२ का भाष्य। संग्रहणी ग्रन्थ में भी उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम कही गई है।

कुछ अधिक दो सागरोपम की है।

पहले-पहले की उत्कृष्ट स्थिति आगे-आगे की जघन्य स्थिति है।

सौधर्मादि कल्पो की जघन्य स्थिति क्रमश. इस प्रकार है—पहले स्वर्ग में एक पल्योपम, दूसरे में एक पल्योपम से कुछ अधिक, तीसरे में दो सागरोपम, चौथे में दो सागरोपम से कुछ अधिक, पाँचवें से आगे-आगे सभी देवलोको में जघन्य स्थिति वही है जो अपनी-अपनी अपेक्षा पूर्व-पूर्व के देवलोको में उत्कृष्ट स्थिति है। इसके अनुसार चौथे देवलोक की कुछ अधिक सात सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति ही पाँचवें देवलोक में जघन्य स्थिति है; पाँचवें की दस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति छठे में जघन्य है, छठे की चौदह सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति सातवें में जघन्य है, सातवें की सत्रह सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति, आठवें में जघन्य है, आठवें की अठारह सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति नवें-दसवें में जघन्य है, नवें-दसवें की बीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति ग्यारहवें-बारहवें में जघन्य है, ग्यारहवें-बारहवें की बाईस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति प्रथम ग्रैवेयक में जघन्य है। इसी प्रकार नीचे-नीचे के ग्रैवेयक की उत्कृष्ट स्थिति ऊपर-ऊपर के ग्रैवेयक में जघन्य है। इस क्रम से नवें ग्रैवेयक की जघन्य स्थिति तीस सागरोपम है। चार अनुत्तर विमानो में जघन्य स्थिति इकनीस सागरोपम है। सर्वार्थसिद्ध की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति में कोई अन्तर नही है, वहाँ तैतीस सागरोपम की स्थिति है। ३९-४२।

नारको की जघन्य स्थिति

नारकाणां च द्वितीयादिषु। ४३।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्। ४४।

नारकों की दूसरी आदि भूमियो मे पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति ही अनन्तर-अनन्तर की जघन्य स्थिति है।

पहली भूमि में जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है।

सूत्र ४२ में देवों की जघन्य स्थिति का जो क्रम है वही क्रम दूसरी से लेकर सातवी भूमि तक के नारको की जघन्य स्थिति का है। इसके अनुसार पहली भूमि की एक सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति दूसरी की जघन्य स्थिति है। दूसरी की तीन सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति तीसरी की जघन्य है। तीसरी की सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति चौथी की जघन्य है। चौथी की दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति पाँचवी की जघन्य है। पाँचवी की सत्रह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति छठी की जघन्य है। छठी की बाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति सातवी की जघन्य है। पहली भूमि में नारको की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है। ४३-४४।

भवनपतियों की जघन्य स्थिति

भवनेषु च । ४५ ।

भवनपतियो की भी जघन्थ स्थिति दस हजार वर्ष ही है।

व्यन्तरो की स्थिति

व्यन्तराणां च । ४६ ।

परा पल्योपमम् । ४७ ।

व्यन्तर देवों को भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष ही है।

उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम प्रमाण है। ४६-४७।

ज्योतिष्कों की स्थिति

ज्योतिष्काणामधिकम् । ४८ ।

ग्रहाणामेकम् । ४९ ।

नक्षत्राणामर्धम् । ५० ।

तारकाणां चतुर्भागः । ५१ ।

जघन्या त्वष्टभागः । ५२ ।

चतुर्भागः शेषाणाम् । ५३ ।

ज्योतिष्क अर्थात् सूर्य व चन्द्र की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम प्रमाण है।

ग्रहों को उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम है।

नक्षत्रो की उत्कृष्ट स्थिति अर्ध पल्योपम है।

तारों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चतुर्थांश है।

जघन्य स्थिति पल्योपम का अष्टमांश है।

शेष ज्योतिष्कों अर्थात् ग्रहों व नक्षत्रों की (तारों को छोड़कर) जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थांश है। ४८-५३।

: ५ :

अजीव

द्वितीय से चतुर्थ अध्याय तक जीव तत्त्व का निरूपण हुआ। प्रस्तुत अध्याय में अजीव तत्त्व का निरूपण किया जा रहा है।

अजीव के भेद

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः । १ ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये चार अजीवकाय हैं।

निरूपणनियम के अनुसार पहले लक्षण का और फिर भेदो का कथन होना चाहिए, फिर भी यहाँ सूत्रकार ने अजीव तत्त्व का लक्षण न बतलाकर उसके भेदो का कथन किया है। इसका आशय यह है अजीव का लक्षण जीव के लक्षण से ही ज्ञात हो जाता है, उसका अलग से वर्णन करने की विशेष आवश्यकता नही। अ+जीव अर्थात् जो जीव नही है वह अजीव। जीव का लक्षण उपयोग है। जिसमें उपयोग न हो वह तत्त्व अजीव है। इस प्रकार अजीव का लक्षण उपयोग का अभाव ही फलित होता है।

अजीव जीव का विरोधी भावात्मक तत्त्व है, केवल अभावात्मक नही।

धर्म आदि चार अजीव तत्त्वो को अस्तिकाय कहने का अभिप्राय यह है कि ये तत्त्व एक प्रदेशरूप या एक अवयवरूप नही हैं, अपितु प्रचय अर्थात् समूहरूप है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन तत्त्व तो प्रदेशप्रचयरूप है तथा पुद्गल तत्त्व अवयवरूप व अवयवप्रचयरूप है।

अजीव तत्त्व के भेदो में काल की गणना नही की गई है, क्योंकि काल को तत्त्व मानने में मतभेद है। काल को तत्त्व माननेवाले आचार्य भी उसे केवल प्रदेशात्मक मानते है, प्रदेशप्रचयरूप नहीं मानते; अत. उनके मत से भी अस्तिकायों के साथ काल का परिगणन युक्त नही है और जो आचार्य काल को स्वतन्त्र तत्त्व नही मानते उनके मत से तो तत्त्व के भेदो में काल का परिगणन सम्भव ही नही है।

प्रश्न—उक्त चार अजीव तत्त्व क्या अन्य दर्शनो में भी मान्य है ?

उत्तर—नही। आकाश और पुद्गल इन दो तत्त्वो को तो वैशेषिक, न्याय, सांख्य आदि दर्शनो ने भी माना है, परन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इन दो तत्त्वो को जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन ने नही माना है। जिस तत्त्व को जैन दर्शन में आकाशास्तिकाय कहा गया है उसे जैनेतर दर्शनो में आकाश कहा गया है। 'पुद्गलास्तिकाय' संज्ञा केवल जैन शास्त्रो में प्रसिद्ध है। जैनेतर शास्त्रो में पुद्गलस्थानीय तत्त्व प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से व्यवहृत है। १।

मूल द्रव्य

द्रव्याणि जीवाश्च। २।

धर्मास्तिकाय आदि चार अजीव तत्त्व और जीव ये पाँच द्रव्य हैं।

जैन दृष्टि के अनुसार यह जगत् केवल पर्याय अर्थात् परिवर्तनरूप नहीं है, किन्तु परिवर्तनशील होने पर भी अनादि-निधन है। इस जगत् में जैन दर्शन के अनुसार अस्तिकायरूप पाँच मूल द्रव्य हैं, वे ही इस सूत्र में निर्दिष्ट हैं।

इस सूत्र तथा आगे के कुछ सूत्रो में द्रव्यो के सामान्य तथा विशेष धर्म का वर्णन करके उनके पारस्परिक साधर्म्य-वैधर्म्य का वर्णन किया गया है। साधर्म्य अर्थात् समानधर्म (समानता) और वैधर्म्य अर्थात् विरुद्धधर्म (असमानता)। इस सूत्र में द्रव्यत्व अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि पाँचों के द्रव्यरूप साधर्म्य का विधान है। वैधर्म्य तो गुण या पर्याय का हो सकता है, क्योकि गुण और पर्याय स्वय द्रव्य नही है। २।

मूल द्रव्यो का साधर्म्य और वैधर्म्य

नित्यावस्थितान्यरूपाणि। ३।

रूपिणः पुद्गलाः। ४।

आऽऽकाशादेकद्रव्याणि[1]। ५।

निष्क्रियाणि च। ६।

उक्त द्रव्य नित्य हैं, स्थिर हैं और अरूपी (अमूर्त) है।

पुद्गल रूपी (मूर्त) हैं।

---

१. भाष्य में 'आ आकाशात्' ऐसा सन्धिरहित पाठ है। दिगम्बर परम्परा में भी सूत्र पाठ सन्धिरहित ही है।

उक्त पाँच में से आकाश तक के द्रव्य एक-एक हैं।

तथा निष्क्रिय हैं।

धर्मास्तिकाय आदि पाँचो द्रव्य नित्य हैं और अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से कदापि च्युत नही होते। पाँचों स्थिर भी है, क्योंकि उनकी संख्या में न्यूनाधिकता नही होती, परन्तु अरूपी तो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये चार ही द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य अरूपी नही है। साराश यह है कि नित्यत्व तथा अवस्थितत्व दोनो ही पाँचों द्रव्यों के साधर्म्य हैं, परन्तु अरूपित्व पुद्गल के अतिरिक्त शेष चार द्रव्यो का साधर्म्य है।

प्रश्न—नित्यत्व और अवस्थितत्व के अर्थ में क्या अन्तर है ?

उत्तर—अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से च्युत न होना नित्यत्व है और अपने स्वरूप में स्थिर रहते हुए भी अन्य तत्त्व के स्वरूप को प्राप्त न करना अवस्थितत्व है। जैसे जीव तत्त्व अपने द्रव्यात्मक सामान्य रूप और चेतनात्मक विशेष रूप को कभी नही छोडता, यह उसका नित्यत्व है और अपने इस स्वरूप को न छोडते हुए भी अजीव तत्त्व के स्वरूप को प्राप्त नही करता, यह उसका अवस्थितत्व है। साराश यह है कि स्व-स्वरूप को न त्यागना और पर-स्वरूप को प्राप्त न करना ये दो अश (धर्म) सभी द्रव्यों में समान हैं। पहला अंश नित्यत्व और दूसरा अंश अवस्थितत्व कहलाता है। द्रव्यो के नित्यत्वकथन से जगत् की शाश्वतता प्रकट की जाती है और अवस्थितत्वकथन से उनका पारस्परिक असाकर्य प्रकट किया जाता है अर्थात् वे सब परिवर्तनशील होते हुए भी अपने स्वरूप में सदा स्थित हैं और एक साथ रहते हुए भी एक-दूसरे के स्वभाव (लक्षण) से अस्पृष्ट हैं। इस प्रकार यह जगत् अनादि-निधन भी है और जगत् के मूल तत्त्वो की सख्या भी समान रहती है।

प्रश्न—जब धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्य और तत्त्व है तब उनका कोई-न-कोई स्वरूप अवश्य मानना पडेगा, फिर उन्हें अरूपी क्यों कहा गया ?

उत्तर—यहाँ अरूपी कहने का आशय स्वरूपनिषेध नही है, स्वरूप तो धर्मास्तिकाय आदि तत्त्वो का भी होता ही है। उनका कोई स्वरूप न हो तो वे घोडे के सीग की तरह वस्तु ही सिद्ध न हो। यहाँ अरूपित्व के कथन का तात्पर्य रूप का निषेध है। यहाँ रूप का अर्थ मूर्ति है। रूप आदि संस्थान-परिणाम को अथवा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के समुदाय को मूर्ति कहते है जिसका धर्मास्तिकाय आदि चार तत्त्वो में अभाव होता है। यही बात 'अरूपी' पद द्वारा कही गई है। ३।

रूप, मूर्तत्व, मूर्ति ये सब शब्द समानार्थक हैं। रूप, रस आदि इन्द्रियग्राह्य गुण ही मूर्ति कहे जाते हैं। पुद्गलो के गुण इन्द्रियग्राह्य है इसलिए पुद्गल ही मूर्त (रूपी) है। पुद्गल के अतिरिक्त अन्य द्रव्य मूर्त नही है, क्योकि वे इन्द्रियो द्वारा गृहीत नही होते। अत रूपित्व गुण पुद्गल को छोडकर धर्मास्तिकाय आदि चार तत्त्वो का वैधर्म्य है।

अतीन्द्रिय होने से परमाणु आदि अनेक सूक्ष्म द्रव्य और उनके गुण इन्द्रिय-ग्राह्य नही है, फिर भी विशिष्ट परिणामरूप अवस्था-विशेष में वे इन्द्रियो द्वारा गृहीत होने की योग्यता रखते है, अत. अतीन्द्रिय होते हुए भी वे रूपी (मूर्त) ही हैं। धर्मास्तिकाय आदि चार अरूपी द्रव्यो में तो इन्द्रिय-विषय बनने की योग्यता ही नही है। अतीन्द्रिय पुद्गल और अतीन्द्रिय धर्मास्तिकायादि द्रव्यो में यही अन्तर है। ४।

इन पाँच द्रव्यों में से आकाश तक के तीन द्रव्य अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक-एक इकाईरूप है। इनके दो या दो से अधिक विभाग नही है।

इसी प्रकार तीनो निष्क्रिय (क्रियारहित) हैं। एक इकाई और निष्क्रियता ये दोनो उक्त तीनो द्रव्यो का साधर्म्य और जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय का वैधर्म्य है। जीव और पुद्गल द्रव्य की अनेक इकाइयाँ है और वे क्रियाशील भी है। जैन दर्शन में आत्म द्रव्य को वेदान्त की भाँति एक इकाईरूप नही माना गया और साख्य-वैशेषिक आदि सभी वैदिक दर्शनो की तरह उसे निष्क्रिय भी नही माना गया।

प्रश्न—जैन दर्शन के अनुसार सभी द्रव्यो में पर्यायपरिणमन (उत्पाद-व्यय) माना जाता है। यह परिणमन क्रियाशील द्रव्यो में ही हो सकता है। धर्मास्तिकाय आदि तीन द्रव्यो को निष्क्रिय मानने पर उनमें पर्यायपरिणमन कैसे घटित हो सकेगा ?

उत्तर—यहाँ निष्क्रियत्व से अभिप्राय गतिक्रिया का निषेध है, क्रियामात्र का नही। जैन दर्शन के अनुसार निष्क्रिय द्रव्य का अर्थ 'गतिशून्य द्रव्य' है। गतिशून्य धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो में भी सदृशपरिणमनरूप क्रिया जैन दर्शन को मान्य है। ५-६।

प्रदेशो की संख्या

असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः। ७।

जीवस्य। ८।

आकाशस्यानन्ताः । ९ ।
सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाश्च पुद्‌गलानाम् । १० ।
नाणोः । ११ ।

धर्म और अधर्म के प्रदेश असंख्यात हैं।

एक जीव के प्रदेश असख्यात है।

आकाश के प्रदेश अनन्त हैं।

पुद्‌गल द्रव्य के प्रदेश सख्यात, असंख्यात और अनन्त हैं। अणु (परमाणु) के प्रदेश नही होते।

धर्म, अधर्म आदि चार अजीव और जीव इन पांच द्रव्यो को 'काय' कहकर पहले यह निर्दिष्ट किया गया है कि पांच द्रव्य अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशप्रचयरूप हैं। परन्तु उनके प्रदेशो की विशेष सख्या यहाँ पहले-पहल दर्शायी गई है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनो द्रव्यो के प्रदेश असंख्यात है। प्रदेश अर्थात् एक ऐसा सूक्ष्म अंश जिसके दूसरे अश की कल्पना भी नही की जा सकती। ऐसे अविभाज्य सूक्ष्म को निरंश-अंश भी कहते है। धर्म व अधर्म ये दोनो द्रव्य एक-एक इकाईरूप है और उनके प्रदेश (अविभाज्य अंश) असख्यात-असंख्यात है। उक्त दोनो द्रव्य ऐसे अखंड स्कन्धरूप है जिनके असख्यात अविभाज्य सूक्ष्म अंश केवल बुद्धि से कल्पित किये जा सकते है, वे वस्तुभूत स्कन्ध से पृथक् नही किये जा सकते।

जीव द्रव्य इकाईरूप में अनन्त है। प्रत्येक जीव एक अखड इकाई है, जो धर्मास्तिकाय की तरह असख्यात-प्रदेशी है।

आकाश द्रव्य अन्य सब द्रव्यो से बडा स्कन्ध है क्योकि वह अनन्तप्रदेशी है।

पुद्‌गल द्रव्य के स्कन्ध अन्य चार द्रव्यो की तरह नियतरूप नही है, क्योकि कोई पुद्‌गल-स्कन्ध संख्यात प्रदेशो का होता है, कोई असंख्यात प्रदेशो का, कोई अनन्त प्रदेशो का और कोई अनन्तानन्त प्रदेशो का।

पुद्‌गल तथा अन्य द्रव्यो में अन्तर यह है कि पुद्‌गल के प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग-अलग हो सकते है; पर अन्य चार द्रव्यो के अपने प्रदेश अपने-अपने स्कन्ध से अलग नही हो सकते, क्योकि पुद्‌गल के अतिरिक्त चारो द्रव्य अमूर्त है, और अमूर्त का स्वभाव है खण्डित न होना। पुद्‌गल द्रव्य मूर्त है, मूर्त के खड हो सकते है, क्योकि सश्लेप और विश्लेप के द्वारा मिलने की तथा अलग होने की

शक्ति मूर्त द्रव्य में होती है। इसी अन्तर के कारण पुद्गलस्कन्ध के छोटे-बड़े सभी अंशो को अवयव कहते हैं। अवयव अर्थात् अलग होनेवाला अंश।

परमाणु भी पुद्गल होने से मूर्त है किन्तु उसका विभाग नही होता, क्योंकि वह आकाश के प्रदेश की तरह पुद्गल का छोटे-से-छोटा अंश है। परमाणु का परिमाण सबसे छोटा है, अत वह भी अविभाज्य अंश है।

यहाँ परमाणु के खंड या अंश न होने की बात द्रव्य (इकाई) रूप से कही गई है, पर्यायरूप से नही। पर्यायरूप में तो उसके भी अशों की कल्पना की गई है, क्योंकि एक ही परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस आदि अनेक पर्याय है और वे सभी उस द्रव्य के भावरूप अश ही है। इसलिए एक परमाणु के भी अनेक भावपरमाणु माने जाते हैं।

प्रश्न–धर्म आदि के प्रदेश और पुद्गल के परमाणु में क्या अन्तर है ?

उत्तर–परिमाण की दृष्टि से कोई अन्तर नही है। जितने क्षेत्र में परमाणु रह सकता है उसे प्रदेश कहते हैं। परमाणु अविभाज्य अंश होने से उसके समाने योग्य क्षेत्र भी अविभाज्य ही होगा। अत परमाणु और तत्परिमित प्रदेशसंज्ञक क्षेत्र दोनो ही परिमाण की दृष्टि से समान हैं, तो भी उनमें यह अन्तर है कि परमाणु अपने अंशीभूत स्कन्ध से पृथक् हो सकता है, परन्तु धर्म आदि द्रव्यो के प्रदेश अपने स्कन्ध से पृथक् नही हो सकते।

प्रश्न–नवें सूत्र में 'अनन्त' पद है उससे पुद्गल द्रव्य क अनेक अनन्त प्रदेश होने का अर्थ तो निकल सकता है, परन्तु अनन्तानन्त प्रदेश होने का अर्थ किस पद मे निकाला गया है ?

उत्तर–'अनन्त' पद सामान्य है, वह सब प्रकार की अनन्त संख्याओ का बोध कराता है। अत उसी मे अनन्तानन्त अर्थ प्राप्त हो जाता है। ७–११।

द्रव्यो का स्थितिक्षेत्र

लोकाकाशेऽवगाहः। १२।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने। १३।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्। १४।

असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम्। १५।

प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्। १६।

आधेय (ठहरनेवाले) द्रव्यो की स्थिति लोकाकाश मे ही है।

धर्म और अधर्म द्रव्यो की स्थिति समग्र लोकाकाश मे है।

पुद्गलों की स्थिति लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प (अनिश्चित रूप) से है।

जीवो की स्थिति लोक के असख्यातवें भाग आदि में होती है।

क्योंकि प्रदीप की भाँति उनके प्रदेशों का सकोच और विस्तार होता है।

जगत् पाँच अस्तिकायरूप है, इसलिए प्रश्न उठता है कि इन अस्तिकायो का आधार (स्थितिक्षेत्र) क्या है ? उनका आधार अन्य कोई द्रव्य है अथवा पाँचों में से ही कोई एक द्रव्य है ? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि आकाश ही आधार है और शेष सब द्रव्य आधेय है। यह उत्तर व्यवहारदृष्टि से है, निश्चयदृष्टि से तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ (अपने-अपने स्वरूप में स्थित) हैं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तात्त्विक दृष्टि से नही रहता। प्रश्न हो सकता है कि जब धर्म आदि चार द्रव्यो का आधार व्यवहारदृष्टि से आकाश माना गया है तो आकाश का आधार क्या है ? इसका उत्तर यही है कि आकाश का अन्य कोई आधार नही है, क्योकि उससे बडा या उसके तुल्य परिमाण का अन्य कोई तत्त्व नही है। इस प्रकार व्यवहार एव निश्चय दोनो दृष्टियो से आकाश स्वप्रतिष्ठ ही है। आकाश को अन्य द्रव्यों का आधार इसीलिए कहा गया है कि वह सब द्रव्यों से महान् है।

आधेयभूत धर्म आदि चार द्रव्य भी समग्र आकाश मे नही रहते। वे आकाश के एक परिमित भाग में ही स्थित है और आकाश का यह भाग 'लोक' कहलाता है। लोक का अर्थ है पाँच अस्तिकाय। इस भाग के बाहर चारो ओर अनन्त आकाश फैला है। उसमें अन्य द्रव्यो की स्थिति न होने से वह भाग अलोकाकाश कहलाता है। यहाँ अस्तिकायो के आधाराधेय सम्बन्ध का विचार लोकाकाश को लेकर ही किया गया है।

धर्म और अधर्म ये दोनो अस्तिकाय ऐसे अखण्ड स्कन्ध है जो सम्पूर्ण लोकाकाश में स्थित है। वस्तुत अखण्ड आकाश के लोक और अलोक भागो की कल्पना भी धर्म-अधर्म द्रव्य-सम्बन्ध के कारण ही है। जहाँ धर्म-अधर्म द्रव्यो का सम्बन्ध न हो वह अलोक और जहाँ तक सम्बन्ध हो वह लोक।

पुद्गल द्रव्य का आधार सामान्यत. लोकाकाश ही नियत है, तथापि विशेष रूप से भिन्न-भिन्न पुद्गलो के आधारक्षेत्र के परिमाण मे अन्तर पडता है। पुद्गल द्रव्य धर्म-अधर्म द्रव्य की तरह एक इकाई तो है नही कि उसके एकरूप आधारक्षेत्र की सम्भावना मानी जा सके। भिन्न-भिन्न इकाई होते हुए भी पुद्गलो के परिमाण में विविधता है, एकरूपता नही है। इसीलिए यहाँ उसके आधार

का परिमाण अनेकरूप कहा गया है। कोई पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश में और कोई दो प्रदेशों में रहता है। कोई पुद्गल असख्यात प्रदेश परिमित लोकाकाश में भी रहता है। साराश यह है कि आधारभूत क्षेत्र के प्रदेशो की संख्या आधेयभूत पुद्गलद्रव्य के परमाणुओं की सख्या से न्यून या तुल्य हो सकती है, अधिक नही। एक परमाणु एक ही आकाश-प्रदेश में स्थित रहता है, पर द्व्यणुक[1] एक प्रदेश में भी ठहर सकता है और दो में भी। इसी प्रकार उत्तरोत्तर सख्या बढते-बढते त्र्यणुक, चतुरणुक यावत् संख्याताणुक स्कन्ध एक प्रदेश, दो प्रदेश, तीन प्रदेश, यावत् संख्यात प्रदेश परिमित क्षेत्र में ठहर सकते है। सख्याताणुक द्रव्य की स्थिति के लिए असख्यात प्रदेशवाले क्षेत्र की आवश्यकता नही होती। असख्याताणुक स्कन्ध एक प्रदेश से लेकर अधिक-से-अधिक अपने बराबर की असंख्यात संख्यावाले प्रदेशो के क्षेत्र में ठहर सकता है। अनन्ताणुक और अनन्तानन्ताणुक स्कन्ध भी एक प्रदेश, दो प्रदेश इत्यादि क्रमश. बढते-बढते संख्यात प्रदेश और असंख्यात प्रदेशवाले क्षेत्र में ठहर सकते हैं। उनकी स्थिति के लिए अनन्त प्रदेशात्मक क्षेत्र आवश्यक नही है। पुद्गल द्रव्य का एव अनन्तानन्त अणुओ का बना हुआ सबसे बडा अचित्त महास्कन्ध भी असंख्यातप्रदेश लोकाकाश में ही समा जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का परिमाण न तो आकाश की भाँति व्यापक है और न परमाणु की तरह अणु, किन्तु मध्यम माना जाता है। सब आत्माओ का मध्यम परिमाण प्रदेश-सख्या की दृष्टि से समान है, तो भी लम्बाई, चौड़ाई आदि सबकी समान नही है। इसलिए प्रश्न उठता है कि जीव द्रव्य का आधारक्षेत्र कम-से-कम और अधिक से-अधिक कितना है ? इसका उत्तर यह है कि एक जीव का आधारक्षेत्र लोकाकाश के असख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश तक हो सकता है। यद्यपि लोकाकाश असंख्यात प्रदेश परिमाण है, तथापि असख्यात सख्या के भी असख्यात प्रकार होने से लोकाकाश के ऐसे असख्यात भागो की कल्पना की जा सकती है जो अंगुलासंख्येय भाग परिमाण हो। इतना छोटा एक भाग भी असंख्यात प्रदेशात्मक ही होता है। कोई एक जीव उस एक भाग में रह सकते है, उतने-उतने दो भागो में भी रह सकता है। इस प्रकार एक-एक भाग बढते बढते अन्तत सर्वलोक में भी एक जीव रह सकता है अर्थात् जीव द्रव्य का छोटे

---

१ दो परमाणुओं से बना हुआ स्कन्ध द्व्यणुक, इसी प्रकार तीन परमाणुओं का स्कन्ध त्र्यणुक, चार परमाणुओं का चतुरणुक, संख्यात परमाणुओं का संख्याताणुक असंख्यात का असंख्याताणुक, अनन्त का अनन्ताणुक और अनन्तानन्त परमाणुजन्य स्कन्ध अनन्तानन्ताणुक है।

से-छोटा आधारक्षेत्र अंगुलासंख्येय भाग परिमाण होता है, जो समग्र लोकाकाश का असख्यातवाँ भाग है। उसी जीव का कालान्तर में अथवा उसी समय जीवान्तर का कुछ बडा आधारक्षेत्र उक्त भाग से दुगुना भी होता है। इसी प्रकार उसी जीव का या जीवान्तर का आधारक्षेत्र उक्त भाग से तिगुना, चौगुना, पाँचगुना आदि क्रमश. बढते-बढते कभी असख्यातगुना अर्थात् सर्व लोकाकाश हो सकता है। एक जीव का आधारक्षेत्र सर्व लोकाकाश तभी सम्भव है जब वह जीव केवलिसमुद्घात की स्थिति में हो। जीव के परिमाण को न्यूनाधिकता के अनुसार उसके आधारक्षेत्र के परिमाण की न्यूनाधिकता एक जीव की अपेक्षा से कही गई है। सर्व जीवराशि की अपेक्षा से तो जीव तत्त्व का आधारक्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि एक जीव द्रव्य के परिमाण में कालभेदगत जो न्यूनाधिकता है, या तुल्य प्रदेशवाले भिन्न-भिन्न जीवो के परिमाण में एक ही समय में जो न्यूनाधिकता है, उसका कारण क्या है ? यहाँ इसका उत्तर यह है कि अनादि काल से जीव के साथ लगा हुआ कार्मणशरीर जो कि अनन्तानन्त अणुप्रचय-रूप होता है, उसके सम्बन्ध से एक ही जीव के परिमाण मे या नाना जीवो के परिमाण में विविधता आती है। कार्मणशरीर सदा एक-सा नही रहता। उसके सम्बन्ध से औदारिक आदि जो अन्य शरीर प्राप्त होते है वे भी कार्मण के अनुसार छोटे-बडे होते है। जीव द्रव्य वस्तुत है तो अमूर्त, पर वह शरीर-सम्बन्ध के कारण मूर्तवत् बन जाता है। इसलिए जब जितना बडा शरीर उसे प्राप्त होता है। तब उसका परिमाण उतना हो जाता है।

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो की भाँति जीव द्रव्य भी अमूर्त है, फिर एक का परिमाण नही घटता-बढता और दूसरे का घटता-बढता है ऐसा क्यों ? इसका कारण स्वभावभेद के अतिरिक्त और कुछ नही है। जीव तत्त्व का स्वभाव निमित्त मिलने पर प्रदीप की तरह सकोच और विकास को प्राप्त करना है, जैसे खुले आकाश में रखे हुए प्रदीप के प्रकाश का कोई एक परिमाण होता है, पर कोठरी में उसका प्रकाश कोठरी भर ही बन जाता है, कुण्डे के नीचे रखने पर वह कुण्डे के नीचे के भाग को ही प्रकाशित करता है, लोटे के नीचे उसका प्रकाश उतना ही हो जाता है। इसी प्रकार जीव द्रव्य भी संकोच-विकासशील है। वह जब जितना छोटा या बडा शरीर धारण करता है तब उस शरीर के परिमाणानुसार उसके परिमाण में संकोच-विकास हो जाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जीव यदि सकोचस्वभाव के कारण छोटा होता है तो वह लोकाकाश के प्रदेशरूप असंख्यातवें भाग से छोटे भाग में अर्थात आकाश

के एक प्रदेश पर या दो, चार, पाँच आदि प्रदेशों पर क्यों नहीं समा सकता ? इसी प्रकार यदि उसका स्वभाव विकासशील है तो वह सम्पूर्ण लोकाकाश की तरह अलोकाकाश को भी व्याप्त क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर यह है कि संकोच की मर्यादा कार्मणशरीर पर निर्भर है। कार्मणशरीर तो किसी भी अंगुलासंख्यात भाग से छोटा हो ही नहीं सकता, इसलिए जीव का संकोच-कार्य भी वहीं तक परिमित रहता है। विकास की मर्यादा भी लोकाकाश तक मानी गई है। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि जीव के प्रदेश उतने ही हैं जितने लोकाकाश के हैं। अधिक-से-अधिक विकास-दशा में जीव का एक प्रदेश आकाश के एक ही प्रदेश को व्याप्त कर सकता है, दो या अधिक को नहीं। इसलिए सर्वोत्कृष्ट विकासदशा में भी वह लोकाकाश के बाहर के भाग को व्याप्त नहीं करता। दूसरा कारण यह है कि विकास करना गति-का कार्य है और गति धर्मास्तिकाय के बिना नहीं हो सकती, अतः लोकाकाश के बाहर जीव के फैलने का कोई कारण ही नहीं है।

प्रश्न—असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाश में शरीरधारी अनन्त जीव कैसे समा सकते हैं ?

उत्तर—सूक्ष्मभाव में परिणत होने से निगोद-शरीर से व्याप्त एक ही आकाश-क्षेत्र में साधारणशरीरी अनन्त जीव एक साथ रहते हैं और मनुष्य आदि के एक औदारिक शरीर के ऊपर तथा अन्दर अनेक सम्मूर्छिम जीवों की स्थिति देखने में आती है। इसलिए लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों का समावेश असंगत नहीं है।

यद्यपि पुद्‌गल द्रव्य अनन्तानन्त और मूर्त हैं, तथापि उनका लोकाकाश में समा जाने का कारण यह है कि पुद्‌गलों में सूक्ष्म रूप से परिणत होने की शक्ति है। जब ऐसा परिणमन होता है तब एक ही क्षेत्र में एक-दूसरे को व्याघात पहुँचाए बिना अनन्तानन्त परमाणु और अनन्तानन्त स्कन्ध स्थान पा सकते हैं, जैसे एक ही स्थान में हजारों दीपकों का प्रकाश व्याघात के बिना समा जाता है। मूर्त होने पर भी पुद्‌गल द्रव्य व्याघातशील तभी होता है जब वह स्थूलभाव में परिणत हो। सूक्ष्मत्वपरिणामदशा में वह न किसी को व्याघात पहुँचाता है और न स्वयं किसी से व्याघातित होता है। १२-१६।

कार्य द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षण

गतिस्थित्युपग्रहो[1] धर्माधर्मयोरुपकारः। १७।

आकाशस्यावगाहः। १८।

---

१. 'गतिस्थित्युपग्रहौ' पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है, तथापि भाष्य के अनुसार 'गतिस्थित्युपग्रहो' पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है। दिगम्बर परम्परा में तो 'गति-स्थित्युपग्रहौ' पाठ ही निर्विवाद रूप में प्रचलित है।

गति और स्थिति में निमित्त बनना क्रमशः धर्म और अधर्म द्रव्यों का कार्य है।

अवकाश में निमित्त होना आकाश का कार्य है।

धर्म, अधर्म और आकाश तीनो द्रव्य अमूर्त है अत. इन्द्रियगम्य नही हैं। इसलिए इनकी सिद्धि लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नही है। आगम-प्रमाण से इनका अस्तित्व मान्य हैं, फिर भी आगम-पोषक ऐसी युक्ति भी है जो उक्त द्रव्यों के अस्तित्व को सिद्ध करती है। जगत् में गतिशील और गतिपूर्वक स्थितिशील जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ है। गति और स्थिति इन दोनो द्रव्यो के परिणाम व कार्य है और उन्ही से पैदा होते हैं अर्थात् गति और स्थिति के उपादान कारण जीव और पुद्गल ही है, तो भी कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षित निमित्त कारण तो उपादान कारण से भिन्न ही सम्भव है। इसीलिए जीव एवं पुद्गल की गति में निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय की और स्थिति में निमित्त रूप से अधर्मास्तिकाय की सिद्धि हो जाती है। इसी अभिप्राय से शास्त्र मे धर्मास्तिकाय का लक्षण 'गतिशील पदार्थों की गति में निमित्त होना' कहा गया और अधर्मास्तिकाय का लक्षण 'स्थिति में निमित्त होना'।

धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल ये चारो द्रव्य कही-न-कही स्थित है अर्थात् आधेय बनना या अवकाश प्राप्त करना उनका कार्य है। पर अपने में अवकाश (स्थान) देना आकाश का कार्य है। इसीलिए आकाश का लक्षण अवगाह प्रदान करना माना गया है।

प्रश्न—साख्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनो में आकाश द्रव्य तो माना गया है परन्तु धर्म और अधर्म द्रव्यों को तो अन्य किसी ने नही माना, फिर जैन दर्शन में ही क्यो स्वीकार किया गया है ?

उत्तर—जड और चेतन द्रव्य की गतिशीलता तो अनुभव-सिद्ध है जो दृश्या-दृश्य विश्व के विशिष्ट अग है। कोई नियामक तत्त्व न रहे तो वे द्रव्य अपनी सहज गतिशीलता मे अनन्त आकाश में कही भी चले जा सकते हैं। सचमुच यदि वे अनन्त आकाश में चले ही जायें तो इस दृश्यादृश्य विश्व का नियत सस्थान कभी सामान्य रूप से एक-सा दिखाई नही देगा, क्योकि इकाईरूप में अनन्त पुद्गल और अनन्त जीव अनन्त परिमाण विस्तृत आकाश क्षेत्र में बे-रोकटोक सचार के कारण इस तरह पृथक् हो जायँगे जिनका पुन. मिलना और नियत सृष्टिरूप में दिखाई देना असम्भव नही तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। यही कारण है कि उक्त गतिशील द्रव्यो की गतिमर्यादा के नियामक तत्त्व को जैन दर्शन ने स्वीकार किया है। यही

तत्त्व धर्मास्तिकाय है। इस तत्त्व को स्वीकार कर लेने पर तुल्य युक्ति से स्थिति-मर्यादा के नियामक अधर्मास्तिकाय तत्त्व को भी जैन दर्शन ने स्वीकार कर लिया है।

दिग्द्रव्य के कार्यरूप पूर्व-पश्चिम आदि व्यवहार की उपपत्ति आकाश के द्वारा सम्भव होने से दिग्द्रव्य को आकाश से अलग मानना आवश्यक नही। किंतु धर्म-अधर्म द्रव्यो का कार्य आकाश से सिद्ध नही हो सकता, क्योकि आकाश को गति और स्थिति का नियामक मानने पर वह अनन्त और अखंड होने से जड तथा चेतन द्रव्यो को अपने में सर्वत्र गति व स्थिति करने से रोक नही सकेगा और इस तरह नियत दृश्यादृश्य विश्व के संस्थान की अनुपपत्ति बनी ही रहेगी। इसलिए धर्म-अधर्म द्रव्यो को आकाश से भिन्न एवं स्वतन्त्र मानना न्यायसंगत है। जब जड और चेतन गतिशील है तब मर्यादित आकाशक्षेत्र में नियामक के बिना उनकी गति अपने स्वभाववश नही मानी जा सकती। इसलिए धर्म-अधर्म द्रव्यो का अस्तित्व युक्तिसिद्ध है। १७-१८।

कार्य द्वारा पुद्गल का लक्षण

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्। १९।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च। २०।

शरीर, वाणी, मन, नि.श्वास और उच्छ्वास ये पुद्गलो के उपकार (कार्य) हैं।

सुख, दु.ख, जीवन और मरण भी पुद्गलो के उपकार हैं।

अनेक पौद्गलिक कार्यों में से कुछ का यहाँ निर्देश किया गया है, जो जीवो पर अनुग्रह-निग्रह करते है। औदारिक आदि सब शरीर पौद्गलिक ही है। कार्मणशरीर अतीन्द्रिय है, किन्तु वह औदारिक आदि मूर्त द्रव्य के सम्बन्ध से सुखदु खादि विपाक देता है, जैसे जलादि के सम्बन्ध से धान। इसलिए वह भी पौद्गलिक ही है।

भाषा दो प्रकार की है—भावभाषा और द्रव्यभाषा। भावभाषा तो वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से तथा अंगोपाग नामकर्म के उदय से प्राप्त होनेवाली एक विशिष्ट शक्ति है जो पुद्गल-सापेक्ष होने से पौद्गलिक है और ऐसी शक्तिमान् आत्मा से प्रेरित होकर वचनरूप में परिणत होनेवाले भाषावर्गणा के स्कन्ध ही द्रव्यभाषा है।

लब्धि तथा उपयोगरूप भावमन पुद्गलावलम्बी होने से पौद्गलिक है। ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के उदय से

मनोवर्गणा के जो स्कन्ध गुणदोषविवेचन, स्मरण आदि कार्याभिमुख आत्मा के अनुग्राहक अर्थात् सामर्थ्य के उत्तेजक होते हैं वे द्रव्यमन हैं। इसी प्रकार आत्मा द्वारा उदर से बाहर निकाला जानेवाला नि.श्वासवायु (प्राण) और उदर के भीतर पहुँचाया जानेवाला उच्छ्वासवायु (अपान) ये दोनो पौद्गलिक हैं और जीवनप्रद होने से आत्मा के अनुग्रहकारी हैं।

भाषा, मन, प्राण और अपान इन सबका व्याघात और अभिभव देखने में आता है। इसलिए वे शरीर की भाँति पौद्गलिक ही हैं।

जीव का प्रीतिरूप परिणाम सुख है, जो सातावेदनीय कर्मरूप अन्तरग कारण और द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य कारणो से उत्पन्न होता है। परिताप ही दु.ख है, जो असातावेदनीय कर्मरूप अन्तरंग कारण और द्रव्य आदि बाह्य निमित्तों से उत्पन्न होता है।

आयुकर्म के उदय से देहधारी जीव के प्राण और अपान का चलते रहना जीवित (जीवन) है और प्राणापान का उच्छेद मरण है। ये सब सुख, दु.ख आदि पर्याय जीवों में पुद्गलों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे जीवो के प्रति पौद्गलिक उपकार कहे गए हैं। १९-२०।

कार्य द्वारा जीव का लक्षण

परस्परोपग्रहो जीवानाम्। २१।

परस्पर के कार्य में निमित्त (सहायक) होना जीवो का उपकार है।

पारस्परिक उपकार करना जीवो का कार्य है। इस सूत्र में इसी का निर्देश है। एक जीव हित-अहित के उपदेश द्वारा दूसरे जीव का उपकार करता है। मालिक पैसे से नौकर का उपकार करता है और नौकर हित या अहित की बात के द्वारा या सेवा करके मालिक का उपकार करता है। आचार्य सत्कर्म का उपदेश करके उसके अनुष्ठान द्वारा शिष्य का उपकार करता है और शिष्य अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा आचार्य का उपकार करता है। २१।

कार्य द्वारा काल का लक्षण

वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य। २२।

वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व ये काल के उपकार हैं।

काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानकर यहाँ उसके उपकार गिनाये गए हैं। अपने-अपने पर्याय की उत्पत्ति में स्वयमेव प्रवर्तमान धर्म आदि द्रव्यो को निमित्तरूप

से प्रेरणा करना वर्तना है। स्वजाति का त्याग किये बिना होनेवाला द्रव्य का अपरिस्पन्द पर्याय परिणाम है जो पूर्वावस्था की निवृत्ति और उत्तरावस्था की उत्पत्तिरूप है। ऐसा परिणाम जीव में ज्ञानादि तथा क्रोधादिरूप; पुद्गल में नील-पीत वर्णादिरूप और धर्मास्तिकाय आदि शेष द्रव्यो में अगुरुलघु[1] गुण की हानि-वृद्धिरूप है। गति (परिस्पन्द) ही क्रिया है। ज्येष्ठत्व परत्व है और कनिष्ठत्व अपरत्व। यद्यपि वर्तना आदि कार्य यथासम्भव धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो के ही हैं, तथापि काल सबका निमित्त कारण होने से यहाँ उनका वर्णन काल के उपकाररूप से किया गया है। २२।

---

१ अगुरुलघु शब्द जैन परम्परा में तीन प्रसंगों पर भिन्न-भिन्न अर्थ में व्यवहृत है :

(क) आत्मा के ज्ञान-दर्शन आदि जो आठ गुण आठ कर्म से आवार्य (आवरणयोग्य) माने गए हैं उनमें एक अगुरुलघुत्व नामक आत्मगुण है जो गोत्रकर्म से आवार्य है। गोत्र-कर्म का कार्य जीवन में उच्च-नीच भाव आरोपित करना है। लोकव्यवहार में जीव जन्म, जातिकुल, देश, रूपरंग और अन्य अनेक निमित्तों से उच्च या नीच रूप में व्यवहृत होते हैं। परंतु सब आत्माएँ समान हैं, उनमें उच्च-नीचपन नहीं है। इस शक्ति और योग्यतामूलक साम्य को स्थिर रखनेवाले सहजगुण या शक्ति को अगुरुलघुत्व कहते हैं।

(ख) अगुरुलघु-नाम नाम-कर्म का एक भेद है। उसका कार्य आगे नामकर्म की चर्चा में आया है।

(ग) 'क' क्रम पर की गई व्याख्यावाला अगुरुलघुत्व केवल आत्मगत है, जब कि प्रस्तुत अगुरुलघु गुण सभी जीव-अजीव द्रव्यों पर लागू होता है। यदि द्रव्य स्वत. परिणमनशील हो तो किसी समय भी ऐसा क्यों नहीं होता कि वह द्रव्य अन्य द्रव्यरूप से भी परिणाम को प्राप्त करे? इसी प्रकार यह प्रश्न भी उठता है कि एक द्रव्य में निहित भिन्न-भिन्न शक्तियाँ (गुण) अपने-अपने परिणाम उत्पन्न करती ही रहती हैं तो कोई एक शक्ति अपने परिणाम की नियतधारा की सीमा से बाहर जाकर अन्य शक्ति के परिणाम को क्यों नहीं पैदा करती? इसी तरह यह प्रश्न भी उठता है कि एक द्रव्य में जो अनेक शक्तियाँ स्वीकृत की गई हैं वे अपना नियत सहचरत्व छोड़कर बिखर क्यों नहीं जातीं? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर अगुरुलघु गुण से दिया जाता है। यह गुण सभी द्रव्यों में नियामक पद भोगता है, जिससे एक भी द्रव्य द्रव्यान्तर नहीं होता, एक भी गुण गुणान्तर का कार्य नहीं करता और नियत सहभावी परस्पर पृथक् नहीं होते।

ग्रन्थों के सुस्पष्ट आधार के अतिरिक्त भी मैंने अगुरुलघु गुण की अंतिम व्याख्या का विचार किया। मैं इसका समाधान ढूँढ रहा था। मुझसे जब कोई पूछता तब यह व्याख्या बतला देता। परंतु समाधान प्राप्त करने की जिज्ञासा तो रहती ही थी। प्रस्तुत टिप्पणी लिखते समय एकाएक स्व० पंडित गोपालदासजी बरैया की जैनसिद्धान्तप्रवेशिका पुस्तक मिल गई। इसमें श्रीयुत बरैयाजी ने भी यही विचार व्यक्त किया है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इतने अंश में मेरे इस विचार को समर्थन प्राप्त हुआ। अतएव

पुद्गल के असाधारण पर्याय

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । २३ ।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्द्योतवन्तश्च । २४ ।

पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले होते हैं।

वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योतवाले भी होते हैं।

बौद्ध दर्शन में पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव के अर्थ में किया जाता है तथा वैशेषिक आदि दर्शनो में पृथ्वी आदि मूर्त द्रव्यो को समान रूप से स्पर्श, रस आदि चतुर्गुण युक्त नही माना गया है किन्तु पृथ्वी को चतुर्गुण, जल को गन्धरहित त्रिगुण, तेज को गन्ध-रसरहित द्विगुण और वायु को मात्र स्पर्शगुण युक्त माना गया है। इसी तरह उन्होने मन में स्पर्श आदि चारो गुण नही माने है। इस प्रकार बौद्ध आदि दर्शनो से मतभेद दर्शाना प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है। इस सूत्र द्वारा यह प्रकट किया गया है कि जैन दर्शन में जीव और पुद्गल तत्त्व भिन्न हैं। इसीलिए पुद्गल शब्द का प्रयोग जीव तत्त्व के लिए नही होता। इसी

मैंने यहाँ इसका उल्लेख किया है। विशिष्ट अभ्यासी अधिक अन्वेषण करें। स्व० बरैयाजी जैन तत्त्वज्ञान के असाधारण ज्ञाता थे।

ऊपर अगुरुलघु गुण के लिए दी गई युक्ति के समान ही एक युक्ति जैन परम्परा में मान्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के समर्थन में दी जाती है। वह तुलनात्मक दृष्टि से जानने योग्य है। जड और चेतन गतिशील होने के कारण आकाश में चाहे जहाँ न चले जायें इसके लिए उक्त दोनों काय नियामक रूप से माने गए हैं और कहा गया है कि इनके कारण गतिशील द्रव्यों की गतिस्थिति लोकक्षेत्र तक मर्यादित रहती है। जिस प्रकार ये दोनों काय गतिस्थिति के नियामक माने गए है उसी प्रकार अगुरुलघु गुण को मानना चाहिए।

गतिस्थिति की मर्यादा के लिए गतिस्थितिशील पदार्थों का स्वभाव ही माना जाय या आकाश का ऐसा स्वभाव माना जाय और उक्त दोनों कार्यों को न मानें तो क्या असंगति है? ऐसा प्रश्न सहज उठता है। परन्तु यह विषय अहेतुवाद का होने से इसमें केवल सिद्ध का समर्थन करने की बात है। यह विषय हेतुवाद या तर्कवाद का नहीं है कि केवल तर्क से इन कार्यों को स्वीकार या अस्वीकार किया जाय। अगुरुलघु गुण के समर्थन के विषय में भी मुख्यरूप से अहेतुवाद का ही आश्रय लेना पड़ता है। हेतुवाद अन्त में अहेतुवाद की पुष्टि के लिए ही है, यह स्वीकार किये बिना नहीं चलता। इस प्रकार सब दर्शनों में कुछ विषय हेतुवाद और अहेतुवाद की मर्यादा में आ जाते हैं।

तरह पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये सभी पुद्गल के रूप में समान हैं अर्थात् ये सभी स्पर्श आदि चतुर्गुण से युक्त हैं। जैन-दर्शन में मन भी पौद्गलिक होने से स्पर्श आदि गुणवाला ही है। स्पर्श आठ प्रकार का है—कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। रस पाँच हैं—कडुवा, चरपरा, कसैला, खट्टा और मीठा। गन्ध दो हैं—सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण पाँच हैं—काला, नीला (हरा), लाल, पीला और सफेद। इस तरह स्पर्श आदि के कुल बीस भेद हैं, पर इनमें से प्रत्येक के संख्यात, असख्यात और अनन्त भेद तरतमभाव से होते हैं। मृदु तो एक गुण है, पर प्रत्येक मृदु वस्तु की मृदुता में कुछ-न-कुछ तरतमता होती है। इस कारण सामान्य रूप से मृदुत्व का स्पर्श एक होने पर भी तारतम्य के अनुसार उसके संख्यात, असख्यात और अनन्त भेद हो जाते हैं। यही बात कठिन आदि अन्य स्पर्श तथा रस आदि अन्य गुणो के विषय में है।

शब्द कोई गुण नही है, जैसे कि वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनो में माना जाता है। वह भाषावर्गणा के पुद्गलो का एक विशिष्ट प्रकार का परिणाम है। निमित्त-भेद से उसके अनेक भेद हो जाते हैं। जो शब्द आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह प्रयोगज है और जो किसी के प्रयत्न के बिना ही उत्पन्न होता है वह वैस्रसिक है, जैसे बादलो की गर्जना। प्रयोगज शब्द के छ प्रकार हैं—१. भाषा—मनुष्य आदि की व्यक्त और पशु, पक्षी आदि की अव्यक्त ऐसी अनेकविध भाषाएँ, २. तत—चमडे से लपेटे हुए वाद्यो का अर्थात् मृदंग, पटह आदि का शब्द, ३. वितत—तारवाले वीणा, सारंगी आदि वाद्यो का शब्द; ४. घन—झालर, घट आदि का शब्द, ५ शुषिर—फूँककर बजाये जानेवाले शख, बाँसुरी आदि का शब्द, ६. संघर्ष—लकडी आदि के घर्षण से उत्पन्न शब्द।

परस्पर आश्लेषरूप बन्ध के भी प्रायोगिक और वैस्रसिक ये दो भेद हैं। जीव और शरीर का सम्बन्ध तथा लाख और लकडी का सम्बन्ध प्रयत्नसापेक्ष होने से प्रायोगिक बन्ध है। बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का प्रयत्न-निरपेक्ष पौद्गलिक संश्लेष वैस्रसिक बन्ध है।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के अन्त्य तथा आपेक्षिक ये दो-दो भेद हैं। जो सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व दोनो एक ही वस्तु में अपेक्षा-भेद से घटित न हों वे अन्त्य और जो घटित हो वे आपेक्षिक है। परमाणुओ का सूक्ष्मत्व और जगद्-व्यापी महास्कन्ध का स्थूलत्व अन्त्य है, क्योकि अन्य पुद्गल की अपेक्षा परमाणुओ में स्थूलत्व और महास्कन्ध में सूक्ष्मत्व घटित नही होता। द्व्यणुक आदि मध्यवर्ती स्कन्धों के सूक्ष्मत्व व स्थूलत्व दोनों आपेक्षिक है, जैसे आँवले का सूक्ष्मत्व और बिल्व का स्थूलत्व। आँवला बिल्व से छोटा है अत. सूक्ष्म है और बिल्व आँवले से बडा है अत. स्थूल

है। परन्तु वही आँवला बेर की अपेक्षा स्थूल है और वही बिल्व कूष्माण्ड की अपेक्षा सूक्ष्म है। इस तरह जैसे आपेक्षिक होने से एक ही वस्तु में सूक्ष्मत्व-स्थूलत्व दोनों विरुद्ध पर्याय होते हैं, वैसे अन्त्य सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व एक वस्तु में नहीं होते।

संस्थान इत्थंत्व और अनित्थंत्व दो प्रकार का है। जिस आकार की किसी के साथ तुलना की जा सके वह इत्थंत्वरूप है और जिसकी तुलना न की जा सके वह अनित्थंत्वरूप है। मेघ आदि का संस्थान (रचना-विशेष) अनित्थंत्वरूप है, क्योंकि अनियत होने से किसी एक प्रकार से उसका निरूपण नहीं किया जा सकता और अन्य पदार्थों का संस्थान इत्थंत्वरूप है, जैसे गेंद, सिंघाड़ा आदि। गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, दीर्घ, परिमण्डल (वलयाकार) आदि रूप में इत्थंत्व-रूप संस्थान के अनेक भेद हैं।

एकत्व अर्थात् स्कन्धरूप में परिणत पुद्गलपिण्ड का विश्लेष (विभाग) होना भेद है। इसके पाँच प्रकार हैं—१. औत्करिक—चीरे या खोदे जाने पर होने वाला लकड़ी, पत्थर आदि का भेदन; २. चौर्णिक—कण-कण रूप में चूर्ण हो जाना, जैसे जौ आदि का सत्तू, आटा आदि; ३. खण्ड—टुकड़े-टुकड़े होकर टूट जाना, जैसे घड़े का कपालादि; ४. प्रतर—परतें या तहें निकलना, जैसे अभ्रक, भोजपत्र आदि; ५. अनुतट—छाल निकलना, जैसे बाँस, ईख आदि।

तम अर्थात् अन्धकार, जो देखने में रुकावट डालनेवाला, प्रकाश का विरोधी एक परिणाम-विशेष है।

छाया प्रकाश के ऊपर आवरण आ जाने से होती है। इसके दो प्रकार हैं—दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में पड़नेवाला बिम्ब जिसमें मुखादि का वर्ण, आकार आदि ज्यों-का-त्यों दिखाई देता है और अन्य अस्वच्छ वस्तुओं पर पड़नेवाली परछाईं प्रतिबिम्बरूप छाया है।

सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश आतप और चन्द्र, मणि, खद्योत आदि का अनुष्ण (शीतल) प्रकाश उद्योत है।

स्पर्श आदि तथा शब्द आदि उपर्युक्त सभी पर्याय पुद्गल के कार्य होने से पौद्गलिक माने जाते हैं।

सूत्र २३ और २४ को अलग करके यह बतलाया गया है कि स्पर्श आदि पर्याय परमाणु और स्कन्ध दोनों में होते हैं, परन्तु शब्द, बन्ध आदि पर्याय केवल स्कन्ध में होते हैं। सूक्ष्मत्व यद्यपि परमाणु व स्कन्ध दोनों का पर्याय है, तथापि उसका परिगणन स्पर्श आदि के साथ न करके शब्द आदि के साथ किया गया है वह इसलिए कि प्रतिपक्षी स्थूलत्व पर्याय के साथ उसके कथन का औचित्य है। २३-२४।

पुद्गल के मुख्य प्रकार

अणवः स्कन्धाश्च । २५ ।

पुद्गल परमाणु और स्कन्धरूप हैं ।

पुद्गल द्रव्य इकाईरूप में अनन्त हैं और उनका वैविध्य भी अपरिमित है, तथापि आगे के दो सूत्रों में पौद्गलिक परिणाम की उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न कारण दर्शाने के लिए यहाँ तदुपयोगी परमाणु और स्कन्ध ये दो प्रकार संक्षेप में निर्दिष्ट हैं । सम्पूर्ण पुद्गलराशि का इन दो प्रकारों में समावेश हो जाता है ।

जो पुद्गल द्रव्य कारणरूप है पर कार्यरूप नहीं है, वह अन्त्य द्रव्य है । ऐसा द्रव्य परमाणु है, जो नित्य, सूक्ष्म और किसी एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श से युक्त होता है । ऐसे परमाणु द्रव्य का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता । उसका ज्ञान आगम या अनुमान से साध्य है । परमाणु का अनुमान कार्यहेतु से माना गया है । जो-जो पौद्गलिक कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब सकारण हैं । इसी प्रकार जो अदृश्य अन्तिम कार्य होगा, उसका भी कारण होना चाहिए, वही कारण परमाणु द्रव्य है । उसका कारण अन्य द्रव्य न होने से उसे अन्तिम कारण कहा गया है । परमाणु द्रव्य का कोई विभाग नहीं होता और न हो सकता है । इसलिए उसका आदि, मध्य और अन्त वह स्वयं ही होता है । परमाणु द्रव्य अबद्ध (असमुदायरूप) होता है ।

स्कन्ध दूसरे प्रकार का पुद्गल द्रव्य है । सभी स्कन्ध बद्ध—समुदायरूप होते हैं और वे अपने कारणद्रव्य की अपेक्षा से कार्यद्रव्यरूप तथा कार्यद्रव्य की अपेक्षा से कारणद्रव्यरूप हैं, जैसे द्विप्रदेश आदि स्कन्ध परमाणु आदि के कार्य हैं और त्रिप्रदेश आदि के कारण हैं । २५ ।

स्कन्ध और अणु की उत्पत्ति के कारण

सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते । २६ ।

भेदादणुः । २७ ।

संघात से, भेद से और संघात-भेद दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं ।

अणु भेद से ही उत्पन्न होता है ।

स्कन्ध (अवयवी) द्रव्य की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है । कोई स्कन्ध संघात (एकत्वपरिणति) से उत्पन्न होता है, कोई भेद से और कोई एक साथ भेद-संघात दोनों निमित्तों से । जब अलग-अलग स्थित दो परमाणुओं के मिलने पर द्विप्रदेशिक स्कन्ध होता है तब वह संघातजन्य कहलाता है । इसी प्रकार तीन,

चार्, संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त परमाणुओं के मिलने मात्र से त्रिप्रदेश, चतुष्प्रदेश, सख्यातप्रदेश, असंख्यातप्रदेश, अनन्तप्रदेश तथा अनन्तानन्त-प्रदेश स्कन्ध बनते हैं जो सभी संघातजन्य हैं। किसी बड़े स्कन्ध के टूटने मात्र से जो छोटे-छोटे स्कन्ध होते हैं वे भेदजन्य हैं। ये भी द्विप्रदेश से अनन्तानन्तप्रदेश तक होते हैं। जब किसी एक स्कन्ध के टूटने पर उसके अवयव के साथ उसी समय दूसरा कोई द्रव्य मिल जाने से नया स्कन्ध बनता है तब वह स्कन्ध भेद-सघातजन्य कहलाता है। ऐसे स्कन्ध भी द्विप्रदेश से लेकर अनन्तानन्तप्रदेश तक हो सकते हैं। दो से अधिक प्रदेशवाले स्कन्ध जैसे तीन, चार आदि अलग-अलग परमाणुओं के मिलने से भी त्रिप्रदेश, चतुष्प्रदेश आदि स्कन्ध होते हैं और द्विप्रदेश स्कन्ध के साथ एक परमाणु मिलने से भी त्रिप्रदेश तथा द्विप्रदेश या त्रिप्रदेश स्कन्ध के साथ अनुक्रम से दो या एक परमाणु मिलने से भी चतुष्प्रदेश स्कन्ध बनता है।

अणु द्रव्य किसी द्रव्य का कार्य नहीं है, इसलिए उसकी उत्पत्ति में दो द्रव्यो का सघात सम्भव नही। यो तो परमाणु नित्य माना गया है, तथापि यहाँ उसकी उत्पत्ति पर्यायदृष्टि से कही गई है, अर्थात् परमाणु द्रव्यरूप में तो नित्य ही है, पर पर्यायदृष्टि से जन्य भी है। परमाणु का कभी स्कन्ध का अवयव बनकर सामुदायिक अवस्था में रहना और कभी स्कन्ध से अलग होकर विशकलित अवस्था में रहना ये सभी परमाणु के पर्याय (अवस्थाविशेष) हैं। विशकलित अवस्था स्कन्ध के भेद से ही उत्पन्न होती है। इसलिए यहाँ भेद से अणु की उत्पत्ति के कथन का अभिप्राय इतना ही है कि विशकलित अवस्थावाला परमाणु भेद का कार्य है, शुद्ध परमाणु नही। २६-२७।

अचाक्षुष स्कन्ध के चाक्षुष बनने मे हेतु

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः। २८।

भेद और संघात से ही चाक्षुष स्कन्ध बनते हैं।

अचाक्षुष स्कन्ध निमित्त पाकर चाक्षुष बन सकता है, इसी का निर्देश इस सूत्र में है।

पुद्गल के परिणाम त्रिविध है, अत. कोई पुद्गल-स्कन्ध अचाक्षुष (चक्षु से अग्राह्य) होता है तो कोई चाक्षुष (चक्षु-ग्राह्य)। जो स्कन्ध पहले सूक्ष्म होने से अचाक्षुष हो वह निमित्तवश सूक्ष्मत्व परिणाम छोड़कर बादर (स्थूल) परिणाम-विशिष्ट बनने से चाक्षुष हो सकता है। उस स्कन्ध के ऐसा होने में भेद तथा संघात दोनो हेतु अपेक्षित हैं। जब किसी स्कन्ध में सूक्ष्मत्व परिणाम की निवृत्ति

से स्थूलत्व परिणाम उत्पन्न होता है तब कुछ नये अणु उस स्कन्ध में मिल जाते है। मिलते ही नही, कुछ अणु उस स्कन्ध से अलग भी हो जाते है। सूक्ष्मत्व परिणाम की निवृत्तिपूर्वक स्थूलत्व परिणाम की उत्पत्ति न केवल संघात अर्थात् अणुओ के मिलने मात्र से होती है और न केवल भेद अर्थात् अणुओ के अलग होने मात्र से। स्थूलत्व (बादरत्व) परिणाम के अतिरिक्त कोई स्कन्ध चाक्षुष होता ही नही। इसीलिए यहाँ नियमपूर्वक कहा गया है कि चाक्षुष स्कन्ध भेद और सघात दोनो से बनता है।

'भेद' शब्द के दो अर्थ है—१. स्कन्ध का टूटना अर्थात् उसमें से अणुओ का अलग होना और २. पूर्व-परिणाम निवृत्त होने से दूसरे परिणाम का उत्पन्न होना। इनमें से पहले अर्थ के अनुसार ऊपर सूत्रार्थ लिखा गया है। दूसरे अर्थ के अनुसार सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है—जब कोई सूक्ष्म स्कन्ध नेत्र-ग्राह्य बादर परिणाम को प्राप्त करता है, अर्थात् अचाक्षुष न रहकर चाक्षुष बनता है, तब उसके ऐसा होने में स्थूल परिणाम अपेक्षित है जो विशिष्ट अनन्ताणु संख्या (संघात) सापेक्ष है। केवल सूक्ष्मत्वरूप पूर्व-परिणाम की निवृत्तिपूर्वक नवीन स्थूलत्व-परिणाम चाक्षुप बनने का कारण नही और केवल विशिष्ट अनन्त संख्या भी चाक्षुष बनने में कारण नही, किन्तु परिणाम (भेद) और उक्त सख्या-सघात दोनो ही स्कन्ध के चाक्षुप बनने में कारण है।

यद्यपि सूत्रगत 'चाक्षुष' पद से तो चक्षु-ग्राह्य स्कन्ध का ही बोध होता है, तथापि यहाँ चक्षु पद से समस्त इन्द्रियो का लाक्षणिक बोध अभिप्रेत है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होता है कि सभी अतीन्द्रिय स्कन्धो के इन्द्रियग्राह्य बनने में भेद और सघात दो ही हेतु अपेक्षित है। पौद्गलिक परिणाम की अमर्यादित विचित्रता के कारण जैसे पहले के अतीन्द्रिय स्कन्ध भी बाद में भेद तथा संघात-रूप निमित्त से इन्द्रियग्राह्य बन जाते है, वैसे ही स्थूल स्कन्ध सूक्ष्म बन जाते हैं। इतना ही नही, पारिणामिक विचित्रता के कारण अधिक इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य स्कन्ध अल्प इन्द्रियग्राह्य बन जाता है। जैसे लवण, हिंगु आदि पदार्थ नेत्र, स्पर्शन, रसना और घ्राण इन चारो इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य होते है, परन्तु जल में गल जाने से केवल रसना और घ्राण इन दो इन्द्रियो से ही ग्रहण हो सकते है।

प्रश्न—स्कन्ध के चाक्षुप बनने में दो कारण बतलाये गए, पर अचाक्षुप स्कन्ध की उत्पत्ति के कारण क्यो नही बतलाये गए ?

उत्तर—सूत्र २६ मे सामान्य रूप से स्कन्ध मात्र की उत्पत्ति के तीन हेतुओ का कथन है। यहाँ तो केवल विशेष स्कन्ध की उत्पत्ति के अर्थात् अचाक्षुप से

चाक्षुष बनने के हेतुओ का विशेष कथन हुआ है। अतः उस सामान्य विधान के अनुसार अचाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति के तीन ही हेतु होते हैं। साराश यह है कि सूत्र २६ के अनुसार भेद, संघात और भेद-सघात इन तीनो हेतुओं से अचाक्षुप स्कन्ध बनते हैं। २८।

'सत्' की व्याख्या

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । २९ ।

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनो से युक्त है वही सत् है ।

'सत्' के स्वरूप के विषय में विभिन्न दर्शनो में मतभेद है। एक दर्शन[1] सम्पूर्ण सत् पदार्थ (ब्रह्म) को केवल ध्रुव (नित्य) ही मानता है। दूसरा दर्शन[2] पदार्थ को निरन्वय क्षणिक (मात्र उत्पाद-विनाशशील) मानता है। तीसरा दर्शन[3] चेतनतत्त्वरूप सत् को तो केवल ध्रुव (कूटस्थनित्य) और प्रकृति तत्त्व-रूप सत् को परिणामिनित्य (नित्यानित्य) मानता है। चौथा दर्शन[4] अनेक सत् पदार्थों में से परमाणु, काल, आत्मा आदि कुछ सत् तत्त्वों को कूटस्थनित्य और घट-पट आदि कुछ सत् को मात्र उत्पाद-व्ययशील (अनित्य) मानता है। परन्तु जैनदर्शन का सत् के स्वरूप से सम्बद्ध मन्तव्य इन मतो से भिन्न है और वही इस सूत्र का विषय है।

जैनदर्शन के अनुसार जो सत् (वस्तु) है वह पूर्ण रूप से केवल कूटस्थ-नित्य या केवल निरन्वयविनाशी या उसका अमुक भाग कूटस्थनित्य और अमुक भाग परिणामिनित्य अथवा उसका कोई भाग मात्र नित्य और कोई भाग मात्र अनित्य नही हो सकता। इसके अनुसार चेतन और जड, अमूर्त और मूर्त, सूक्ष्म और स्थूल, सभी सत् पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रिरूप हैं।

प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते है। एक अंश तो तीनो कालो में शाश्वत रहता हैं और दूसरा अंश सदा अशाश्वत होता है। शाश्वत अश के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक (स्थिर) और अशाश्वत अश के कारण उत्पाद-व्ययात्मक (अस्थिर) कहलाती है। इन दो अंशो में से किसी एक की ओर दृष्टि जाने और दूसरे की ओर न जाने से वस्तु केवल स्थिररूप या केवल अस्थिररूप प्रतीत होती है। परन्तु दोनो अंशो पर दृष्टि डालने से ही वस्तु का पूर्ण और यथार्थ स्वरूप

---

१. वेदान्त—औपनिषदिक शाङ्करमत।

२. बौद्ध। ३. साख्य।

४. न्याय, वैशेषिक।

ज्ञात हो सकता है इसलिए दोनों दृष्टियों के अनुसार ही इस सूत्र में सत् (वस्तु) का स्वरूप प्रतिपादित है । २९ ।

विरोध-परिहार एवं परिणामिनित्यत्व का स्वरूप

तद्भावाव्ययं नित्यम् । ३० ।

जो अपने भाव से (अपनी जाति से) च्युत न हो वही नित्य है ।

पिछले सूत्र में कहा गया कि एक ही वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है अर्थात् स्थिरास्थिर (उभयरूप) है। परन्तु प्रश्न होता है कि यह कैसे सम्भव है ? जो स्थिर है वह अस्थिर कैसे ? जो अस्थिर है वह स्थिर कैसे ? एक ही वस्तु में स्थिरत्व और अस्थिरत्व दोनो अंश शीत-उष्ण की भाँति परस्परविरुद्ध होने से एक ही समय में हो नही सकते । इसलिए क्या सत् की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक व्याख्या विरुद्ध नही है ? इस विरोध के परिहारार्थ जैन दर्शन सम्मत नित्यत्व का स्वरूप प्रतिपादित करना ही इस सूत्र का उद्देश्य है ।

यदि कुछ अन्य दर्शनो की भाँति जैन दर्शन भी वस्तु का स्वरूप यह मानता कि 'किसी भी प्रकार से परिवर्तन को प्राप्त किये बिना ही वस्तु सदा एक रूप में अवस्थित रहती है' तो इस कूटस्थनित्यत्व में अनित्यत्व सम्भव न होने से एक ही वस्तु में स्थिरत्व और अस्थिरत्व का विरोध आता । इसी प्रकार अगर जैन दर्शन वस्तु को मात्र क्षणिक अर्थात् प्रति क्षण उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली मानकर उसका कोई स्थायी आधार न मानता तो भी उत्पाद-व्ययशील अनित्यपरिणाम में नित्यत्व सम्भव न होने से उक्त विरोध आता । परन्तु जैन दर्शन किसी वस्तु को केवल कूटस्थनित्य या परिणामिमात्र न मानकर परिणामिनित्य मानता है। इसलिए सभी तत्त्व अपनी-अपनी जाति में स्थिर रहते हुए भी निमित्त के अनुसार परिवर्तन (उत्पाद-व्यय) प्राप्त करते हैं । अतएव प्रत्येक वस्तु में मूल जाति (द्रव्य) की अपेक्षा से ध्रौव्य और परिणाम की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय के घटित होने में कोइ विरोध नही है । जैन दर्शन का परिणामिनित्यत्ववाद सांख्य दर्शन की तरह केवल जड (प्रकृति) तक ही सीमित नही है, किन्तु वह चेतन तत्त्व पर भी घटित होता है ।

सब तत्त्वो में व्यापक रूप से परिणामिनित्यत्ववाद को स्वीकार करने के लिए मुख्य साधक प्रमाण अनुभव है । सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कोई ऐसा तत्त्व अनुभव में नही आता जो केवल अपरिणामी हो या मात्र परिणामरूप हो । बाह्य और आभ्यन्तरिक सभी वस्तुएँ परिणामिनित्य ही प्रतीत होती हैं । यदि सभी वस्तुएँ मात्र क्षणिक हो तो प्रत्येक क्षण में नई-नई वस्तु उत्पन्न तथा नष्ट होवे तथा उसका

कोई स्थायी आधार न होने से उस क्षणिक परिणाम-परम्परा में सजातीयता का कभी अनुभव नहीं होगा अर्थात् पहले देखी हुई वस्तु को फिर से देखने पर जो 'यह वही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है वह न होगा, क्योंकि जैसे प्रत्यभिज्ञान के लिए उसकी विषयभूत वस्तु का स्थिरत्व आवश्यक है, वैसे ही द्रष्टा आत्मा का स्थिरत्व भी आवश्यक है। इसी प्रकार यदि जड या चेतन तत्त्व मात्र निर्विकार हो तो इन दोनों तत्त्वो के मिश्रणरूप जगत् में प्रतिक्षण दिखाई देनेवाली विविधता कभी उत्पन्न न होगी। अत. परिणामिनित्यत्ववाद को जैन दर्शन युक्ति-संगत मानता है।

व्याख्यान्तर से सत् का नित्यत्व

तद्भावाव्ययं नित्यम्

सत् अपने भाव से च्युत न होने से नित्य है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होना ही वस्तुमात्र का स्वरूप है और यही सत् है। सत्-स्वरूप नित्य है अर्थात् वह तीनों कालो में एक-सा अवस्थित रहता है। ऐसा नहीं है कि किसी वस्तु में या वस्तुमात्र में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य कभी हो और कभी न हो। प्रत्येक समय में उत्पादादि तीनो अंश अवश्य होते है। यही सत् का नित्यत्व है।

अपनी-अपनी जाति को न छोडना सभी द्रव्यो का ध्रौव्य है और प्रत्येक समय में भिन्न-भिन्न परिणामरूप से उत्पन्न और नष्ट होना उत्पाद-व्यय है। ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय का चक्र द्रव्यमात्र में सदा चलता रहता है। उस चक्र मे से कभी कोई अंश लुप्त नही होता, यही इस सूत्र में कहा गया है। पूर्व सूत्र मे ध्रौव्य का कथन द्रव्य के अन्वयी (स्थायी) अंश मात्र को लेकर है और इस सूत्र में नित्यत्व का कथन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनो अशो के अविच्छिन्नत्व को लेकर है। यही पूर्व सूत्र में कथित ध्रौव्य और इस सूत्र में कथित नित्यत्व में अन्तर है। ३०।

अनेकान्त-स्वरूप का समर्थन

अर्पितानर्पितसिद्धेः। ३१।

प्रत्येक वस्तु अनेकधर्मात्मक है, क्योकि अर्पित—अर्पणा अर्थात् अपेक्षा-विशेष से और अनर्पित—अनर्पणा अर्थात् अपेक्षान्तर से विरोधी स्वरूप सिद्ध होता है।

परस्पर विरुद्ध किन्तु प्रमाण-सिद्ध धर्मों का समन्वय एक वस्तु में कैसे हो सकता है, तथा विद्यमान अनेक धर्मों में से कभी एक का और कभी दूसरे का प्रतिपादन क्यो होता है, यही इस सूत्र में दर्शाया गया है।

'आत्मा सत् है' इस प्रतीति या उक्ति में सत्त्व का जो भान होता है वह सब प्रकार से घटित नही हो सकता। यदि ऐसा हो तो आत्मा चेतना आदि स्व-रूप की भाँति घटादि पर-रूप से भी सत् सिद्ध होगी अर्थात् उसमें चेतना की तरह घटत्व भी भासमान होगा जिससे उसका विशिष्ट स्वरूप सिद्ध ही न होगा। विशिष्ट स्वरूप का अर्थ ही यह है कि वह स्व-रूप से सत् और पर-रूप से असत् है। इस प्रकार अपेक्षा-विशेष से सत्त्व और अपेक्षान्तर से असत्त्व ये दोनों धर्म आत्मा में सिद्ध होते है। सत्त्व-असत्त्व की भाँति नित्यत्व-अनित्यत्व धर्म भी उसमें सिद्ध है। द्रव्य (सामान्य) दृष्टि से नित्यत्व और पर्याय (विशेष) दृष्टि से अनित्यत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले, परन्तु अपेक्षा-भेद से सिद्ध और भी एकत्व-अनेकत्व आदि धर्मो का समन्वय आत्मा आदि सब वस्तुओ में अबाधित है। इसलिए सभी पदार्थ अनेकधर्मात्मक माने जाते है।

व्याख्यान्तर

अर्पितानर्पितसिद्धेः

प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकार से व्यवहार्य है, क्योकि अर्पणा और अन-र्पणा से अर्थात् विवक्षा के अनुसार प्रधान एव अप्रधान भाव से व्यव-हार की सिद्धि (उपपत्ति) होती है।

अपेक्षाभेद से सिद्ध अनेक धर्मो में से भी कभी किसी एक धर्म द्वारा और कभी उसके विरोधी दूसरे धर्म द्वारा वस्तु का व्यवहार होता है जो अप्रामाणिक या बाधित नही है, क्योकि विद्यमान सब धर्म भी एक साथ विवक्षित नही होते। प्रयोजनानुसार कभी एक की और कभी दूसरे की विवक्षा होती है। जिस समय जिसकी विवक्षा हो उस समय वह प्रधान और दूसरा अप्रधान होता है। जो कर्म का कर्ता है वही उसके फल का भोक्ता होता है। इस कर्म और तज्जन्य फल के सामानाधिकरण्य को दिखाने के लिए आत्मा में द्रव्यदृष्टि से सिद्ध नित्यत्व की विवक्षा की जाती है। उस समय उसका पर्यायदृष्टि से सिद्ध अनित्यत्व विवक्षित न होने से गौण होता है, परन्तु कर्तृत्वकाल की अपेक्षा भोक्तृत्व काल में आत्मा की अवस्था में परिवर्तन हो जाता है। इस कर्मकालीन और फलकालीन अवस्थाभेद को दिखाने के लिए जब पर्यायदृष्टि से सिद्ध अनित्यत्व का प्रतिपादन किया जाता है तब द्रव्यदृष्टि से सिद्ध नित्यत्व प्रधान नही रहता। इस

प्रकार विवक्षा और अविवक्षा के कारण कभी आत्मा को नित्य कहा जाता है और कभी अनित्य। जब दोनों धर्मों की विवक्षा एक साथ की जाती है तब दोनो का युगपत् प्रतिपादन करनेवाला वाचक शब्द न होने के कारण आत्मा को अवक्तव्य कहा जाता है। विवक्षा, अविवक्षा और सहविवक्षा के आश्रित उक्त तीन वाक्य-रचनाओ के पारस्परिक विविध मिश्रण से और भी चार वाक्य-रचनाएँ बनती है। जैसे. नित्य-अनित्य, नित्य-अवक्तव्य, अनित्य-अवक्तव्य और नित्य-अनित्य-अवक्तव्य। इन सात वाक्य-रचनाओ को सप्तभंगी कहा जाता है। इनमें प्रथम तीन वाक्य और इनमें भी दो वाक्य मूलभूत है। जैसे भिन्न-भिन्न दृष्टि से सिद्ध नित्यत्व और अनित्यत्व को लेकर विवक्षावश किसी एक वस्तु में सप्तभंगी घटित की जा सकती है, वैसे और भी भिन्न-भिन्न दृष्टिसिद्ध किन्तु परस्पर विरुद्ध दीखनेवाले सत्त्व असत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, वाच्यत्व-अवाच्यत्व आदि धर्मयुग्मो को लेकर सप्तभंगी घटित करनी चाहिए। इस प्रकार एक ही वस्तु अनेकधर्मात्मक एव अनेक व्यवहारो की विषय मानी गई है। ३१।

पौद्गलिक बन्ध के हेतु

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः । ३२ ।

स्निग्धत्व और रूक्षत्व से बन्ध होता है।

पौद्गलिक स्कन्ध की उत्पत्ति उसके अवयवभूत परमाणु आदि के पारस्परिक संयोग मात्र से नही होती। इसके लिए सयोग के अतिरिक्त और भी कुछ अपेक्षित होता है। यही इस सूत्र में दर्शाया गया है। अवयवो के पारस्परिक सयोग के उपरान्त उनमें स्निग्धत्व (चिकनापन), रूक्षत्व (रूखापन) गुण का होना भी आवश्यक है। जब स्निग्ध और रूक्ष अवयव आपस में मिलते है तब उनका बन्ध (एकत्वपरिणाम) होता है, इसी बन्ध से द्व्यणुक आदि स्कन्ध बनते है।

स्निग्ध और रूक्ष अवयवो का श्लेष सदृश और विसदृश दो प्रकार का होता है। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ श्लेष सदृश श्लेष है। स्निग्ध का रूक्ष के साथ श्लेष विसदृश श्लेष है। ३२।

बन्ध के सामान्य विधान के अपवाद

न जघन्यगुणानाम् । ३३ ।
गुणसाम्ये सदृशानाम् । ३४ ।
द्व्यधिकादिगुणानां तु । ३५ ।

जघन्य गुण अर्थात् अंशवाले स्निग्ध और रूक्ष अवयवों का बन्ध नही होता।

समान अंश होने पर सदृश अर्थात् स्निग्ध के साथ स्निग्ध अवयवों का तथा रूक्ष के साथ रूक्ष अवयवों का बन्ध नही होता।

दो अंश अधिकवाले आदि अवयवो का बन्ध होता है।

इन सूत्रों में से पहला सूत्र बन्ध का निषेधक है। इसके अनुसार जिन परमाणुओं में स्निग्धत्व या रूक्षत्व का अंश जघन्य हो उन जघन्यगुण परमाणुओं का पारस्परिक बन्ध नही होता। इस निषेध से यह फलित होता है कि मध्यम और उत्कृष्टसंख्यक अंशोवाले स्निग्ध व रूक्ष सभी अवयवों का पारस्परिक बन्ध हो सकता है। परन्तु इसमें भी अपवाद है, जिसका वर्णन आगे के सूत्र में है। उसके अनुसार समान अशवाले सदृश अवयवो का पारस्परिक बन्ध नही होता। इससे समान अंशोवाले स्निग्ध तथा रूक्ष परमाणुओं का स्कन्ध नही बनता। इस निषेध का भी फलित अर्थ यह है कि असमान गुणवाले सदृश अवयवो का बन्ध होता है। इस फलित अर्थ का संकोच करके तीसरे सूत्र में सदृश अवयवो के असमान अंशो की बन्धोपयोगी मर्यादा नियत की गई है। तदनुसार असमान अंशवाले सदृश अवयवो में भी जब एक अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो अंश, तीन अंश, चार अंश आदि अधिक हो तभी उन दो सदृश अवयवो का बन्ध होता है। इसलिए यदि एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व की अपेक्षा दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व केवल एक अश अधिक हो तो उन दो सदृश अवयवो का बन्ध नही होता।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ में प्रस्तुत तीनो सूत्रों में पाठभेद नही है, पर अर्थभेद अवश्य है। अर्थभेद की दृष्टि से ये तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं— १ जघन्यगुण परमाणु एक सख्यावाला हो, तब बन्ध का होना या न होना, २ सूत्र ३५ के 'आदि' पद से तीन आदि सख्या ली जाय या नही, ३ सूत्र ३५ का बन्धविधान केवल सदृश अवयवो के लिए माना जाय अथवा नही।

१ भाष्य और वृत्ति के अनुसार दोनों परमाणु जब जघन्य गुणवाले हों तभी उनका बन्ध निषिद्ध है, अर्थात् एक परमाणु जघन्यगुण हो और दूसरा जघन्य-गुण न हो तभी उनका बन्ध होता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार जघन्यगुण युक्त दो परमाणुओं के पारस्परिक बन्ध की तरह एक जघन्यगुण परमाणु का दूसरे अजघन्यगुण परमाणु के साथ भी बन्ध नही होता।

२. भाष्य और वृत्ति के अनुसार सूत्र ३५ के 'आदि' पद का तीन आदि संख्या अर्थ लिया जाता है। अतएव उसमें किसी एक अवयव से दूसरे अवयव में स्निग्धत्व या रूक्षत्व के अंश दो, तीन, चार तथा बढ़ते-बढ़ते संख्यात, असंख्यात,

अनन्त अधिक होने पर भी बन्ध माना जाता है, केवल एक अंश अधिक होने पर बन्ध नही माना जाता। परन्तु सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार केवल दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है, अर्थात् एक अश की तरह तीन, चार और संख्यात, असंख्यात, अनन्त अंश अधिक होने पर बन्ध नही माना जाता।

३. भाष्य और वृत्ति के अनुसार सूत्र ३५ में दो, तीन आदि अशो के अधिक होने पर बन्ध का विधान सदृश अवयवो पर ही लागू होता है, परन्तु दिगम्बर व्याख्याओ में वह विधान सदृश की भाँति असदृश परमाणुओ के बन्ध पर भी लागू होता है।

इस अर्थभेद के कारण दोनों परम्पराओं में बन्ध विषयक जो विधि-निषेध फलित होता है वह आगे के कोष्ठको से स्पष्ट है :

भाष्य-वृत्त्यनुसार

गुण-अंश	सदृश	विसदृश
१. जघन्य + जघन्य	नही	नही
२. जघन्य + एकाधिक	नही	है
३ जघन्य + द्वयधिक	है	है
४. जघन्य + त्र्यादि अधिक	है	है
५ जघन्येतर + सम जघन्येतर	नही	है
६ जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नही	है
७. जघन्येतर + द्वयधिक जघन्येतर	है	है
८. जघन्येतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	है	है

सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थो के अनुसार

गुण-अंश	सदृश	विसदृश
१ जघन्य + जघन्य	नही	नही
२. जघन्य + एकाधिक	नही	नही
३. जघन्य + द्वयधिक	नही	नही
४ जघन्य + त्र्यादि अधिक	नही	नही
५. जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	नही
६. जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नही	नही
७ जघन्येतर + द्वयधिक जघन्येतर	है	है
८ जघन्येतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नही	नही

स्निग्धत्व और रूक्षत्व दोनो स्पर्श-विशेष है। ये अपनी-अपनी जाति की अपेक्षा एक-एक रूप होने पर भी परिणमन की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के होते है। तरतमता यहाँ तक होती है कि निकृष्ट स्निग्धत्व और निकृष्ट रूक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रूक्षत्व के बीच अनन्तानन्त अशो का अन्तर रहता है, जैसे बकरी और ऊँटनी के दूध के स्निग्धत्व में। स्निग्धत्व दोनों में ही होता है परन्तु एक में अत्यल्प होता है और दूसरे में अत्यधिक। तरतमतावाले स्निग्धत्व और रूक्षत्व परिणामो में जो परिणाम सबसे निकृष्ट अर्थात् अविभाज्य हो उसे जघन्य अंश कहते है। जघन्य को छोड़कर शेष सभी जघन्येतर कहे जाते है। जघन्येतर में मध्यम और उत्कृष्ट संख्या आ जाती है। सबसे अधिक स्निग्धत्व परिणाम उत्कृष्ट है और जघन्य तथा उत्कृष्ट के बीच के सभी परिणाम मध्यम है। जघन्य स्निग्धत्व की अपेक्षा उत्कृष्ट स्निग्धत्व अनन्तानन्त गुना-अधिक होने से यदि जघन्य स्निग्धत्व को एक अंश कहा जाय तो उत्कृष्ट स्निग्धत्व को अनन्तानन्त अंशपरिमित मानना चाहिए। दो, तीन यावत् संख्यात, असंख्यात, अनन्त और एक कम उत्कृष्ट तक के सभी अश मध्यम है।

यहाँ सदृश का अर्थ है स्निग्ध का स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्ध होना और विसदृश का अर्थ है स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होना। एक अश जघन्य है और उससे एक अधिक अर्थात् दो अंश एकाधिक है। दो अश अधिक हो तब द्व्यधिक और तीन अंश अधिक हों तब त्र्यधिक। इसी तरह चार अश अधिक होने पर चतुरधिक यावत् अनन्तानन्त-अधिक कहलाता है। सम अर्थात् समसख्या। दोनो ओर अशो की सख्या समान हो तब वह सम है। दो अंश जघन्येतर का सम जघन्येतर दो अंश है, दो अश जघन्येतर का एकाधिक जघन्येतर तीन अंश है, दो अंश जघन्येतर का द्व्यधिक जघन्येतर चार अश हैं, दो अश जघन्येतर का त्र्यधिक जघन्येतर पाँच अंश हैं और चतुर-धिक जघन्येतर छ अंश है। इसी प्रकार तीन आदि से अनन्तांश जघन्येतर तक के सम, एकाधिक, द्व्यधिक और त्र्यादि अधिक जघन्येतर होते हैं। ३३–३५।

परिणाम का स्वरूप

बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ[1]। ३६।

बन्ध के समय सम और अधिक गुण, सम तथा हीन गुण के परिण-मन करानेवाले होते हैं।

[1] दिगम्बर परम्परा में 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च' सूत्रपाठ है। तदनुसार एक सम का दूसरे सम को अपने स्वरूप में मिलाना इष्ट नहीं है। केवल अधिक का हीन को अपने स्वरूप मे मिला लेना ही इष्ट है।

प्रश्न—बन्ध के विधि और निषेध का वर्णन तो हुआ, किन्तु जिन सदृश परमाणुओं का या विसदृश परमाणुओं का बन्ध होता है उनमें कौन किसको परिणत करता है ?

उत्तर—समांश स्थल में सदृश बन्ध तो होता ही नहीं, विसदृश होता है, जैसे दो अंश स्निग्ध का दो अंश रूक्ष के साथ या तीन अंश स्निग्ध का तीन अंश रूक्ष के साथ। ऐसे स्थल में कोई एक सम दूसरे सम को अपने रूप में परिणत कर लेता है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार कभी स्निग्धत्व रूक्षत्व को स्निग्धत्व में बदल देता है और कभी रूक्षत्व स्निग्धत्व को रूक्षत्व में बदल देता है। परंतु अधिकांश स्थल में अधिकांश ही हीनांश को अपने स्वरूप में बदल सकता है, जैसे पंचांश स्निग्धत्व तीन अंश स्निग्धत्व को अपने रूप में परिणत करता है अर्थात् तीन अंश स्निग्धत्व भी पाँच अंश स्निग्धत्व के सम्बन्ध से पाँच अंश परिमाण हो जाता है। इसी प्रकार पाँच अंश स्निग्धत्व तीन अंश रूक्षत्व को भी स्व-स्वरूप में मिला लेता है अर्थात् रूक्षत्व स्निग्धत्व में बदल जाता है। रूक्षत्व अधिक हो तो वह अपने से कम स्निग्धत्व को अपने रूप का बना लेता है। ३६।

द्रव्य का लक्षण

गुणपर्यायवद् द्रव्यम् । ३७ ।

द्रव्य गुण-पर्यायवाला है।

द्रव्य का उल्लेख पहले अनेक बार आया है, इसलिए उसका लक्षण यहाँ बतलाया गया है।

जिसमें गुण और पर्याय हो वह द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामी स्वभाव के कारण समय-समय में निमित्तानुसार भिन्न-भिन्न रूप में परिणत होता रहता है अर्थात् विविध परिणामों को प्राप्त करता रहता है। द्रव्य में परिणाम-जनन की शक्ति ही उसका गुण है और गुणजन्य परिणाम पर्याय है। गुण कारण है और पर्याय कार्य। एक द्रव्य में शक्ति-रूप अनन्त गुण होते हैं जो वस्तुतः आश्रयभूत द्रव्य से या परस्पर में अविभाज्य हैं। प्रत्येक गुण-शक्ति के भिन्न-भिन्न समयों में होनेवाले त्रैकालिक पर्याय अनन्त हैं। द्रव्य और उसकी अंशभूत शक्तियाँ उत्पन्न तथा विनष्ट न होने से नित्य अर्थात् अनादि-अनन्त हैं, परन्तु सभी पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न तथा नष्ट होते रहने से व्यक्तिशः अनित्य अर्थात् सादि-सान्त हैं, और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं। कारणभूत एक शक्ति के द्वारा द्रव्य में होनेवाला त्रैकालिक पर्याय-प्रवाह भी सजातीय है। द्रव्य में अनन्त शक्तियों से तज्जन्य अनन्त पर्याय-प्रवाह भी एक साथ चलते रहते हैं। भिन्न-

भिन्न शक्तिजन्य विजातीय पर्याय एक समय में एक द्रव्य में होते हैं, परन्तु एक शक्तिजन्य भिन्न-भिन्न समयभावी सजातीय पर्याय एक द्रव्य में एक समय में नहीं होते।

आत्मा और पुद्गल द्रव्य हैं, क्योंकि उनमें क्रमशः चेतना आदि तथा रूप आदि अनन्त गुण हैं और ज्ञान-दर्शनरूप विविध उपयोग आदि तथा नील, पीत आदि विविध अनन्त पर्याय हैं। आत्मा चेतनाशक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न उपयोगरूप में और पुद्गल रूपशक्ति द्वारा भिन्न भिन्न नील, पीत आदि के रूप में परिणत होता रहता है। चेतनाशक्ति आत्म द्रव्य से और आत्मगत अन्य शक्तियो से अलग नही की जा सकती। इसी प्रकार रूपशक्ति पुद्गल द्रव्य से तथा पुद्गलगत अन्य शक्तियो से पृथक् नहीं हो सकती। ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न समयवर्ती विविध उपयोगो के त्रैकालिक प्रवाह की कारणभूत एक चेतना-शक्ति है और उस शक्ति का कार्यभूत पर्याय-प्रवाह उपयोगात्मक है। पुद्गल में भी कारणभूत रूपशक्ति और नील, पीत आदि विविध वर्णपर्यायप्रवाह उस एक शक्ति का कार्य है। आत्मा में उपयोगात्मक पर्याय-प्रवाह की तरह सुख-दुःख वेदनात्मक पर्याय-प्रवाह, प्रवृत्यात्मक पर्याय-प्रवाह आदि अनन्त पर्याय-प्रवाह एक साथ चलते हैं। इसलिए उसमें चेतना की भाँति उस-उस सजातीय पर्याय-प्रवाह की कारणभूत आनन्द, वीर्य आदि एक-एक शक्ति के मानने से अनन्त शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार पुद्गल में भी रूपपर्याय-प्रवाह की भाँति गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त पर्याय-प्रवाह सतत चलते हैं। इसलिए प्रत्येक प्रवाह की कारणभूत एक-एक शक्ति के मानने से उसमें रूपशक्ति की भाँति गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। आत्मा में चेतना, आनन्द, वीर्य आदि शक्तियों के भिन्न-भिन्न विविध पर्याय एक समय में हो सकते हैं परन्तु एक चेतनाशक्ति या एक आनन्दशक्ति के विविध उपयोग पर्याय या विविध वेदना पर्याय एक समय मे नही हो सकते, क्योंकि प्रत्येक शक्ति का एक समय में एक ही पर्याय व्यक्त होता है। इसी प्रकार पुद्गल में भी रूप, गन्ध आदि भिन्न-भिन्न शक्तियो के भिन्न-भिन्न पर्याय एक समय में होते हैं परन्तु एक रूपशक्ति के नील, पीत आदि विविध पर्याय एक समय में नहीं होते। जिस प्रकार आत्मा और पुद्गल द्रव्य नित्य हैं उसी प्रकार उनकी चेतना आदि तथा रूप आदि शक्तियाँ भी नित्य हैं। चेतनाजन्य उपयोग-पर्याय या रूपशक्ति-जन्य नील-पीतपर्याय नित्य नही है, किन्तु सदैव उत्पत्ति-विनाशशील होने से इकाई के रूप में अनित्य हैं और उपयोग-पर्याय-प्रवाह तथा रूप-पर्याय-प्रवाह त्रैकालिक होने से नित्य हैं।

अनन्त गुणो का अखंड समुदाय ही द्रव्य है, तथापि आत्मा के चेतना, आनन्द

चारित्र, वीर्य आदि परिमित गुण ही साधारणबुद्धि छद्मस्थ की कल्पना में आते हैं, सब गुण नही। इसी प्रकार पुद्गल के भी रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि कुछ ही गुण कल्पना में आते है, सब गुण नही। कारण यह है कि आत्मा या पुद्गल द्रव्य के समस्त पर्यायप्रवाहो को जानना विशिष्ट ज्ञान के विना सम्भव नही। जो-जो पर्याय-प्रवाह साधारणबुद्धिगम्य हैं उनके कारणभूत गुणों का व्यवहार किया जाता है, इसलिए वे गुण विकल्प्य है। आत्मा के चेतना, आनन्द, चारित्र, वीर्य आदि गुण विकल्प्य अर्थात् विचार व वाणी के गोचर हैं और पुद्गल के रूप आदि गुण विकल्प्य है। शेष सब अविकल्प्य है जो केवल-ज्ञानगम्य ही है।

त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों के एक-एक प्रवाह की कारणभूत एक-एक शक्ति (गुण) और ऐसी अनन्त शक्तियो का समुदाय द्रव्य है, यह कथन भी भेद-सापेक्ष है। अभेददृष्टि से पर्याय अपने-अपने कारणभूत गुणस्वरूप और गुण द्रव्य-स्वरूप होने से द्रव्य गुणपर्यायात्मक ही कहा जाता है।

द्रव्य में सब गुण समान नही हैं। कुछ साधारण होते है अर्थात् सब द्रव्यो में पाये जाते है, जैसे अस्तित्व, प्रदेशत्व, ज्ञेयत्व आदि और कुछ असाधारण होते है अर्थात् एक-एक द्रव्य में पाये जाते है जैसे चेतना, रूप आदि। असा-धारण गुण और तज्जन्य पर्याय के कारण ही प्रत्येक द्रव्य एक-दूसरे से भिन्न है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय द्रव्यो के गुण तथा पर्यायो का विचार भी इसी प्रकार करना चाहिए। यहाँ यह बात ज्ञातव्य है कि पुद्गल द्रव्य मूर्त है, अत उसके गुण तथा पर्याय गुरु-लघु कहे जाते हैं। परन्तु शेष सब द्रव्य अमूर्त है अत उनके गुण और पर्याय अगुरुलघु कहे जाते है। ३७।

काल तथा उसके पर्याय

कालश्चेत्येके[1]। ३८।

सोऽनन्तसमयः। ३९।

कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं।

वह अनन्त समयवाला है।

---

१. दिगम्बर परम्परा में 'कालश्च' सूत्रपाठ है। तदनुसार वहाँ काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। यहाँ प्रस्तुत सूत्र को एकदेशीय मत-परक न मानकर सिद्धान्तरूप से ही काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने का सूत्रकार का तात्पर्य बतलाया गया है। जो काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते और जो मानते है वे सब अपने-अपने मन्तव्य की पुष्टि किस प्रकार करते हैं, काल का स्वरूप कैसा बतलाते है, इसमें और भी कितने मतभेद है इत्यादि बातों को विशेष रूप से जानने के लिए देखें—हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ, काल-विषयक परिशिष्ट, पृ० १५७।

पहले काल के वर्त्तना आदि अनेक पर्याय कहे गए हैं, परन्तु धर्मास्तिकाय आदि की भाँति उसमें द्रव्यत्व का विधान नहीं किया गया।[1] इसलिए प्रश्न उठता है कि क्या पहले विधान न करने से काल द्रव्य नहीं है ? अथवा वर्त्तना आदि पर्यायों का वर्णन करने से काल की गणना द्रव्य में हो जाती है ? इन प्रश्नों का उत्तर यहाँ दिया जा रहा है।

सूत्रकार कहते हैं कि कोई आचार्य काल को द्रव्य मानते हैं। सूत्रकार का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि काल का स्वतन्त्र द्रव्यत्व सर्वसम्मत नहीं है।

काल को स्वतन्त्र द्रव्य माननेवाले आचार्य के मत का निराकरण सूत्रकार ने नहीं किया, उसका उल्लेखमात्र कर दिया है। यहाँ सूत्रकार कहते हैं कि काल अनन्त पर्यायवाला है। काल के वर्त्तना आदि पर्यायों का कथन तो पहले हो चुका है। समयरूप पर्याय भी काल के ही हैं। वर्तमानकालीन समयपर्याय तो एक ही होता है, परन्तु अतीत, अनागत समय के पर्याय अनन्त होते हैं। इसीलिए काल को अनन्त समयवाला कहा गया है। ३८-९।

गुण का स्वरूप

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः । ४० ।

जो द्रव्य मे सदा रहनेवाले और गुणरहित हैं वे गुण हैं।

द्रव्य के लक्षण में गुण का कथन आ गया है,[2] इसलिए यहाँ उसका स्वरूप बतलाया जा रहा है।

पर्याय भी द्रव्य के ही आश्रित और निर्गुण हैं फिर भी उत्पाद-विनाशशील होने से द्रव्य में सदा नहीं रहते, पर गुण तो नित्य होने से सदा द्रव्याश्रित होते हैं। गुण और पर्याय में यही अन्तर है।

द्रव्य में सदा वर्तमान शक्तियाँ ही गुण हैं, जो पर्याय की जनक मानी जाती हैं। उन गुणो में पुन गुणान्तर या शक्त्यन्तर मानने से अनवस्था दोष आता है, इसलिए द्रव्यनिष्ठ शक्तिरूप गुण निर्गुण ही माने गए हैं। आत्मा के गुण चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र, आनन्द, वीर्य आदि और पुद्गल के गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि हैं।

परिणाम का स्वरूप

तद्भावः परिणामः । ४१ ।

उसका होना अर्थात् स्वरूप में स्थित रहते हुए उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है।

---

१. देखें—अ० ५, सू० २२।
२. देखें—अ० ५, सू० ३७।

'पहले कई स्थलो पर परिणाम का भी कथन आ चुका है ।[1] अत. यहाँ उसका स्वरूप दर्शाया जा रहा है ।

बौद्ध दर्शन के अनुसार वस्तुमात्र क्षणस्थायी और निरन्वयविनाशी है । इसके अनुसार परिणाम का अर्थ उत्पन्न होकर सर्वथा नष्ट हो जाना अर्थात् नाश के बाद किसी तत्त्व का स्थित न रहना फलित होता है । नैयायिक आदि भेदवादी दर्शनों के अनुसार—जो कि गुण और द्रव्य का एकान्त भेद मानते है—'सर्वथा अविकृत द्रव्य में गुणो का उत्पन्न तथा नष्ट होना' परिणाम का अर्थ फलित होता है । इन दोनों मतो से भिन्न परिणाम के स्वरूप के सम्बन्ध में जैन दर्शन का मन्तव्यभेद ही इस सूत्र में दर्शाया गया है ।

कोई द्रव्य अथवा गुण सर्वथा अविकृत नही होता । विकृत अर्थात् अवस्थान्तरो को प्राप्त होते रहने पर भी कोई द्रव्य अथवा गुण अपनी मूल जाति (स्वभाव) का त्याग नही करता । साराश यह है कि द्रव्य या गुण अपनी-अपनी जाति का त्याग किये बिना प्रतिसमय निमित्तानुसार भिन्न भिन्न अवस्थाओ को प्राप्त होते रहते हैं । यही द्रव्यो तथा गुणो का परिणाम है ।

आत्मा मनुष्य के रूप में हो या पशु-पक्षी के रूप में, चाहे जिन अवस्थाओ में रहने पर भी उसमें आत्मत्व बना रहता है । इसी प्रकार ज्ञानरूप साकार उपयोग हो या दर्शनरूप निराकार उपयोग, घट-विषयक ज्ञान हो या पट-विषयक, सब उपयोग-पर्यायों में चेतना बनी ही रहती है । चाहे द्वयणुक अवस्था हो या त्र्यणुक आदि, पर उन अनेक अवस्थाओं में भी पुद्गल अपने पुद्गलपन को नही छोडता । इसी प्रकार शुक्ल रूप बदलकर कृष्ण हो, या कृष्ण बदलकर पीत हो, उन विविध वर्णपर्यायो में रूपत्व-स्वभाव स्थित रहता है । यही बात प्रत्येक द्रव्य और उसके प्रत्येक गुण के विषय में है । ४१ ।

परिणाम के भेद तथा आश्रयविभाग

अनादिरादिमांश्च । ४२ ।

रूपिष्वादिमान् । ४३ ।

योगोपयोगौ जीवेषु । ४४ ।

वह अनादि और आदिमान् दो प्रकार का है ।
रूपी अर्थात् पुद्गलों में आदिमान् है ।
जीवों मे योग और उपयोग आदिमान् हैं ।

---

१. देखें—अ० ५, सू० २२, ३६ ।

जिसके काल की पूर्वकोटि ज्ञात न हो सके वह अनादि तथा जिसके काल की पूर्वकोटि ज्ञात हो सके वह आदिमान् है। अनादि और आदिमान् शब्द का सामान्य रूप से सर्वत्र प्रसिद्ध उक्त अर्थ मान लेने पर द्विविध परिणाम के आश्रय का विचार करते समय यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि रूपी या अरूपी सभी द्रव्यो में अनादि और आदिमान् दोनों प्रकार के परिणाम होते है। प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और व्यक्ति की अपेक्षा से आदिमान् परिणाम सबमें समान रूप से घटित किया जा सकता है। ऐसा होने पर भी प्रस्तुत सूत्रो में तथा इनके भाष्य में भी उक्त अर्थ सम्पूर्णतया तथा स्पष्टतया क्यो नही निरूपित किया गया ? यह प्रश्न वृत्तिकार ने भाष्य की वृत्ति में उठाया है और अन्त में स्वीकार किया है कि वस्तुत सब द्रव्यों में अनादि तथा आदिमान् दोनो परिणाम होते है।

सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थों में तो सब द्रव्यों में दोनों प्रकार के परिणाम होने का स्पष्ट निरूपण है और इसका समर्थन भी किया है कि द्रव्य-सामान्य की अपेक्षा से अनादि और पर्याय-विशेष की अपेक्षा से आदिमान् परिणाम होता है।

दिगम्बर व्याख्याकारो ने ४२ से ४४ तक के तीन सूत्र मूलपाठ में न रखकर 'तद्भाव परिणाम.' सूत्र की व्याख्या में ही परिणाम के भेद और उनके आश्रय का कथन सम्पूर्णतया तथा स्पष्ट रूप में किया है। इससे ज्ञात होता है कि उनको भी परिणाम के आश्रयविभागपरक प्रस्तुत सूत्रो तथा उनके भाष्य में अर्थत्रुटि अथवा अस्पष्टता अवश्य प्रतीत हुई होगी। इसीलिए उन्होने अपूर्णार्थक सूत्रो को पूर्ण करने की अपेक्षा अपने वक्तव्य को स्वतन्त्र रूप से कहना ही उचित समझा।

: ६ :

आस्रव

जीव और अजीव का निरूपण समाप्त कर अब इस अध्याय में आस्रव का निरूपण किया जाता है।

योग अर्थात् आस्रव का स्वरूप

कायवाङ्मनःकर्म योगः । १ ।

स आस्रवः । २ ।

काय, वचन और मन की क्रिया योग है।

वही आस्रव है अर्थात् कर्म का सम्बन्ध करानेवाला है।

वीर्यान्तराय के क्षयोपशम या क्षय से तथा पुद्‌गलो के आलम्बन से होनेवाले आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द (कंपनव्यापार) को योग कहते हैं। आलम्बनभेद से इसके तीन भेद हैं—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। १ काययोग—औदारिकादि शरीर-वर्गणा के पुद्‌गलो के आलम्बन से प्रवर्तमान योग; २ वचनयोग—मतिज्ञानावरण, अक्षर-श्रुतावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न आन्तरिक वाग्लब्धि होने पर भाषावर्गणा के आलम्बन से भाषा-परिणाम के अभिमुख आत्मा का प्रदेश-परिस्पन्द, ३. मनोयोग—नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के अवलम्बन से मन परिणाम के अभिमुख आत्मा का प्रदेशकम्पन।

उक्त तीनो प्रकार के योग को ही आस्रव कहते हैं, क्योकि योग के द्वारा ही आत्मा में कर्मवर्गणा का आस्रवण (कर्मरूप से सम्बन्ध) होता है। जैसे जलाशय में जल को प्रवेश करानेवाले नाले आदि का मुख आस्रव अर्थात् वहन का निमित्त होने से आस्रव कहा जाता है, वैसे ही कर्मास्रव का निमित्त होने से योग को आस्रव कहते है। १-२।

योग के भेद और उनका कार्यभेद

शुभः पुण्यस्य । ३ ।

अशुभः पापस्य[1] । ४ ।

शुभ योग पुण्य का आस्रव (बन्धहेतु) है ।
अशुभ योग पाप का आस्रव है ।
काययोग आदि तीनो योग शुभ भी हैं और अशुभ भी ।

योग के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है । शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है । कार्य—कर्मबन्ध की शुभाशुभता—पर योग की शुभाशुभता अवलम्बित नही है; क्योकि ऐसा मानने से सभी योग अशुभ ही हो जायेंगे, कोई योग शुभ न रह जायेगा, जब कि शुभ योग भी आठवें आदि गुणस्थानो[2] में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्ध का कारण होता है ।

हिंसा, चोरी, अब्रह्म आदि कायिक व्यापार अशुभ काययोग और दया, दान, ब्रह्मचर्यपालन आदि शुभ काययोग हैं । सत्य किन्तु सावद्य भाषण, मिथ्या भाषण, कठोर भाषण आदि अशुभ वाग्योग और निरवद्य सत्य भाषण, मृदु तथा सभ्य आदि भाषण शुभ वाग्योग हैं । दूसरो की बुराई का तथा उनके वध आदि का चिन्तन करना अशुभ मनोयोग और दूसरो की भलाई का चिन्तन आदि करना तथा उनके उत्कर्ष से प्रसन्न होना शुभ मनोयोग है ।

शुभ-योग का कार्य पुण्यप्रकृति का बन्ध और अशुभ-योग का कार्य पाप-प्रकृति का बन्ध है । प्रस्तुत सूत्रों का यह विधान आपेक्षिक है, क्योकि संक्लेश (कषाय) की मन्दता के समय होनेवाला योग शुभ और संक्लेश की तीव्रता के समय होनेवाला योग अशुभ है । जैसे अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुण-स्थानो में ज्ञानावरणीय आदि सभी पुण्य-पाप प्रकृतियो का यथासम्भव बन्ध होता

---

१. सूत्र ३ व ४ के स्थान पर 'शुभ पुण्यस्याशुभं पापस्य' यह एक ही सूत्र दिगम्बर ग्रन्थों में सूत्र ३ के रूप में है । परंतु राजवार्तिक में 'ततः सूत्रद्वयमनर्थकम्' उल्लेख प्रस्तुत सूत्रों की चर्चा में मिलता है । देखें—पृष्ठ २४८ वार्तिक ७ की टीका । इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि व्याख्याकारों ने दोनों सूत्र साथ लिखकर उन पर एक साथ ही व्याख्या की होगी और लिपिकारों या प्रकाशकों ने एक साथ सूत्र-पाठ और व्याख्या देखकर दोनों सूत्रों को अलग-अलग न मानकर एक ही सूत्र समझ लिया होगा और एक ही संख्या लिख दी होगी ।

२ इसके लिए देखें—हिंदी चौथा कर्मग्रन्थ, गुणस्थानों में बन्धविचार, तथा हिंदी दूसरा कर्मग्रन्थ ।

हैं, वैसे ही छठे आदि गुणस्थानों में शुभ योग के समय भी सभी पुण्य-पाप प्रकृतियो का यथासम्भव बन्ध होता है। फिर शुभयोग का पुण्य-बन्ध के कारणरूप में और अशुभयोग का पाप-बन्ध के कारणरूप में अलग-अलग विधान कैसे संगत हो सकता है ? इसलिए प्रस्तुत विधान मुख्यतया अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है। शुभयोग की तीव्रता के समय पुण्य-प्रकृतियो के अनुभाग (रस) की मात्रा अधिक और पाप-प्रकृतियो के अनुभाग की मात्रा अल्प निष्पन्न होती है। इससे उलटे अशुभयोग की तीव्रता के समय पाप-प्रकृतियो का अनुभागबन्ध अधिक और पुण्य-प्रकृतियो का अनुभागबन्ध अल्प होता है। इसमें जो शुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की अधिक मात्रा तथा अशुभयोगजन्य पापानुभाग की अधिक मात्रा है, उसे प्रधान मानकर सूत्रो में अनुक्रम से शुभयोग को पुण्य का और अशुभयोग को पाप का कारण कहा गया है। शुभयोगजन्य पापानुभाग की अल्प मात्रा और अशुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की अल्प मात्रा विवक्षित नही है, क्योकि लोक की भाँति शास्त्र मे भी प्रधानतापूर्वक व्यवहार का विधान प्रसिद्ध है।[1] ३-४।

स्वामिभेद से योग का फलभेद

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः। ५।

कषायसहित और कषायरहित आत्मा का योग अनुक्रम से साम्परायिक कर्म और ईर्यापथ कर्म का बन्धहेतु (आस्रव) होता है।

जिनमें क्रोध-लोभ आदि कषायो का उदय हो वे कषायसहित हैं और जिनमें न हो वे कषायरहित हैं। पहले से दसवें गुणस्थान तक के सभी जीव न्यूनाधिक प्रमाण में सकषाय होते है और ग्यारहवें तथा आगे के गुणस्थानवर्ती अकषाय होते है।

आत्मा का पराभव करनेवाला कर्म साम्परायिक कहलाता है। जैसे गीले चमड़े के ऊपर हवा द्वारा पड़ी हुई रज उससे चिपक जाती है, वैसे ही योग द्वारा आकृष्ट होनेवाला जो कर्म कषायोदय के कारण आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर स्थिति पा लेता है वह साम्परायिक कर्म है। सूखी दीवाल के ऊपर लगे हुए लकड़ी के गोले की तरह योग से आकृष्ट जो कर्म कषायोदय न होने से आत्मा के साथ लगकर तुरन्त ही छूट जाता है वह ईर्यापथ कर्म कहलाता है। ईर्यापथ कर्म की स्थिति केवल एक समय की मानी गई है।

---

१. 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' का न्याय। जैसे जहाँ ब्राह्मणों की प्रधानता हो या उनकी संख्या अधिक हो वहाँ अन्य वर्ण के लोगों के होने पर भी वह गाँव ब्राह्मणों का कहलाता है।

कषायोदयवाली आत्माएँ काययोग आदि तीन प्रकार के शुभ अशुभ योग से जो कर्म बाँधती है वह साम्परायिक अर्थात् कषाय की तीव्रता या मन्दता के अनुसार अधिक या अल्प स्थितिवाला होता है और यथासम्भव शुभाशुभ विपाक का कारण भी। परन्तु कषायमुक्त आत्माएँ तीनो प्रकार के योग से जो कर्म बाँधती हैं वह कषाय के अभाव के कारण न तो विपाकजनक होता है और न एक समय से अधिक स्थिति ही प्राप्त करता है। एक समय की स्थितिवाले इस कर्म को ईर्यापथिक कहने का कारण यह है कि वह कर्म कषाय के अभाव में केवल ईर्या (गमनागमनादि क्रिया) के पथ द्वारा ही बाँधा जाता है। साराश यह है कि तीनो प्रकार का योग समान होने पर भी कषाय न हो तो उपार्जित कर्म में स्थिति या रस का बन्ध नहीं होता। स्थिति और रस दोनो के बन्ध का कारण कषाय ही है। अतएव कषाय ही संसार की मूल जड है। ५।

साम्परायिक कर्मास्रव के भेद

अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः। ६।

पूर्व के अर्थात् साम्परायिक कर्मास्रव के अव्रत, कषाय, इन्द्रिय और क्रियारूप भेद हैं जिनकी सख्या क्रमशः पाँच, चार, पाँच और पच्चीस है।

जिन हेतुओ से साम्परायिक कर्म का बन्ध होता है वे साम्परायिक कर्म के आस्रव हैं। ऐसे आस्रव सकषाय जीवो में ही होते हैं। प्रस्तुत सूत्र में साम्परायिक कर्मास्रव के भेदो का ही कथन है, क्योकि वे कषायमूलक है।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पाँच अव्रत है, जिनका निरूपण सातवें अध्याय के सूत्र ८ से १२ तक में है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं, जिनका विशेष स्वरूप अध्याय ८, सूत्र १० में वर्णित है। स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियो का वर्णन अध्याय २, सूत्र २० में हो चुका है। यहाँ इन्द्रिय का अर्थ राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति है, क्योकि स्वरूप मात्र से कोई इन्द्रिय कर्मबन्ध का कारण नही होती और न इन्द्रियो की राग-द्वेषरहित प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का कारण होती है।

पच्चीस क्रियाओं के नाम और लक्षण—१. सम्यक्त्वक्रिया—देव, गुरु व शास्त्र की पूजाप्रतिपत्तिरूप होने से सम्यक्त्व पोषक, २ मिथ्यात्वक्रिया—मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म से होनेवाली सराग देव की स्तुति-उपासना आदिरूप, ३ प्रयोगक्रिया—शरीर आदि द्वारा जाने-आने आदि में कषाययुक्त प्रवृत्ति, ४. समादानक्रिया—त्यागी होते हुए भोगवृत्ति की ओर झुकाव, ५ ईर्यापथक्रिया—एक सामयिक कर्म के बन्धन या वेदन की कारणभूत क्रिया।

१. कायिकी क्रिया—दुष्टभाव से युक्त होकर प्रयत्न करना अर्थात् किसी काम के लिए तत्पर होना, २. आधिकरणिकी क्रिया—हिंसाकारी साधनो को ग्रहण करना, ३ प्रादोषिकी क्रिया—क्रोध के आवेश से होनेवाली क्रिया, ४. पारितापनिकी क्रिया—प्राणियों को सतानेवाली क्रिया; ५ प्राणातिपातिकी क्रिया—प्राणियों को प्राणों[1] से वियुक्त करने की क्रिया।

१. दर्शन क्रिया—रागवश रमणीय रूप को देखने की वृत्ति, २. स्पर्शन क्रिया—प्रमादवश स्पर्श करने योग्य वस्तुओ के स्पर्शानुभव की वृत्ति, ३ प्रात्ययिकी क्रिया—नये शस्त्रो का निर्माण, ४. समन्तानुपातन क्रिया—स्त्री, पुरुष और पशुओ के जाने-आने की जगह पर मल-मूत्र आदि त्यागना, ५ अनाभोग क्रिया—जिस जगह का अवलोकन और प्रमार्जन नही किया गया है वहाँ शरीर आदि रखना।

१. स्वहस्त क्रिया—दूसरे के करने की क्रिया को स्वयं कर लेना, २. निसर्ग क्रिया—पापकारी प्रवृत्ति के लिए अनुमति देना, ३ विदार क्रिया—दूसरे के किये गए पापकार्य को प्रकट करना, ४. आज्ञाव्यापादिकी क्रिया—व्रत पालन करने की शक्ति के अभाव मे शास्त्रोक्त आज्ञा के विपरीत प्ररूपणा करना, ५. अनवकाक्ष क्रिया—धूर्तता और आलस्य से शास्त्रोक्त विधि का अनादर करना।

१. आरम्भ क्रिया—काटने-पीटने और घात करने मे स्वय रत रहना और अन्य लोगो में वैसी प्रवृत्ति देखकर प्रसन्न होना; २. पारिग्रहिकी क्रिया—परिग्रह का नाश न होने के लिए की जानेवाली क्रिया, ३ माया क्रिया—ज्ञान, दर्शन आदि के विषय मे दूसरो को ठगना, ४. मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादृष्टि के अनुकूल प्रवृत्ति करने-कराने में निरत मनुष्य को 'तू ठीक करता है' इत्यादि रूप में प्रशंसा आदि द्वारा मिथ्यात्व में दृढ़ करना; ५. अप्रत्याख्यान क्रिया—संयमघातिकर्म के प्रभाव के कारण पापव्यापार से निवृत्त न होना।

पाँच-पाँच क्रियाओ के उक्त पाँच पञ्चकों में से केवल ईर्यापथिकी क्रिया साम्परायिक कर्म के आस्रव की कारण नही है, शेष सब क्रियाएँ कषायप्रेरित होने के कारण साम्परायिक कर्म के बन्ध की कारण है। यहाँ उक्त सब क्रियाओ का निर्देश साम्परायिक कर्मास्रव-बाहुल्य की दृष्टि से किया गया है। यद्यपि अव्रत, इन्द्रियप्रवृत्ति और उक्त क्रियाओ की बन्धकारणता रागद्वेष पर अवलम्बित है, इसलिए वस्तुतः रागद्वेष—कषाय ही साम्परायिक कर्म का बन्धकारण है; तथापि कषाय से अलग अव्रत आदि का बन्धकारणरूप से कथन सूत्र में इसलिए है कि कषायजन्य कौन-

---

१. पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काय ये तीन बल, उच्छ्वासनिःश्वास और आयु ये दस प्राण हैं।

कौन सी प्रवृत्ति व्यवहार में मुख्यतया दिखाई पड़ती है और संवर के अभिलाषी को कौन-कौन सी प्रवृत्ति रोकने की ओर ध्यान देना चाहिए। ६।

बन्ध का कारण समान होने पर भी परिणामभेद से कर्मबन्ध में विशेषता

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्याऽधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः। ७।

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरण के भेद से उसकी (कर्मबन्ध की) विशेषता होती है।

प्राणातिपात, इन्द्रियव्यापार और सम्यक्त्वक्रिया आदि उक्त आस्रव (बन्ध-कारण) समान होने पर भी तज्जन्य कर्मबन्ध में किस-किस कारण से विशेषता होती है यही इस सूत्र में प्रतिपादित है।

बाह्य बन्धकारण समान होने पर भी परिणाम की तीव्रता और मन्दता के कारण कर्मबन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जैसे एक ही दृश्य के दो दर्शकों में से मंद आसक्तिवाले की अपेक्षा तीव्र आसक्तिवाला कर्म का तीव्र बन्ध ही करता है। इच्छापूर्वक प्रवृत्ति करना ज्ञातभाव है और बिना इच्छा के कृत्य का हो जाना अज्ञातभाव है। ज्ञातभाव और अज्ञातभाव में बाह्य व्यापार समान होने पर भी कर्मबन्ध में अन्तर पड़ता है। जैसे एक व्यक्ति हरिण को हरिण समझकर बाण से बींध डालता है और दूसरा निशाना साधता तो है किसी निर्जीव पदार्थ पर किन्तु भूल से हरिण बिंध जाता है। भूल से मारनेवाले की अपेक्षा समझ-पूर्वक मारनेवाले का कर्मबन्ध उत्कट होता है। वीर्य (शक्तिविशेष) भी कर्म-बन्ध की विचित्रता का कारण होता है। जैसे दान, सेवा आदि शुभ कार्य हो या हिंसा, चोरी आदि अशुभ कार्य, सभी शुभाशुभ कार्य बलवान् मनुष्य जिस सहजता और उत्साह से कर सकता है, निर्बल मनुष्य वही कार्य बड़ी कठिनाई से कर पाता है, इसलिए बलवान् की अपेक्षा निर्बल का शुभाशुभ कर्मबन्ध मन्द होता है।

जीवाजीवरूप अधिकरण के अनेक भेद हैं। उनकी विशेषता से भी कर्मबन्ध में विशेषता आती है। जैसे हत्या, चोरी आदि अशुभ और पर-रक्षण आदि शुभ कार्य करनेवाले दो मनुष्यों में से एक के पास अधिकरण (शस्त्र) उग्र हो और दूसरे के पास साधारण हों तो सामान्य शस्त्रधारी की अपेक्षा उग्र शस्त्रधारी का कर्मबन्ध तीव्र होना सम्भव है, क्योंकि उग्र शस्त्र के सन्निधान से उसमें एक प्रकार का तीव्र आवेश रहता है।

बाह्य आस्रव की समानता होने पर भी कर्मबन्ध में असमानता के कारण-रूप से सूत्र में वीर्य, अधिकरण आदि की विशेषता का कथन किया गया है। फिर

भी कर्मबन्ध की विशेषता का विशेष निमित्त कापायिक परिणाम का तीव्र-मन्द भाव ही है। परन्तु सज्ञानप्रवृत्ति और शक्ति की विशेषता कर्मबन्ध की विशेषता की कारण कापायिक परिणाम की विशेषता के द्वारा ही होती है। इसी प्रकार कर्मबन्ध की विशेषता में शस्त्र को विशेषता के निमित्तभाव का कथन भी कापायिक परिणाम की तीव्र-मन्दता के अनुसार ही है। ७।

अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाजीवाः। ८।

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय-विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः। ९।

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम्। १०।

अधिकरण जीव और अजीवरूप है।

आद्य अर्थात् जीव-अधिकरण क्रमशः संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ के रूप में तीन प्रकार का, योगरूप में तीन प्रकार का, कृत कारित, अनुमत के रूप मे तीन प्रकार का और कषाय रूप में चार प्रकार का है।

पर अर्थात् अजीवाधिकरण निर्वर्तना, निक्षेप, सयोग और निसर्ग के अनुक्रम से दो, चार, दो और तीन भेदरूप है।

शुभ-अशुभ सभी कार्य जीव और अजीव से ही सिद्ध होते हैं। अकेला जीव या अकेला अजीव कुछ नहीं कर सकता। इसलिए जीव और अजीव दोनों अधिकरण हैं अर्थात् कर्मबन्ध के साधन, उपकरण या शस्त्र है। दोनो अधिकरण द्रव्य-भाव रूप मे दो दो प्रकार के हैं। जीव व्यक्ति या अजीव वस्तु द्रव्याधिकरण है और जीवगत कषाय आदि परिणाम तथा छुरी आदि निर्जीव वस्तु की तीक्ष्णता-रूप शक्ति आदि भावाधिकरण है। ८।

संसारी जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करते समय एक सौ आठ अवस्थाओं में से किसी-न-किसी अवस्था में अवश्य रहता है। इसलिए वे अवस्थाएँ भावाधिकरण हैं, जैसे क्रोधकृत कायसंरम्भ, मानकृत कायसंरम्भ, मायाकृत कायसंरम्भ, लोभकृत कायसंरम्भ ये चार। इसी प्रकार कृत पद के स्थान पर कारित तथा अनुमत पद लगाने से क्रोधकारित कायसंरम्भ आदि चार तथा क्रोध-अनुमत कायसंरम्भ आदि चार—कुल बारह भेद होते हैं। इसी प्रकार काय के स्थान पर वचन और मन पद लगाने पर दोनो के बारह-बारह भेद होते हैं, जैसे क्रोधकृत वचनसंरम्भ आदि तथा क्रोधकृत मन संरम्भ आदि। तीनों के इन छत्तीस भेदों में

संरम्भ पद के स्थान पर समारम्भ और आरम्भ पद लगाने से छत्तीस-छत्तीस भेद और जुड़ जाते हैं। कुल मिलाकर ये १०८ भेद होते हैं।

हिंसा आदि कार्यों के लिए प्रमादी जीव का प्रयत्न—आवेश संरम्भ कहलाता है, उसी कार्य के लिए साधन जुटाना समारम्भ और अन्त मे कार्य करना आरम्भ अर्थात् कार्य की संकल्पात्मक सूक्ष्म अवस्था से लेकर उसे प्रकट रूप में पूरा कर देने तक तीन अवस्थाएँ अनुक्रम से संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ है। योग के तीन प्रकारो का वर्णन पहले हो चुका है। कृत अर्थात् स्वयं करना, कारित अर्थात् दूसरे से कराना और अनुमत अर्थात् किसी के कार्य का अनुमोदन करना। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो कषाय प्रसिद्ध हैं।

जब कोई संसारी जीव दान आदि शुभ कार्य अथवा हिंसा आदि अशुभ कार्य से सम्बन्ध रखता है तब वह क्रोध या मान आदि किसी कषाय से प्रेरित होता है। कषायप्रेरित होने पर भी कभी वह स्वयं करता है या दूसरे से करवाता है अथवा दूसरे के काम का अनुमोदन करता है। इसी प्रकार वह कभी उस काम के लिए कायिक, वाचिक और मानसिक संरम्भ, समारम्भ या आरम्भ से युक्त अवश्य होता है। ९।

परमाणु आदि मूर्त वस्तु द्रव्य-अजीवाधिकरण है। जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी मूर्त द्रव्य जिस अवस्था मे वर्तमान होता है वह भाव-अजीवाधिकरण है। यहाँ इस भावाधिकरण के मुख्य चार भेद बतलाए गये है। जैसे निर्वर्तना (रचना), निक्षेप (रखना), संयोग (मिलना) और निसर्ग (प्रवर्तन)। निर्वर्तना के दो भेद हैं—मूलगुणनिर्वर्तना और उत्तरगुणनिर्वर्तना। पुद्गल द्रव्य की जो औदारिक आदि शरीररूप रचना अन्तरङ्ग साधनरूप से जीव की शुभा-शुभ प्रवृत्ति में उपयोगी होती है वह मूलगुणनिर्वर्तना है तथा पुद्गल द्रव्य की जो लकड़ी, पत्थर आदि रूप परिणति बाह्य साधनरूप से जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी होती है वह उत्तरगुणनिर्वर्तना है।

निक्षेप के चार भेद है—अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप, दुष्प्रमार्जितनिक्षेप, सहसानिक्षेप और अनाभोगनिक्षेप। प्रत्यवेक्षण किये बिना अर्थात् अच्छी तरह देखे बिना ही किसी वस्तु को कही रख देना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप है। प्रत्यवेक्षण करने पर भी ठीक तरह प्रमार्जन किये बिना ही वस्तु को जैसे-तैसे रख देना दुष्प्रमार्जितनिक्षेप है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किये बिना ही सहसा अर्थात् जल्दी से वस्तु को रख देना सहसानिक्षेप है। उपयोग के बिना ही किसी वस्तु को कही रख देना अनाभोग-निक्षेप है।

संयोग के दो भेद है—अन्न, जल आदि का संयोजन करना तथा वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो का संयोजन करना अनुक्रम से भक्तपान-संयोगाधिकरण और उपकरण-संयोगाधिकरण है।

निसर्ग के तीन प्रकार है—शरीर, वचन और मन का प्रवर्तन अनुक्रम से कायनिसर्ग, वचननिसर्ग और मनोनिसर्ग कहलाता है। १०।

आठ प्रकार के साम्परायिक कर्मों में से प्रत्येक के भिन्न-भिन्न बन्धहेतु—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।११।

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ।१२।

भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।१३।

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।१४।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।१५।

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः ।१६।

माया तैर्यग्योनस्य ।१७।

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ।१८।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।१९।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ।२०।

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ।२१।

विपरीतं शुभस्य ।२२।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ।२३।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।२४।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।२५।

विघ्नकरणमन्तरायस्य ।२६।

तत्प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन तथा उपघात ये ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म के बन्धहेतु (आस्रव) है।

स्व-आत्मा मे, पर-आत्मा मे या दोनो मे स्थित दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु हैं।

भूत-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु हैं।

केवलज्ञानी, श्रुत, संघ, धर्म एवं देव का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म के बन्धहेतु हैं।

कषाय के उदय से होनेवाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का बन्धहेतु है।

बहु-आरम्भ और बहु-परिग्रह नरकायु के बन्धहेतु हैं।

माया तिर्यंच-आयु का बन्धहेतु है।

अल्प-आरम्भ, अल्प-परिग्रह, स्वभाव में मृदुता और सरलता ये मनुष्य-आयु के बन्धहेतु हैं।

शीलरहितता[1] और व्रतरहितता तथा पूर्वोक्त अल्प आरम्भ आदि सभी आयुओं के बन्धहेतु हैं।

सरागसंयम[2], संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायु के बन्धहेतु हैं।

योग की वक्रता और विसंवाद अशुभ नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

विपरीत-अर्थात् योग की अवक्रता और अविसंवाद शुभ नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों में अत्यन्त अप्रमाद, ज्ञान में सतत उपयोग तथा सतत संवेग, यथाशक्ति त्याग और तप, संघ और साधु की समाधि और वैयावृत्त्य करना, अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत,

---

१. दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस सूत्र का अर्थ है—निःशीलत्व और निर्व्रतत्व। ये दोनों नारक आदि तीन आयुओं के आस्रव हैं और भोगभूमि में उत्पन्न मनुष्यों की अपेक्षा से निःशीलत्व और निर्व्रतत्व ये दोनों देवायु के भी आस्रव हैं। इस अर्थ में देवायु के आस्रव का समावेश होता है, जिसका वर्णन भाष्य में नहीं है। परन्तु भाष्य की वृत्ति में वृत्तिकार ने विचारपूर्वक भाष्य की यह त्रुटि जानकर इस बात की पूर्ति आगमानुसार कर लेने का निर्देश किया है।

२. दिगम्बर परम्परा में देवायु के प्रस्तुत सूत्र में इन आस्रवों के अतिरिक्त एक दूसरा भी आस्रव गिनाया है और उसके लिए इस सूत्र के बाद ही 'सम्यक्त्वं च' सूत्र है। इस परम्परा के अनुसार इस सूत्र का अर्थ यह है कि सम्यक्त्व सौधर्म आदि कल्पवासी देवों की आयु का आस्रव है। भाष्य में यह बात नहीं है। फिर भी वृत्तिकार ने भाष्यवृत्ति में अन्य कई आस्रवों के साथ-साथ सम्यक्त्व को भी गिन लिया है।

तथा प्रवचन की भक्ति, आवश्यक क्रिया को न छोडना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये सब तीर्थंकर नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

परनिन्दा, आत्मप्रशसा, सद्गुणो का आच्छादन और असद्गुणों का प्रकाशन ये नीच गोत्रकर्म के बन्धहेतु है।

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा आदि तथा नम्रवृत्ति और निरभिमानता ये उच्च गोत्रकर्म के बन्धहेतु हैं।

दानादि मे विघ्न डालना अन्तरायकर्म का बन्धहेतु है।

सूत्र ११ से अध्याय के अन्त तक प्रत्येक मूल कर्मप्रकृति के बन्धहेतुओ का क्रमशः वर्णन किया गया है। सामान्य रूप से योग और कषाय ही सब कर्म-प्रकृतियो के बन्धहेतु है, फिर भी कषायजन्य अनेकविध प्रवृत्तियो में से कौन-कौन-सी प्रवृत्ति किस-किस कर्म के बन्ध का हेतु होती है, यही विभागपूर्वक प्रस्तुत प्रकरण मे बतलाया गया है।

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों के बन्धहेतु—१ तत्प्रदोष—ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनो के प्रति द्वेप करना अथवा रखना अर्थात् तत्त्वज्ञान के निरूपण के समय मन मे तत्त्वज्ञान के प्रति, उसके वक्ता के प्रति अथवा उसके साधनो के प्रति डाह रखना। इसे ज्ञानप्रद्वेष भी कहते हैं। २. ज्ञान-निह्नव—कोई किसी से पूछे या ज्ञान के साधन की माँग करे तब ज्ञान तथा ज्ञान के साधन पास में होने पर भी कलुषित भाव से यह कहना कि 'मैं नही जानता अथवा मेरे पास वह वस्तु है ही नहीं'। ३ ज्ञानमात्सर्य—ज्ञान अभ्यस्त व परिपक्व हो एवं देने योग्य हो तो भी उसके अधिकारी ग्राहक के मिलने पर उसे न देने की कलुषित वृत्ति। ४. ज्ञानान्तराय—कलुषित भाव से ज्ञानप्राप्ति मे किसी को बाधा पहुँचाना। ५. ज्ञानासादन—दूसरा कोई ज्ञान दे रहा हो तब वाणी अथवा शरीर से उसका निषेध करना। ६. उपघात—किसी ने उचित ही कहा हो फिर भी अपनी विपरीत मति के कारण अयुक्त भासित होने से उलटे उसी के दोष निकालना।

पूर्वोक्त प्रदोष, निह्नव आदि जब ज्ञान, ज्ञानी या उसके साधन के साथ सम्बन्ध रखते हो तब वे ज्ञानप्रदोष, ज्ञाननिह्नव आदि कहलाते हैं और दर्शन (सामान्य बोध), दर्शनी अथवा दर्शन के साधन के साथ सम्बन्ध रखते हो तब दर्शनप्रदोष, दर्शननिह्नव आदि कहलाते हैं।

प्रश्न—आसादन और उपघात मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—ज्ञान के होने पर भी उसकी विनय न करना, दूसरे के सामने उसे

प्रकाशित न करना, उसके गुणों को न दरसाना आसादन है और ज्ञान को ही अज्ञान मानकर उसे नष्ट करने का विचार रखना उपघात है। ११।

असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु - १ दु.ख--बाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीडा होना। २ शोक--किसी हितैषी का सम्बन्ध टूटने से चिन्ता और खेद होना। ३. ताप--अपमान से मन के कलुषित होने से तीव्र संताप होना। ४ आक्रन्दन--गद्गद स्वर से आँसू गिराने के साथ रोना-पीटना। ५. वध--किसी के प्राण लेना। ६. परिदेवन--वियुक्त व्यक्ति के गुणों के स्मरण से होने-वाला करुणाजनक रुदन।

उक्त दु ख आदि छ और ऐसे ही ताड़न-तर्जन आदि अनेक निमित्त अपने में, दूसरे में या दोनों में पैदा करने पर उत्पन्न करनेवाले के असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु बनते हैं।

प्रश्न--यदि दु ख आदि पूर्वोक्त निमित्त अपने में या दूसरे में उत्पन्न करने से असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु होते हैं तो फिर लोच, उपवास, व्रत तथा इस तरह के दूसरे नियम भी दु खद होने से असातावेदनीय के बन्धहेतु होने चाहिए। यदि ऐसी बात हो तो उन व्रत आदि नियमो का अनुष्ठान करने की अपेक्षा उनका त्याग करना ही क्या उचित नही होगा ?

उत्तर--उक्त दु ख आदि निमित्त जब क्रोध आदि आवेश से उत्पन्न होते हैं तभी आस्रव (बन्ध) के हेतु बनते हैं, न कि केवल सामान्य रूप में दु.खद होने से। सच्चे त्यागी या तपस्वी को कठोर व्रत-नियमो का पालन करने पर भी असातावेदनीय कर्म का बन्ध नही होता। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि सच्चा त्यागी कठोर व्रतो का पालन करते हुए क्रोध या वैसे ही अन्य किसी दुष्ट भाव से नही बल्कि सद्वृत्ति और सद्बुद्धि से प्रेरित होकर ही चाहे जितना दु ख उठाता है। वह कठिन व्रतों को धारण करता है, पर चाहे जितने दु खद प्रसंग आ जायें उनमें क्रोध, संताप आदि कषाय का अभाव होने से वे प्रसंग उसके लिए बन्धक नही बनते। दूसरा कारण यह है कि कई बार तो वैसे त्यागियों को कठोरतम व्रत तथा नियमो का पालन करने में वास्तविक प्रसन्नता अनुभव होती है और इसीलिए वैसे प्रसंगो में उनको दु.ख या शोक आदि का होना सम्भव ही नही। यह तो सर्वविदित है कि एक को जिन प्रसगो मे दु ख होता है, उन्ही प्रसग में दूसरे को भी दु ख हो यह आवश्यक नही है। इसलिए ऐसे नियम-व्रतो का पालन मानसिक रति (रुचि) होने से उनके लिए सुखरूप ही होता है। जैसे कोई दयालु वैद्य चीरफाड के द्वारा किसी को दु ख देने का निमित्त बनने पर भी करुणा-वृत्ति से प्रेरित होने से पापभागी नही होता वैसे ही सांसारिक दु ख दूर करने

के लिए उसके ही उपायों को प्रसन्नतापूर्वक करता हुआ त्यागी भी सद्वृत्ति के कारण पाप का बन्ध नहीं करता।

सातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु—१. अनुकम्पा—प्राणि-मात्र के प्रति अनुकम्पा ही भूतानुकम्पा है अर्थात् दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानने का भाव। २. व्रत्यनुकम्पा—अल्पांश में व्रतधारी गृहस्थ और सर्वांश में व्रतधारी त्यागी दोनो पर विशेष अनुकंपा रखना। ३. दान—अपनी वस्तु दूसरों को नम्रभाव से अर्पित करना। ४. सरागसंयमादि योग—सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप इन सबमें यथोचित ध्यान देना। संसार की कारणरूप तृष्णा को दूर करने के लिए तत्पर होकर संयम स्वीकार कर लेने पर भी जब मन के राग के संस्कार क्षीण नही होते तब वह सरागसंयम कहलाता है। आंशिक संयम का स्वीकार संयमासयम है। स्वेच्छापूर्वक नहीं किन्तु परतंत्रता से भोगों का त्याग करना अकामनिर्जरा है। बाल अर्थात् यथार्थ ज्ञान से शून्य मिथ्यादृष्टिवालो का अग्निप्रवेश, जलपतन, गोबर आदि का भक्षण, अनशन आदि तप बालतप है। ५. क्षान्ति—धर्मदृष्टि से क्रोधादि दोषो का शमन। ६. शौच—लोभवृत्ति और ऐसे ही अन्य दोषो का शमन। १३।

दर्शनमोहनीय कर्म के बन्धहेतु—१. केवली का अवर्णवाद—दुर्बुद्धिपूर्वक केवली के असत्य दोषो को प्रकट करना, जैसे सर्वज्ञता की संभावना को स्वीकार न करना और कहना कि 'सर्वज्ञ होकर भी उसने मोक्ष के सरल उपाय न बतलाकर जिनका आचरण शक्य नही ऐसे दुर्गम उपाय क्यो बतलाए हैं' इत्यादि। २. श्रुत का अवर्णवाद—शास्त्र के मिथ्या दोषो का द्वेषबुद्धि से वर्णन करना, जैसे कहना कि 'यह शास्त्र अनपढ़ लोगो की प्राकृत भाषा में अथवा पण्डितो की जटिल संस्कृत भाषा में होने से तुच्छ है, अथवा इसमें विविध व्रत, नियम तथा प्रायश्चित्त आदि का अर्थहीन एवं कष्टप्रद वर्णन है'। ३. संघ का अवर्णवाद—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ के मिथ्या दोष प्रकट करना, जैसे यह कहना कि 'साधु लोग व्रत-नियम आदि का व्यर्थ क्लेश उठाते हैं, साधुत्व तो संभव ही नही तथा उसका कोई अच्छा परिणाम भी नही निकलता'। श्रावको के विषय में कहना कि 'वे स्नान, दान आदि शिष्ट प्रवृत्तियाँ नहीं करते और न पवित्रता ही मानते हैं' इत्यादि। ४ धर्म का अवर्णवाद—अहिंसा आदि महान् धर्मों के मिथ्या दोष बतलाना या यह कहना कि 'धर्म प्रत्यक्ष कहाँ दीखता है और जो प्रत्यक्ष नही दीखता उसका अस्तित्व कैसे सभव है' तथा यह कहना कि 'अहिंसा से मनुष्य जाति अथवा राष्ट्र का पतन हुआ है' इत्यादि। ५. देवो का अवर्णवाद—देवो की निन्दा करना, जैसे यह कहना कि 'देव तो है ही नही, और हो तो भी व्यर्थ है, क्योंकि

वे शक्तिशाली होकर भी यहाँ आकर हम लोगो की मदद क्यो नही करते तथा सम्बन्धियो का दु.ख दूर क्यो नही करते' इत्यादि । १४ ।

चारित्रमोहनीय कर्म के बन्धहेतु—१. स्वयं कषाय करना, दूसरों में भी कषाय जगाना तथा कषाय के वशवर्ती होकर अनेक तुच्छ प्रवृत्तियाँ करना ये सब कषायमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं। २. सत्य-धर्म का उपहास करना, गरीब या दीन मनुष्य की हँसी उड़ाना आदि हास्य-वृत्तियाँ हास्य-मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण है। ३. विविध क्रीडाओं में रत रहना, व्रत-नियम आदि योग्य अकुश में अरुचि रखना आदि रतिमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण है। ४. दूसरों को व्याकुल करना, किसी की शांति में विघ्न डालना, नीच लोगो की संगति करना आदि अरतिमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण है। ५. स्वयं शोकातुर रहना तथा दूसरों की शोक-वृत्ति को उत्तेजित करना आदि शोकमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण है। ६. स्वयं डरना और दूसरों को डराना भयमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण है। ७. हितकर क्रिया और हितकर आचरण से घृणा करना आदि जुगुप्सा-मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण है। ८-१०. स्त्री-जाति के योग्य, पुरुष-जाति के योग्य तथा नपुसक-जाति के योग्य संस्कारो का अभ्यास करना क्रमश. स्त्री, पुरुष और नपु सक वेद के बन्ध के कारण हैं। १५ ।

नरक आयु कर्म के बन्धहेतु—१ आरम्भ—प्राणियो को दु ख पहुँचे ऐसी कषायपूर्वक प्रवृत्ति । २ परिग्रह—यह वस्तु मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ ऐसा सकल्प। आरम्भ और परिग्रह-वृत्ति बहुत तीव्र होना तथा हिंसा आदि क्रूर कामो में सतत प्रवृत्ति होना, दूसरे के धन का अपहरण करना अथवा भोगो में अत्यन्त आसक्ति रहना नरकायु के बन्ध के कारण हैं। १६ ।

तिर्यञ्च-आयु कर्म के बन्धहेतु—माया अर्थात् छलप्रपञ्च करना अथवा कुटिल भाव रखना। जैसे धर्मतत्त्व के उपदेश में धर्म के नाम से मिथ्या बातों को मिलाकर उनका स्वार्थ-बुद्धि से प्रचार करना तथा जीवन को शील से दूर रखना आदि सब माया हैं। यही तिर्यंच आयु के बन्ध का कारण है। १७ ।

मनुष्य-आयु कर्म के बन्धहेतु—आरम्भ-वृत्ति तथा परिग्रह-वृत्ति कम रखना, स्वभावत अर्थात् बिना कहे-सुने मृदुता और सरलता का होना मनुष्य आयु के बन्ध के कारण हैं। १८ ।

उक्त तीनों आयुकर्मों के सामान्य बन्धहेतु—नरक, तिर्यंच और मनुष्य इन तीनो आयुओ के जो भिन्न-भिन्न बन्धहेतु कहे गए है उनके अतिरिक्त तीनो

आयुओं के सामान्य बन्धहेतु भी हैं। प्रस्तुत सूत्र में उन्ही का कथन है। वे बन्ध-हेतु ये है नि शीलत्व—शील से रहित होना और निर्व्रतत्व—व्रतो से रहित होना। १. व्रत—अहिंसा, सत्य आदि पाँच मुख्य नियम। २. शील—व्रतों की पुष्टि के लिए अन्य उपव्रतो का पालन, जैसे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। उक्त व्रतो के पालनार्थ क्रोध, लोभ आदि के त्याग को भी शील कहते हैं। व्रत का न होना निर्व्रतत्व एवं शील का न होना नि.शीलत्व है। १९।

देव-आयु कर्म के बन्धहेतु—१. हिंसा, असत्य, चोरी आदि महान् दोषो से विरतिरूप संयम अंगीकार कर लेने के बाद भी कषायो के कुछ अंश का शेष रहना सरागसंयम है। २. हिंसाविरति आदि व्रतो का अल्पांश में धारण करना संयमासंयम है। ३. पराधीनता के कारण या अनुसरण के लिए अहितकर प्रवृत्ति अथवा आहार आदि का त्याग अकाम निर्जरा है। ४. बालभाव से अर्थात् बिना विवेक के अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, पर्वत-प्रपात, विषभक्षण, अनशन आदि देहदमन की क्रियाएँ करना बालतप है। २०।

अशुभ एव शुभ नामकर्म के बन्धहेतु—१. योगवक्रता—मन, वचन और काय की कुटिलता। कुटिलता का अर्थ है सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ। २. विसंवादन—अन्यथा प्रवृत्ति कराना अथवा दो स्नेहियो के बीच भेद पैदा करना। ये दोनो अशुभ नाम-कर्म के बन्ध के कारण हैं।

प्रश्न—इन दोनो में क्या अन्तर है ?

उत्तर—'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से अन्तर है। अपने ही विषय में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति भिन्न पड़े तब योगवक्रता और यदि दूसरे के विषय में ऐसा हो तो वह विसंवादन है। जैसे कोई रास्ते से जा रहा हो तो उसे 'ऐसे नही, पर ऐसे' इस प्रकार उलटा समझाकर कुमार्ग की ओर प्रवृत्त करना।

इससे विपरीत अर्थात् मन, वचन, काय की सरलता (प्रवृत्ति की एकरूपता) तथा सवादन अर्थात् दो व्यक्तियो के भेद को मिटाकर एकता करा देना अथवा गलत रास्ते पर जानेवाले को सही रास्ते लगा देना दोनो शुभ नाम-कर्म के बन्ध के कारण हैं। २१-२२।

तीर्थंकर नामकर्म के बन्धहेतु—१. दर्शनविशुद्धि—वीतरागकथित तत्त्वो में निर्मल और दृढ रुचि। २. विनयसम्पन्नता—ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधनो के प्रति समुचित आदरभाव। ३. शीलव्रतानतिचार—अहिंसा, सत्यादि मूल व्रत तथा उनके पालन में उपयोगी अभिग्रह आदि दूसरे नियम या शील के पालन में प्रमाद न करना। ४. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग—तत्त्वविषयक ज्ञान में सदा जागरित रहना।

६ ११-

ग-सवेग—सासारिक भोगो से जो वास्तव में सुख के स्थान पर दु.ख के ५. अभीक्ष बनते हैं, डरते रहना अर्थात् कभी भी लालच में न पडना। ६. यथाशक्ति ही साधन अपनी अल्पतम शक्ति को भी बिना छिपाए आहारदान, अभयदान, ज्ञान-त्याग—अ विवेकपूर्वक करते रहना। ७ यथाशक्ति तप—शक्ति छिपाए बिना दान आदिक हर तरह की सहनशीलता का अभ्यास। ८ संघसाधुसमाधिकरण—विवेकपूर्व संघ और विशेषकर साधुओ को समाधि पहुँचाना अर्थात् ऐसा करना चतुर्विध कि वे स्वस्थ रहें। ९. वैयावृत्त्यकरण—कोई भी गुणी यदि कठिनाई में जिसमे आ तो उस समय योग्य ढंग से उसकी कठिनाई दूर करने का प्रयत्न करना। पड जाए. चतु.भक्ति—अरिहत, आचार्य, बहुश्रुत और शास्त्र इन चारों में शुद्ध १०-१ र्वक अनुराग रखना। १४ आवश्यकापरिहाणि—सामायिक आदि षड्-निष्ठापको के अनुष्ठान को भाव से न छोड़ना। १५ मोक्षमार्गप्रभावना—अभि-आवश्नजकर ज्ञानादि मोक्षमार्ग को जीवन में उतारना तथा दूसरों को उसका मान रा देकर प्रभाव बढाना। १६. प्रवचनवात्सल्य—जैसे गाय बछडे पर स्नेह उपदो हैं वैसे ही साधर्मियों पर निष्काम स्नेह रखना। २३।

रख' नीच गोत्रकर्म के बन्धहेतु—१. परनिन्दा—दूसरो की निन्दा करना ' निन्दा अर्थ है सच्चे या झूठे दोषो को दुर्बुद्धिपूर्वक प्रकट करने की वृत्ति। २. आत्म-कांसा—अपनी वडाई करना अर्थात् अपने सच्चे या झूठे गुणों को प्रकट करने की प्रश। ३. आच्छादन—दूसरे के गुणो को छिपाना और प्रसंग आने पर भी द्वेष वृतिन्हें न कहना। ४. उद्भावन—अपने में गुण न होने पर भी उनका प्रदर्शन सेना अर्थात् निज के असद्गुणो का उद्भावन। २४।

क उच्च गोत्रकर्म के बन्धहेतु—१. आत्मनिन्दा—अपने दोषों का अवलोकन। ' परप्रशंसा—दूसरो के गुणो की सराहना। ३. असद्गुणोद्भावन—अपने दुर्गुणो को प्रकट करना। ४. स्वगुणाच्छादन—अपने विद्यमान गुणो को छिपाना। ५. नम्रवृत्ति—पूज्य व्यक्तियों के प्रति विनम्रता। ६ अनुत्सेक—ज्ञान, सम्पत्ति आदि मे दूसरे से अधिकता होने पर भी उसके कारण गर्व न करना। २५।

अन्तराय कर्म के बन्धहेतु—किसी को दान देने में या किसी को कुछ लेने में अथवा किसी के भोग एव उपभोग आदि में बाधा डालना अथवा मन में वैसी वृत्ति पैदा करना विघ्नकरण है। २६।

साम्परायिक कर्मो के आस्रव के विषय मे विशेष वक्तव्य—सूत्र ११ से २६ तक साम्परायिक कर्म की प्रत्येक मूल प्रकृति के भिन्न-भिन्न आस्रव या बन्ध-हेतु उपलक्षण मात्र है। अर्थात् प्रत्येक मूलप्रकृति के गिनाए गए आस्रवो के अति-रिक्त अन्य भी वैसे ही—उन प्रकृतियों के आस्रव न कहने पर भी समझे जा

सकते हैं। जैसे कि आलस्य, प्रमाद, मिथ्योपदेश आदि ज्ञानावरणीय अथ
वरणीय के आस्रव के रूप में नही गिनाए गए है, फिर भी वे उनके
इसी तरह वध, बन्धन, ताडन आदि तथा अशुभ प्रयोग आदि असाता
आस्रवों में नही गिनाए गये हैं, फिर भी वे उसके आस्रव है।

प्रश्न—प्रत्येक मूलप्रकृति के आस्रव भिन्न-भिन्न दर्शाए गये हैं। इ
प्रश्न उपस्थित होता है कि 'क्या ज्ञानप्रदोष आदि आस्रव केवल ज्ञाना
आदि कर्म के ही बन्धक हैं अथवा इनके अतिरिक्त अन्य कर्मों के भी बन्ध
एक कर्मप्रकृति के आस्रव यदि अन्य प्रकृति के भी बन्धक हो सकते हैं तो
विभाग से आस्रवो का अलग-अलग वर्णन करना ही व्यर्थ है क्योंकि एक
के आस्रव दूसरी प्रकृति के भी तो आस्रव है। और यदि यह माना
कि किसी एक प्रकृति के आस्रव केवल उसी प्रकृति के आस्रव हैं, दूसरी के
तो शास्त्र-नियम में विरोध आता है। शास्त्र का नियम यह है कि सामान्य
से आयु को छोडकर शेष सातो प्रकृतियो का बन्ध एक साथ होता है। इस नि
के अनुसार जब ज्ञानावरणीय का बन्ध होता है तब अन्य वेदनीय आदि छहों
प्रकृतियो का भी बन्ध होता है। आस्रव तो एक समय में एक-एक कर्मप्रकृति
ही होता है, किन्तु बन्ध तो एक समय में एक प्रकृति के अतिरिक्त दूसरी अ
रोधी प्रकृतियो का भी होता है। अर्थात् अमुक आस्रव अमुक प्रकृति का ही बन्
है, यह मत शास्त्रीय नियम से बाधित हो जाता है। अतः प्रकृतिविभाग से आ
के विभाग करने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर—यहाँ आस्रवों का विभाग अनुभाग अर्थात् रसबन्ध की अपेक्षा से
बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी एक कर्मप्रकृति के आस्रव के
सेवन के समय उस कर्मप्रकृति के अतिरिक्त अन्य कर्म-प्रकृतियो का भी बन्ध होता
है, यह शास्त्रीय नियम केवल प्रदेश-बन्ध के विषय में ही घटित करना चाहिए,
न कि अनुभाग-बन्ध के विषय में। साराश यह है कि आस्रवो का विभाग प्रदेश-
बन्ध की अपेक्षा से नही, अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है। अत. एक साथ अनेक
कर्मप्रकृतियो का प्रदेशबन्ध मान लेने के कारण पूर्वोक्त शास्त्रीय नियम में कठिनाई
नही आती तथा प्रकृतिविभाग से उल्लिखित आस्रव भी केवल उन-उन प्रकृति
के अनुभागबन्ध में ही निमित्त बनते है। इसलिए यहाँ आस्रवो का जो विभाग
निर्दिष्ट है वह भी बाधित नही होता।

इस व्यवस्था से पूर्वोक्त शास्त्रीय-नियम और प्रस्तुत आस्रवो का विभाग
दोनों अबाधित बने रहते हैं। फिर भी इतनी बात विशेष है कि अनुभागबन्ध को
आश्रित करके आस्रव के विभाग का समर्थन भी मुख्य भाव की अपेक्षा से ही

५. अभीक्ष

ही साधन त्या हैं। अर्थात् ज्ञानप्रदोष आदि आस्रवों के सेवन के समय ज्ञानावरणीय
त्याग—आग का बन्ध मुख्य रूप से होता है और उसी समय बँधनेवाली अन्य कर्म-
दान आदियो के अनुभाग का बन्ध गौण रूप से होता है। यह तो माना ही नही जा
विवेकपूर्व कि एक समय में एक प्रकृति के ही अनुभाग का बन्ध होता है और अन्य
चतुर्विध ृतियो के अनुभाग का बन्ध होता ही नही। क्योंकि जिम समय जितनी कर्म-
जिसमे यियो का प्रदेशबन्ध योग द्वारा सम्भव है उसी समय कषाय द्वारा उतनी ही
पड जायेयो का अनुभागबन्ध भी सम्भव है। इसलिए मुख्य रूप मे अनुभागबन्ध की
१०-१ा को छोड़कर आस्रव के विभाग का समर्थन अन्य प्रकार मे ध्यान में नही
निष्ठार्थ। २६।

आवश

मान

उपदे

रख

क

प्रक

वृ

से

य

: ७ :

व्रत

साता-वेदनीय के आस्रवो में व्रती पर अनुकम्पा और दान ये दोनो गिनाए गए है। प्रसङ्गवश उन्ही के विशेष स्पष्टीकरण के लिए जैन परम्परा में महत्त्व-पूर्ण स्थान रखनेवाले व्रत और दान का विशेष निरूपण इस अध्याय मे किया जा रहा है।

व्रत का स्वरूप

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् । १ ।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से (मन, वचन, काय द्वारा) निवृत्त होना व्रत है।

हिंसा, असत्य आदि दोषो के स्वरूप का वर्णन आगे किया गया है। दोषो को समझकर उनके त्याग की प्रतिज्ञा करने के बाद पुन उनका सेवन न करने को व्रत कहते है।

अहिंसा अन्य व्रतो की अपेक्षा प्रधान है अत उसका स्थान प्रथम है। खेत की रक्षा के लिए जैसे बाड होती है वैसे ही अन्य सभी व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए है। इसीलिए अहिंसा की प्रधानता मानी गई है।

व्रत के दो पहलू है—निवृत्ति और प्रवृत्ति। इन दोनो के होने से ही व्रत पूर्ण होता है। सत्कार्य में प्रवृत्त होने का अर्थ है असत्कार्यो से पहले निवृत्त हो जाना। यह अपने आप प्राप्त होता है। इसी प्रकार असत्कार्यों से निवृत्त होने का अर्थ है सत्कार्यो में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति करना। यह भी स्वत प्राप्त है। यद्यपि यहाँ स्पष्ट रूप से दोषनिवृत्ति को ही व्रत कहा गया है तथापि उसमें सत्प्रवृत्ति का अश आ ही जाता है। इसलिए व्रत केवल निष्क्रियता नही है।

प्रश्न—'रात्रिभोजनविरमण' नामक व्रत प्रसिद्ध है। सूत्र मे उसका निर्देश क्यो नही किया गया ?

उत्तर—दीर्घकाल से रात्रिभोजनविरमण नामक व्रत प्रसिद्ध है, पर वास्तव में वह मूल व्रत नहीं है, अपितु मूल व्रत से निष्पन्न एक प्रकार का आवश्यक व्रत है। ऐसे अवांतर व्रत कई हैं और उनकी कल्पना भी कर सकते हैं। किन्तु यहाँ तो मूल व्रत का निरूपण इष्ट है। मूल व्रत से निष्पन्न होनेवाले अवान्तर व्रत तो उनके व्यापक निरूपण में आ ही जाते हैं। रात्रिभोजनविरमणव्रत अहिंसाव्रत में से निष्पन्न होनेवाले अनेक व्रतों में से एक है।

प्रश्न—अन्धेरे में दिखाई न देनेवाले जन्तु नाश के कारण और दीपक जलाने से होनेवाले अनेक प्रकार के आरम्भ को दृष्टि में रखकर ही रात्रिभोजनविरमण को अहिंसाव्रत का अंग माना जाता है, पर जहाँ अन्धेरा भी न हो और दीपक से होनेवाले आरम्भ का प्रसंग भी नहीं आता वैसे शीतप्रधान देश में तथा जहाँ बिजली का प्रकाश सुलभ हो वहाँ रात्रिभोजन और दिवा-भोजन में हिंसा की दृष्टि से क्या अन्तर है?

उत्तर—उष्णप्रधान देश तथा पुराने ढंग के दीपक आदि की व्यवस्था में साफ दीखनेवाली हिंसा की दृष्टि से ही रात्रिभोजन को दिवाभोजन की अपेक्षा अधिक हिंसायुक्त कहा गया है। यह बात स्वीकार कर लेने पर और साथ ही किसी विशेष परिस्थिति में दिन की अपेक्षा रात्रि में विशेष हिंसा का प्रसंग न भी आता हो, इस कल्पना को समुचित स्थान देने पर भी साधारण समुदाय की दृष्टि से और विशेषकर त्यागी-जीवन की दृष्टि से रात्रिभोजन की अपेक्षा दिवा-भोजन ही विशेष प्रशंसनीय है। इस मान्यता के समर्थन में निम्न कारण हैं:

१. बिजली या चन्द्रमा आदि का प्रकाश भले ही अच्छा लगता हो, लेकिन वह सूर्य के प्रकाश जैसा सार्वत्रिक, अखण्ड तथा आरोग्यप्रद नहीं होता। इसलिए जहाँ दोनों सम्भव हों वहाँ समुदाय के लिए आरोग्य की दृष्टि से सूर्य-प्रकाश ही अधिक उपयोगी होता है।

२ त्यागधर्म का मूल सन्तोष है, इस दृष्टि से भी दिन की अन्य सभी प्रवृत्तियों के साथ भोजन-प्रवृत्ति को भी समाप्त कर लेना तथा सन्तोषपूर्वक रात्रि के समय जठर को विश्राम देना ही उचित है। इससे ठीक-ठीक निद्रा आती है और ब्रह्मचर्यपालन में सहायता मिलती है। फलस्वरूप आरोग्य की वृद्धि भी होती है।

३ दिवाभोजन और रात्रिभोजन दोनों में से सन्तोष के विचार से यदि एक का ही चुनाव करना हो तब भी जाग्रत और कुशलबुद्धि का झुकाव दिवाभोजन की ओर ही होगा। आज तक के महान् सन्तों का जीवन-इतिहास यही बात कहता है। १।

व्रत के भेद

देशसर्वतोऽणुमहती । २ ।

अल्प अंश में विरति अणुव्रत और सर्वांश में विरति महाव्रत है ।

प्रत्येक त्यागाभिलाषी व्यक्ति दोषो से निवृत्त होता है । किन्तु सबका त्याग समान नही होता और यह विकास-क्रम की दृष्टि से स्वाभाविक भी है । इसलिए यहाँ हिंसा आदि दोषो की थोडी या बहुत सभी निवृत्तियो को व्रत मानकर उनके संक्षेप में दो भेद किए गए है—महाव्रत और अणुव्रत ।

१ हिंसा आदि दोषो से मन, वचन, काय द्वारा सब प्रकार से छूट जाना, यह हिंसाविरमण ही महाव्रत है ।

२. चाहे जितना हो, लेकिन किसी भी अंश में कम छूटना—ऐसा हिंसा-विरमण अणुव्रत है ।

व्रतो की भावनाएँ

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च । ३ ।

उन (व्रतो) को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ है ।

अत्यन्त सावधानीपूर्वक विशेष-विशेष प्रकार की अनुकूल प्रवृत्तियो का सेवन न किया जाय तो स्वीकार करने मात्र से ही व्रत आत्मा में नही उतर जाते । ग्रहण किए हुए व्रत जीवन में गहरे उतरें, इसीलिए प्रत्येक व्रत के अनुकूल थोडी-बहुत प्रवृत्तियाँ स्थूल दृष्टि से विशेष रूप में गिनाई गई है, जो भावना के नाम से प्रसिद्ध है । यदि इन भावनाओ के अनुसार ठीक-ठीक वर्ताव किया जाय तो अंगीकृत व्रत प्रयत्नशील के लिए उत्तम औषधि के समान सुन्दर परिणामकारक सिद्ध होते है । वे भावनाएँ क्रमश इस प्रकार है :

१. ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन—ये अहिंसाव्रत को पाँच भावनाएँ है ।

२ अनुवीचिभाषण, क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, निर्भयता और हास्य-प्रत्याख्यान—ये सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ है ।

३. अनुवीचिअवग्रहयाचन, अभीक्ष्णअवग्रहयाचन, अवग्रहावधारण, साधर्मिक से अवग्रहयाचन और अनुज्ञापितपानभोजन—ये अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ है ।

४. स्त्री, पशु अथवा नपुसक द्वारा सेवित शयन आदि का वर्जन, रागपूर्वक स्त्रीकथा का वर्जन, स्त्रियो के मनोहर अगो के अवलोकन का वर्जन, पहले के

रतिविलास के स्मरण का वर्जन और प्रणीतरस-भोजन का वर्जन—ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

५. मनोज्ञ या अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप तथा शब्द पर समभाव रखना—ये अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

भावनाओं का स्पष्टीकरण—१. स्व-पर को क्लेश न हो, इस प्रकार यत्नपूर्वक गमन करना ईर्यासमिति है। मन को अशुभ ध्यान से बचाकर शुभ ध्यान में लगाना मनोगुप्ति है। वस्तु का गवेषण, उसका ग्रहण या उपयोग इन तीन एषणाओं में दोष न लगने देने का ध्यान रखना एषणासमिति है। वस्तु को लेते-छोड़ते समय अवलोकन व प्रमार्जन आदि द्वारा उठाना रखना आदान-निक्षेपण-समिति है। खाने-पीने की वस्तु को भलीभाँति देख-भालकर लेना और बाद में भी देख-भालकर खाना-पीना आलोकितपानभोजन है।

२ विचारपूर्वक बोलना अनुवीचिभाषण है। क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य का त्याग करना ये चार भावनाएँ और हैं।

३ सम्यक् विचार करके ही उपयोग के लिए आवश्यक अवग्रह—स्थान की याचना करना अनुवीचिअवग्रहयाचन है। राजा, कुटुम्बपति, शय्यातर—जिसकी भी जगह माँगकर ली गई हो, ऐसे साधर्मिक आदि अनेक प्रकार के स्वामी हो सकते हैं। उनमें से जिस-जिस स्वामी से जो-जो स्थान माँगने में विशेष औचित्य प्रतीत हो उनसे वही स्थान माँगना तथा एक बार देने के बाद मालिक ने वापिस ले लिया हो, फिर भी रोग आदि के कारण विशेष आवश्यक होने पर उसके स्वामी से इस प्रकार बार-बार लेना कि उसको क्लेश न होने पावे—यह अभीक्ष्ण-अवग्रहयाचन है। मालिक से माँगते समय ही अवग्रह का परिमाण निश्चित कर लेना अवग्रहावधारण है। अपने से पहले दूसरे किसी समानधर्मी ने कोई स्थान ले लिया हो और उसी स्थान को उपयोग में लाने का प्रसंग आ जाय तो उस साधर्मिक से ही स्थान माँगना साधर्मिकअवग्रहयाचन है। विधिपूर्वक अन्न-पानादि लाने के बाद गुरु को दिखाकर उनकी अनुज्ञापूर्वक ही उपयोग करना अनुज्ञापितपानभोजन है।

४ ब्रह्मचारी पुरुष या स्त्री का अपने से विजातीय व्यक्ति द्वारा सेवित शयन व आसन का त्याग करना स्त्रीपशुपण्डकसेवितशयनासन-वर्जन है। ब्रह्मचारी का कामवर्धक बातें न करना रागसयुक्तस्त्रीकथा-वर्जन है। ब्रह्मचारी का अपने विजातीय व्यक्ति के कामोद्दीपक अंगों को न देखना मनोहरेन्द्रियावलोकन-वर्जन है। ब्रह्मचर्य स्वीकार करने से पहले के भोगों का स्मरण न करना पूर्वरतिविलासस्मरण-वर्जन है। कामोद्दीपक रसयुक्त खानपान का त्याग करना प्रणीतरसभोजन-वर्जन है।

५ राग उत्पन्न करनेवाले स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर न ललचाना और द्वेषोत्पादक हों तो रुष्ट न होना ये क्रमश मनोज्ञामनोज्ञस्पर्शसमभाव एव मनोज्ञामनोज्ञरससमभाव आदि पाँच भावनाएँ है।

जैनधर्म त्यागलक्षी है, अत जैन-संघ में महाव्रतधारी साधु का स्थान ही प्रथम है। यही कारण है कि यहाँ महाव्रत को लक्ष्य में रखकर साधुधर्म के अनुसार ही भावनाओ का वर्णन किया गया है। फिर भी इतना तो है ही कि कोई भी व्रतधारी अपनी भूमिका के अनुसार इनमें सकोचविस्तार कर सके इसलिए देश-काल की परिस्थिति और आन्तरिक योग्यता को ध्यान में रखकर व्रत की स्थिरता के शुद्ध उद्देश्य से ये भावनाएँ सख्या तथा अर्थ में घटाई-बढाई तथा पल्लवित की जा सकती है।

कई अन्य भावनाएँ

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् । ४ ।

दुःखमेव वा । ५ ।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु । ६ ।

जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् । ७ ।

हिंसा आदि पाँच दोषो मे ऐहिक आपत्ति और पारलौकिक अनिष्ट का दर्शन करना।

अथवा हिंसा आदि दोषो मे दु ख ही है, ऐसी भावना करना।

प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-वृत्ति, गुणिजनो के प्रति प्रमोद-वृत्ति, दु खी जनो के प्रति करुणा-वृत्ति और अयोग्य पात्रो के प्रति माध्यस्थ्य-वृत्ति रखना।

संवेग तथा वैराग्य के लिए जगत् के स्वभाव और शरीर के स्वरूप का चिंतन करना।

जिसका त्याग किया जाता है उसके दोषो का यथार्थ दर्शन होने से ही त्याग टिकता है। यही कारण है कि अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता के लिए हिंसा आदि में उनके दोषो का दर्शन करना आवश्यक माना गया है। यह दोषदर्शन यहाँ दो प्रकार से बताया गया है। हिंसा, असत्य आदि के सेवन से जो ऐहिक आपत्तियाँ स्वयं को अथवा दूसरो को अनुभव करनी पडती है उनका भान सदा ताजा रखना ही ऐहिक दोषदर्शन है। इन्ही हिंसा आदि दोषों से

पारलौकिक अनिष्ट की जो सम्भावना होती है उसका ध्यान रखना पारलौकिक दोषदर्शन है। इन दोनो प्रकार के दोषदर्शन के संस्कारो को बढ़ाते रहना अहिंसा आदि व्रतो की भावनाएँ हैं।

पहले की ही भाँति त्याज्य वृत्तियो में दु.ख के दर्शन का अभ्यास किया हो तभी उनका त्याग भलीभाँति टिक सकता है। इसके लिए हिंसा आदि दोषों को दु.खरूप मानने की वृत्ति के अभ्यास (दु.ख-भावना) का यहाँ उपदेश दिया गया है। अहिंसादि व्रतो का धारक हिंसा आदि से अपने को होनेवाले दु.ख के समान दूसरो को होनेवाले दु.ख की कल्पना करे, यही दु.ख-भावना है। यह भावना इन व्रतो के स्थिरीकरण में भी उपयोगी है।

मैत्री, प्रमोद आदि चार भावनाएँ तो किसी सद्गुण के अभ्यास के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी होने से अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता में विशेष उपयोगी हैं। इसी विचार से यहाँ पर इन चार भावनाओ का उल्लेख किया गया है। इन चार भावनाओ का विषय अमुक अंश में तो अलग-अलग ही है, क्योंकि उस-उस विषय में इन भावनाओं का अभ्यास किया जाय तभी वास्तविक परिणाम आता है। इसीलिए इन भावनाओ के साथ इनका विषय भी अलग-अलग दर्शाया गया है।

१. प्राणिमात्र के साथ मैत्रीवृत्ति हो तभी प्रत्येक प्राणी के प्रति अहिंसक तथा सत्यवादी के रूप में बर्ताव किया जा सकता है। अतः मैत्री का विषय प्राणिमात्र है। मैत्री का अर्थ है दूसरे में अपनेपन की बुद्धि और इसीलिए अपने समान ही दूसरे को दु.खी न करने की वृत्ति अथवा भावना।

२. कई बार मनुष्य को अपने से आगे बढे हुए व्यक्ति को देखकर ईर्ष्या होती है। जब तक इस वृत्ति का नाश नही हो जाता तब तक अहिंसा सत्य आदि व्रत टिकते ही नही। इसीलिए ईर्ष्या के विपरीत प्रमोद-गुण की भावना के लिए कहा गया है। प्रमोद अर्थात् अपने से अधिक गुणवान् के प्रति आदर रखना तथा उसके उत्कर्ष को देखकर प्रसन्न होना। इस भावना का विषय अधिक गुणवान् ही है, क्योंकि उसके प्रति ही ईर्ष्या या असूया आदि दुर्वृत्तियाँ सम्भव हैं।

३ किसी को पीडित देखकर भी यदि अनुकम्पा का भाव पैदा न हो तो अहिंसा आदि व्रत कभी निभ नही सकते, इसलिए करुणा की भावना आवश्यक मानी गई है। इस भावना का विषय केवल क्लेश से पीडित दु.खी प्राणी है, क्योंकि दु.खी, दीन व अनाथ को ही अनुग्रह तथा मदद की अपेक्षा रहती है।

४. सर्वदा और सर्वत्र मात्र प्रवृत्तिपरक भावनाएँ ही साधक नहीं होती, कई बार अहिंसा आदि व्रतों को स्थिर करने के लिए तटस्थ भाव धारण करना बड़ा

उपयोगी होता है। इसी कारण यहाँ माध्यस्थ्य-भावना का उपदेश किया गया है। माध्यस्थ्य का अर्थ है उपेक्षा या तटस्थता। जब नितात संस्कारहीन अथवा किसी तरह की भी सद्वस्तु ग्रहण करने के अयोग्य पात्र मिल जाय और यदि उसे सुधारने के सभी प्रयत्नो का परिणाम अन्तत शून्य ही दिखाई दे तो ऐसे व्यक्ति के प्रति तटस्थ भाव रखना ही उचित है। अत माध्यस्थ्यभावना का विषय अविनेय या अयोग्य पात्र ही है।

सवेग तथा वैराग्य न हो तो अहिंसा आदि व्रतो का पालन सम्भव ही नही है। अत. इस व्रत के अभ्यासी में संवेग और वैराग्य का होना पहले आवश्यक है। सवेग अथवा वैराग्य का बीजवपन जगत्स्वभाव एव शरीरस्वभाव के चिन्तन से होता है, इसीलिए इन दोनो के स्वभाव के चिन्तन का भावनारूप में यहाँ उपदेश किया गया है।

प्राणिमात्र को थोडे-बहुत दु ख का अनुभव तो निरन्तर होता ही रहता है। जीवन सर्वथा विनश्वर है, अन्य वस्तुएँ भी टिकती नही। इस जगत्स्वभाव के चिन्तन से ही संसार का मोह दूर होता है और उससे भय या संवेग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शरीर के अस्थिर, अशुचि और असारता के स्वभावचिन्तन से वाह्याभ्यन्तर विषयों के प्रति अनासक्ति या वैराग्य उत्पन्न होता है। ४-७।

हिंसा का स्वरूप

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। ८।

प्रमत्तयोग से होनेवाला प्राणवध हिंसा है।

अहिंसा आदि जिन पाँच व्रतो का निरूपण पहले किया गया है उनको भली-भाँति समझने और जीवन में उतारने के लिए विरोधी दोषो का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है। अत. यहाँ इन पाँच दोषो के निरूपण का प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस सूत्र में प्रथम दोष हिंसा की व्याख्या की गई है।

हिंसा की व्याख्या दो अंशो द्वारा पूरी की गई है। पहला अश है प्रमत्तयोग अर्थात् रागद्वेषयुक्त अथवा असावधान प्रवृत्ति और दूसरा है प्राणवध। पहला अंश कारण-रूप है और दूसरा कार्य-रूप। इसका फलितार्थ यह है कि जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो वह हिंसा है।

प्रश्न—किसी के प्राण लेना या किसी को दु.ख देना हिंसा है। हिंसा का यह अर्थ सबके जानने योग्य है और बहुत प्रसिद्ध भी है। फिर भी इस अर्थ में 'प्रमत्तयोग' अंश जोडने का कारण क्या है?

उत्तर—जब तक मानव-समाज के विचार और व्यवहार में उच्च संस्कार का प्रवेश नही होता तब तक मानव-समाज तथा अन्य प्राणियो के बीच जीवन-व्यवहार में विशेष अन्तर नही पडता। पशु-पक्षी की भाँति असंस्कृत समाज के मनुष्य भी मानसिक वृत्तियो से प्रेरित होकर जाने-अनजाने जीवन की आवश्यकताओ के लिए अथवा बिना आवश्यकताओ के ही दूसरे जीवो के प्राण लेते हैं। मानव-समाज की हिंसा-मय इस प्राथमिक दशा में जब एकाव मनुष्य के विचार में हिंसा के स्वरूप के बारे में जागृति होती है तब वह प्रचलित हिंसा को दोपरूप कहता है और दूसरे के प्राण न लेने की प्रेरणा करता है। एक ओर हिंसा जैसी प्रथा के पुराने संस्कार और दूसरी ओर अहिंसा की नवीन भावना का उदय, इन दोनों के बीच सघर्ष होते समय हिंसकवृत्ति की ओर से हिंसा-निषेधक के समक्ष अनेक प्रश्न अपने-आप खडे होने लगते हैं और वे उसके सामने रखे जाते है। संक्षेप में वे प्रश्न तीन हैं -

१. अहिंसा के समर्थक भी जीवन-धारण तो करते ही है और यह जीवन किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा किये बिना निभने योग्य न होने से उनसे जो हिंसा होती है उसे दोष कहा जाय या नहीं ?

२. भूल और अज्ञान का जब तक मानवीय वृत्ति में सर्वथा अभाव सिद्ध न हो जाय तब तक अहिंसा के समर्थकों के हाथों अनजाने या भूल से किसी का प्राण-नाश होना तो सम्भव ही है, अतः ऐसा प्राणनाश हिंसा दोष में आयेगा या नही ?

३ कई बार अहिंसक वृत्ति का मनुष्य किसी को बचाने या उसको सुख-सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करता है, परन्तु परिणाम उलटा ही आता है, अर्थात् जिसको बचाना था उसी के प्राण चले जाते है। यह प्राणनाश हिंसा-दोष में आयेगा या नही ?

ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर उनके समाधान में हिंसा और अहिंसा के स्वरूप का विचार गम्भीर हो जाता है। फलत हिंसा और अहिंसा का अर्थ विशाल हो जाता है। किसी के प्राण लेना या बहुत हुआ तो उसके निमित्त किसी को दु ख देना यह जो हिंसा का अर्थ समझा जाता था तथा किसी के प्राण न लेना और उसके निमित्त किसी को दु ख न देना यह जो अहिंसा का अर्थ समझा जाता था उसके स्थान पर अहिंसा के विचारकों ने सूक्ष्मतापूर्वक विचार करके निश्चय किया कि केवल किसी के प्राण लेने या किसी को दु.ख देने में हिंसा-दोष है ही, यह नही कह सकते, क्योकि प्राणवध या दु ख देने के साथ ही उसके पीछे वैसा करनेवाले की भावना का विचार करके ही हिंसा की सदोपता या निर्दोपता का

निर्णय किया जा सकता है। वह भावना अर्थात् राग-द्वेष की विविध ऊर्मियाँ तथा असावधानता, जिसको शास्त्रीय परिभाषा में प्रमाद कहते हैं, ऐसी अशुभ अथवा क्षुद्र भावना से हो यदि प्राणनाश हुआ हो या दु ख दिया गया हो तो वह हिंसा है और वही दोष-रूप भी है। ऐसी भावना के बिना यदि प्राणनाश हुआ हो या दुःख दिया गया हो तो वह देखने में भले ही हिंसा हो लेकिन दोषकोटि में नही आती। इस प्रकार हिंसक समाज में अहिंसा के संस्कारो के फैलने और उनके कारण विचार का विकास होने से दोषरूप हिंसा की व्याख्या के लिए केवल 'प्राणनाश' अर्थ ही पर्याप्त नही हुआ, इसीलिए उसमे 'प्रमत्तयोग' जैसा महत्त्वपूर्ण अंश बढाया गया।

प्रश्न – हिंसा की इस व्याख्या से यह प्रश्न उठता है कि प्रमत्तयोग के बिना ही यदि प्राणवध हो जाय तो उसे हिंसा कहेंगे या नही ? इसी प्रकार प्राणवध तो न हुआ हो लेकिन प्रमत्तयोग हो तब भी उसे हिंसा मानेंगे या नही ? यदि इन दोनो स्थलों में हिंसा मानी जाय तो वह हिंसा प्रमत्तयोगजनित प्राणवधरूप हिंसा कोटि की ही होगी या उससे भिन्न प्रकार की ?

उत्तर—केवल प्राणवध स्थूल होने से दृश्य-हिंसा तो है ही, जब कि प्रमत्त-योग सूक्ष्म होने से अदृश्य है। इन दोनो में दृश्यत्व-अदृश्यत्व के अन्तर के अतिरिक्त ध्यान देने योग्य एक महत्त्वपूण अन्तर दूसरा भी है और उसी पर हिंसा की सदोषता या निर्दोषता निर्भर करती है। प्राणनाश देखने मे भले ही हिंसा हो फिर भी वह सर्वथा दोषरूप नही है, क्योकि यह दोषरूपता स्वाधीन नही है। हिंसा की सदोषता हिंसक की भावना पर अवलम्बित होती है, अतः वह पराधीन है। भावना स्वय बुरी हो तभी प्राणवध दोषरूप होगा, भावना बुरी न हो तो वह प्राणवध भी दोषरूप नही होगा। इसीलिए शास्त्रीय परिभाषा मे ऐसी हिंसा को द्रव्य-हिंसा अथवा व्यावहारिक हिंसा कहा गया है। द्रव्यहिंसा अथवा व्यावहारिक हिंसा का अर्थ यही है कि उसकी दोषरूपता अबाधित नही है। इसके विपरीत प्रमत्तयोगरूप जो सूक्ष्म भावना है वह स्वय ही सदोष है, जिससे उसकी सदोषता स्वाधीन है अर्थात् वह स्थूल प्राणनाश या किसी अन्य बाह्य वस्तु पर अवलम्बित नही है। स्थूल प्राणनाश करने या दु ख देने का प्रयत्न होने पर उलटा दूसरे का जीवन बढ गया हो या उसको सुख ही पहुँच गया हो, फिर भी यदि उसके पीछे भावना अशुभ रही हो तो वह सब एकान्त दोष-रूप ही समझा जायगा। यही कारण है कि ऐसी अशुभ भावना को शास्त्रीय परिभाषा में भावहिंसा अथवा निश्चय-हिंसा कहा गया है। इसका अर्थ यही है कि उसकी दोषरूपता स्वाधीन होने से तीनो कालो मे अबाधित रहती है। केवल प्रमत्तयोग या केवल प्राणवध

इन दोनो को स्वतन्त्र (अलग-अलग) हिंसा मान लेने और दोनों की दोष-रूपता का पूर्वोक्त रीति से तारतम्य जान लेने के बाद इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनो प्रकार की हिंसाएँ प्रमत्तयोग-जनित प्राणवध जैसी हिंसा की कोटि की ही हैं या भिन्न प्रकार की। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भले ही स्थूल आँख न देख सके लेकिन तात्त्विक रूप से तो प्रमत्तयोग ही प्रमत्तयोग-जनित प्राणनाश की कोटि की हिंसा है और केवल प्राणनाश ऐसी हिंसा नही है जो उक्त कोटि में आ सके।

प्रश्न—यदि प्रमत्तयोग ही हिंसा की सदोषता का मूल बीज है तब तो हिंसा की व्याख्या इतनी ही पर्याप्त होगी कि 'प्रमत्तयोग हिंसा है।' यदि ऐसा हो तो यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है कि फिर हिंसा की व्याख्या में 'प्राणनाश' को स्थान देने का क्या कारण है ?

उत्तर—तात्त्विक रूप में तो प्रमत्तयोग ही हिंसा है लेकिन समुदाय द्वारा सम्पूर्णतया और बहुत अंशो में उसका त्याग करना सम्भव नही। इसके विपरीत स्थूल होने पर भी प्राणवध का त्याग सामुदायिक जीवनहित के लिए वाछनीय है और यह बहुत अंशो में सम्भव भी है। प्रमत्तयोग न भी छूटा हो लेकिन स्थूल प्राणवधवृत्ति के कम हो जाने से भी प्राय सामुदायिक जीवन मे सुख-शान्ति रहती है। अहिंसा के विकास-क्रम के अनुसार भी समुदाय में पहले स्थूल प्राणनाश का त्याग और बाद में धीरे-धीरे प्रमत्तयोग का त्याग सम्भव होता है। इसीलिए आध्यात्मिक विकास मे सहायक रूप में प्रमत्तयोगरूप हिंसा का ही त्याग इष्ट होने पर भी सामुदायिक जीवन की दृष्टि से हिंसा के स्वरूप के अन्तर्गत स्थूल प्राणनाश को स्थान दिया गया है तथा उसके त्याग को भी अहिंसा की कोटि में रखा गया है।

प्रश्न—यह तो सही है कि शास्त्रकार ने जिसे हिंसा कहा है उससे निवृत्त होना ही अहिंसा है। पर ऐसे अहिंसाव्रती के लिए जीवन-निर्माण की दृष्टि से क्या-क्या कर्तव्य अनिवार्य हैं ?

उत्तर—१ जीवन को सादा बनाना और आवश्यकताओ को कम करना।

२ मानवीय वृत्ति में अज्ञान की चाहे जितनी गुंजाइश हो लेकिन पुरुषार्थ के अनुसार ज्ञान का भी स्थान है ही। इसलिए प्रतिक्षण सावधान रहना और कही भूल न हो जाय, इसका ध्यान रखना और यदि भूल हो जाय तो वह ध्यान से ओझल न हो सके, ऐसी दृष्टि बनाना।

३ आवश्यकताओ को कम करने और सावधान रहने का लक्ष्य रखने पर

भी चित्त के मूल दोष, जैसे स्थूल जीवन की तृष्णा और उसके कारण पैदा होने-वाले दूसरे रागद्वेषादि दोषों को कम करने का सतत प्रयत्न करना।

प्रश्न—ऊपर हिंसा की जो दोषरूपता बतलाई गई है उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिससे चित्त की कोमलता कम हो और कठोरता बढे तथा स्थूल जीवन की तृष्णा बढे वही हिंसा की सदोषता है। जिससे कठोरता न बढे एव सहज प्रेममय वृत्ति व अंतर्मुख जीवन में तनिक भी बाधा न पहुँचे, तब भले ही देखने में हिंसा हो, लेकिन वही हिंसा की अदोषता है।

असत्य का स्वरूप

असदभिधानमनृतम् । ९ ।

असत् बोलना अनृत (असत्य) है।

सूत्र में असत्-कथन को असत्य कहा गया है, फिर भी उसका भाव व्यापक होने से उसमें असत्-चिन्तन, असत्-भाषण और असत्-आचरण इन सबका समावेश है। ये सभी असत्य हैं। जैसे अहिंसा की व्याख्या में 'प्रमत्तयोग' विशेषण लगा है वैसे ही असत्य तथा अदत्तादानादि[1] दोषो की व्याख्या में भी यह विशेषण जोड लेना चाहिए। इसलिए प्रमत्तयोगपूर्वक जो असत्-कथन है वह असत्य है, यह असत्य-दोष का फलित अर्थ है।

'असत्' शब्द के मुख्यतः दो अर्थ यहाँ अभिप्रेत है :

१. जो वस्तु अस्तित्व में हो उसका सर्वथा निषेध करना अथवा निषेध न करने पर भी जिस रूप में वस्तु हो उसको उस रूप मे न कहकर उसका अन्यथा कथन करना असत् है।

२ गर्हित असत् अर्थात् जो सत्य होने पर भी दूसरे को पीड़ा पहुँचाता हो ऐसा दुर्भावियुक्त कथन असत् है।

पहले अर्थ के अनुसार पास मे पूँजी होने पर भी जब लेनदार (साहूकार) माँग करे तब कह देना कि कुछ भी नही है, यह असत्य है। इसी प्रकार पास में पूँजी है, यह स्वीकार कर लेने पर भी लेनदार सफल न हो सके इस प्रकार का वक्तव्य देना भी असत्य है।

---

१. अब्रह्म में 'प्रमत्तयोग' विशेषण नहीं लगता, क्योंकि यह दोष अप्रमत्त दशा में सम्भव ही नहीं है। इसीलिए तो ब्रह्मचर्य को निरपवाद कहा गया है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—'जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य' नामक गुजराती निबन्ध।

दूसरे अर्थ के अनुसार किसी भी अनपढ या मूढ को नीचा दिखाने के लिए अथवा ऐसे ढंग से कि उसे दुःख पहुँचे, सत्य होने पर भी 'अनपढ' या 'मूढ' कहना असत्य है।

असत्य के उक्त अर्थ से सत्यव्रतधारी के लिए निम्न अर्थ फलित होते हैं :

१. प्रमत्तयोग का त्याग करना।

२. मन, वचन और काय की प्रवृत्ति में एकरूपता रखना।

३ सत्य होने पर भी दुर्भाव से न तो अप्रिय सोचना, न बोलना और न करना। ९।

चोरी का स्वरूप

अदत्तादानं स्तेयम् । १० ।

विना दिये लेना स्तेय (चोरी) है।

जिस वस्तु पर किसी दूसरे का स्वामित्व हो, भले ही वह वस्तु तृणवत् या मूल्यरहित हो, उसके स्वामी की आज्ञा के विना चौर्य-बुद्धि से ग्रहण करना स्तेय है।

इस व्याख्या से अचौर्यव्रतधारी के लिए निम्न अर्थ फलित होते हैं :

१. किसी भी वस्तु के प्रति लालची वृत्ति दूर करना।

२. जब तक ललचाने की आदत न छूटे तब तक लालच की वस्तु न्याय-पूर्वक अपने आप ही प्राप्त करना और दूसरे की ऐसी वस्तु आज्ञा के विना लेने का विचार तक न करना। १०।

अब्रह्म का स्वरूप

मैथुनमब्रह्म । ११ ।

मैथुन-प्रवृत्ति अब्रह्म है।

मैथुन अर्थात् मिथुन की प्रवृत्ति। 'मिथुन' शब्द सामान्य रूप से स्त्री और पुरुष के 'जोड़े' के अर्थ में प्रसिद्ध है। फिर भी इसके अर्थ को कुछ विस्तृत करना आवश्यक है। जोड़ा स्त्री-पुरुष का, पुरुष-पुरुष का या स्त्री-स्त्री का भी हो सकता है। यह सजातीय—मनुष्य आदि एक जाति का अथवा विजातीय—मनुष्य, पशु आदि भिन्न-भिन्न जातियों का भी हो सकता है। ऐसे जोड़े की काम-राग के आवेश से उत्पन्न मानसिक, वाचिक अथवा कायिक कोई भी प्रवृत्ति मैथुन अर्थात् अब्रह्म है।

प्रश्न—जहाँ जोड़ा न हो किन्तु स्त्री या पुरुष में से कोई एक ही व्यक्ति कामराग के आवेश में जड़ वस्तु के आलम्बन से अथवा अपने हस्त आदि अवयवो द्वारा मिथ्या आचार का सेवन करे तो ऐसी चेष्टा को उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार क्या मैथुन कह सकते हैं ?

उत्तर—हाँ, अवश्य कह सकते हैं। क्योंकि मैथुन का मूल भावार्थ तो कामरागजनित चेष्टा ही है। यह अर्थ तो किसी एक व्यक्ति की वैसी दुश्चेष्टाओ पर भी लागू हो सकता है, अत उसमें भी मैथुन का दोष है ही।

प्रश्न—मैथुन को अब्रह्म कहने का क्या कारण है ?

उत्तर—जो ब्रह्म न हो वह अब्रह्म है। ब्रह्म का अर्थ है—जिसके पालन और अनुसरण से सद्गुणो की वृद्धि हो। जिस ओर जाने से सद्गुणों की वृद्धि न हो, बल्कि दोषों का ही पोषण हो वह अब्रह्म है। मैथुन-प्रवृत्ति ऐसी है कि उसमें पड़ते ही सारे दोषो का पोषण और सद्गुणो का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए मैथुन को अब्रह्म कहा गया है। ११।

परिग्रह का स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः। १२।

मूर्च्छा ही परिग्रह है।

मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति। वस्तु छोटी-बड़ी, जड़-चेतन, बाह्य या आन्तरिक चाहे जो हो या न भी हो तो भी उसमें बँध जाना अर्थात् उसकी लगन में विवेक-शून्य हो जाना परिग्रह है।

प्रश्न—हिंसा से परिग्रह तक के पाँच दोषो का स्वरूप ऊपर-ऊपर से भिन्न प्रतीत होता है, पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर उसमें कोई विशेष भेद नही है। वस्तुत इन पाँचो दोषो की सदोषता का आधार राग, द्वेष और मोह ही है और यही हिंसा आदि वृत्तियो का जहर है। इसी से वे वृत्तियाँ दोषरूप है। यदि यह बात सत्य है तब 'राग-द्वेष आदि ही दोष हैं' इतना कहना ही काफी होगा। फिर दोष के हिंसा आदि पाँच या न्यूनाधिक भेदों का वर्णन क्यो किया जाता है ?

उत्तर—नि सन्देह कोई भी प्रवृत्ति राग-द्वेष आदि के कारण ही होती है। अतः मुख्य रूप से राग-द्वेष आदि ही दोष है और इन दोषो से विरत होना ही मुख्य व्रत है। फिर भी राग-द्वेषादि तथा ऐसी प्रवृत्तियो के त्याग का उपदेश तभी किया जा सकता है जब कि तज्जन्य प्रवृत्तियो के विषय में समझा दिया गया हो। स्थूल दृष्टिवाले लोगो के लिए दूसरा क्रम अर्थात् सीधे राग-द्वेषादि के त्याग का उपदेश सम्भव नही है। रागद्वेषजन्य असंख्य प्रवृत्तियो में से हिंसा, असत्य आदि

मुख्य हैं और वे प्रवृत्तियाँ ही मुख्य रूप से आध्यात्मिक या लौकिक जीवन को कुरेद डालती हैं। इसीलिए हिंसा आदि प्रवृत्तियों को पाँच भागों में बाँटकर पाँच दोषों का वर्णन किया गया है।

दोषों की इस संख्या में समय-समय पर और देश-भेद से परिवर्तन होता रहा है और होता रहेगा, फिर भी संख्या और स्थूल नाम के मोह में न पड़कर इतना जान लेना पर्याप्त है कि इन प्रवृत्तियों के राग, द्वेष व मोह आदि दोषों का त्याग करने की ही बात मुख्य है। अतः हिंसा आदि पाँच दोषों में कौन-सा दोष प्रधान है, किसका पहले या बाद में त्याग करना चाहिए यह प्रश्न ही नहीं रहता। हिंसादोष की व्यापक व्याख्या में असत्य आदि सभी दोष आ जाते हैं। इसी प्रकार असत्य या चोरी आदि किसी भी दोष की व्यापक व्याख्या में शेष सब दोष आ जाते हैं। यही कारण है कि अहिंसा को मुख्य धर्म माननेवाले हिंसादोष में असत्यादि सब दोषों को समाहित कर लेते हैं और केवल हिंसा के त्याग में ही अन्य सभी दोषों का त्याग भी समझते हैं। सत्य को परमधर्म माननेवाले असत्य में शेष सब दोषों को घटित कर केवल असत्य के त्याग में ही सब दोषों का त्याग समझते हैं। इसी प्रकार संतोष, ब्रह्मचर्य आदि को मुख्य धर्म माननेवाले भी समझते हैं। १२।

यथार्थ व्रती की प्राथमिक योग्यता

निःशल्यो व्रती। १३।

शल्यरहित ही व्रती होता है।

अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के ग्रहण करने मात्र से कोई सच्चा व्रती नहीं बन जाता। सच्चा व्रती बनने के लिए छोटी-से-छोटी और सबसे पहली शर्त एक ही है कि 'शल्य' का त्याग किया जाय। संक्षेप में शल्य तीन हैं : १ दम्भ–कपट, ढोंग अथवा ठगवृत्ति, २ निदान–भोगों की लालसा, ३ मिथ्यादर्शन—सत्य पर श्रद्धा न रखना अथवा असत्य का आग्रह। ये तीनों दोष मानसिक हैं। ये मन और तन दोनों को कुरेद डालते हैं और आत्मा भी कभी स्वस्थ नहीं रह पाती। शल्ययुक्त आत्मा किसी कारण से व्रत ग्रहण कर भी ले, किंतु वह उनके पालन में एकाग्र नहीं हो पाती। जैसे किसी अंग में काँटा या तीक्ष्ण वस्तु चुभ जाय तो वह शरीर और मन को व्याकुल बना डालती है और आत्मा को भी कार्य में एकाग्र नहीं होने देती, वैसे ही ये मानसिक दोष भी उसी प्रकार की व्यग्रता पैदा करते हैं। इसीलिए व्रती बनने के लिए उनका त्याग प्रथम शर्त के रूप में आवश्यक माना गया है। १३।

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च । १४ ।

व्रती के अगारी (गृहस्थ) और अनगार (त्यागी) ये दो भेद हैं।

प्रत्येक व्रतधारी की योग्यता समान नही होती । इसीलिए यहाँ योग्यता के तारतम्य के अनुसार संक्षेप में व्रती के दो भेद किए गए हैं—१ अगारी और २. अनगार । अगार अर्थात् घर । जिसका घर के साथ सम्बन्ध हो वह अगारी अर्थात् गृहस्थ । जिसका घर के साथ सम्बन्ध न हो वह अनगार अर्थात् त्यागी, मुनि ।

अगारी और अनगार इन दोनो शब्दो का सरल अर्थ घर में रहना या न रहना ही है । लेकिन यहाँ इनका यह तात्पर्य अपेक्षित है कि विषयतृष्णा से युक्त अगारी हैं तथा विषयतृष्णा से मुक्त अनगार । इसका फलितार्थ यह है कि कोई घर में रहता हुआ भी विषयतृष्णा से मुक्त हो तो अनगार ही है तथा कोई घर छोडकर जंगल में जा बसे लेकिन विषयतृष्णा से मुक्त नही है तो वह अगारी ही है । अगारीपन और अनगारपन की एक यही सच्ची एव प्रमुख कसौटी है तथा उसके आधार पर ही यहाँ व्रती के दो भेद वर्णित हैं ।

प्रश्न—यदि कोई विषयतृष्णा होने के कारण अगारी है तो फिर उसे व्रती कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है । जैसे कोई व्यक्ति अपने घर आदि किसी नियत स्थान में ही रहता है और फिर भी अमुक शहर में रहता है—ऐसा व्यवहार अपेक्षाविशेष से करते हैं, वैसे ही विषयतृष्णा के रहने पर भी अल्पांश में व्रत का सम्बन्ध होने से उसे व्रती कहा जा सकता है । १४ ।

अगारी व्रती

अणुव्रतोऽगारी । १५ ।

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च । १६ ।

मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता । १७ ।

अणुव्रतधारी अगारी व्रती कहलाता है ।

वह व्रती दिग्विरति, देशविरति अनर्थदण्डविरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग—इन व्रतों से भी सम्पन्न होता है ।

वह मारणान्तिक सलेखना का भी आराधक होता है ।

जो अहिंसा आदि व्रतो को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करने में समर्थ नहीं हैं, फिर भी त्यागवृत्तियुक्त हैं, वह गार्हस्थिक मर्यादा में रहकर अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार इन व्रतों को अल्पांश में स्वीकार करता है। ऐसा गृहस्थ 'अणुव्रतधारी श्रावक' कहा जाता है।

सम्पूर्णरूप से स्वीकार किये जानेवाले व्रत महाव्रत कहलाते हैं। उनके स्वीकरण की प्रतिज्ञा में सम्पूर्णता के कारण तारतम्य नही रखा जाता। जब व्रतो को अल्पांश में स्वीकार किया जाता है, तब अल्पता की विविधता के कारण प्रतिज्ञा भी अनेक प्रकार से अलग-अलग ली जाती है। फिर भी एक-एक अणुव्रत की विविधता में न जाकर सूत्रकार ने सामान्यत. गृहस्थ के अहिंसा आदि व्रतो का एक-एक अणुव्रत के रूप में वर्णन किया है। ये अणुव्रत पाँच हैं, जो मूलभूत हैं अर्थात् त्याग के प्रथम स्तम्भ होने से मूलगुण या मूलव्रत कहलाते हैं। इनकी रक्षा, पुष्टि अथवा शुद्धि के निमित्त गृहस्थ अन्य भी अनेक व्रत स्वीकार करता है, जो उत्तरगुण[1] या उत्तरव्रत के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे उत्तरव्रत संक्षेप में सात हैं तथा गृहस्थ व्रती जीवन के अन्तिम समय में जिस एक व्रत को लेने के लिए प्रेरित होता है, उसे संलेखना कहा जाता है। यहाँ उसका भी निर्देश है। इन सभी व्रतों का स्वरूप यहाँ संक्षेप में बतलाया जा रहा है।

पाँच अणुव्रत—१. छोटे-बडे प्रत्येक जीव की मानसिक, वाचिक, कायिक हिंसा का पूर्णतया त्याग सम्भव न होने के कारण अपनी निश्चित की हुई गृहस्थ-मर्यादा, जितनी अल्प-हिंसा से निभ सके उससे अधिक हिंसा का त्याग करना

---

१. सामान्यतः भ० महावीर की समग्र परम्परा में अणुव्रतों की पाँच संख्या, उनके नाम तथा क्रम में कोई अन्तर नहीं है। हाँ, दिगम्बर परम्परा में कुछ आचार्यों ने रात्रि-भोजन के त्याग को छठे अणुव्रत के रूप में गिना है। परन्तु उत्तरगुण के रूप में माने हुए श्रावक के व्रतों के विषय में प्राचीन व नवीन अनेक परम्पराएँ हैं। तत्त्वार्थसूत्र में दिग्विरमण के बाद उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत के स्थान पर देशविरमणव्रत को रखा गया है, जब कि आगमों में दिग्विरमण के बाद उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत है तथा देशविरमणव्रत को सामायिकव्रत के बाद गिना है। ऐसे क्रम-भेद के बावजूद जो तीन व्रत गुण-व्रत के रूप में और चार व्रत शिक्षाव्रत के रूप में माने जाते हैं उनमें कोई अन्तर नहीं है। उत्तरगुणों के विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय में छ. विभिन्न परम्पराएँ देखने में आती हैं। कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, स्वामी कार्तिकेय, जिनसेन और वसुनन्दी इन आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं। इस मतभेद में कहीं नाम का, कहीं क्रम का, कहीं संख्या का और कहीं अर्थविकास का अन्तर है। यह सब स्पष्टरूप से जानने के लिए देखें—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार की जैनाचार्यों का शासन-भेद नामक पुस्तक, पृ० २१ से आगे।

अहिंसाणुव्रत है। इसी प्रकार असत्य, चोरी, कामाचार और परिग्रह का अपनी परिस्थिति के अनुसार मर्यादित रूप में त्याग करना—२ सत्य, ३ अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५ अपरिग्रह अणुव्रत हैं।

तीन गुणव्रत—६. अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार पूर्व व पश्चिम आदि सभी दिशाओ का परिमाण निश्चित करके उस सीमा के बाहर सब प्रकार के अधर्म-कार्यो से निवृत्त होना दिग्विरतिव्रत है। ७. सर्वदा के लिए दिशा का परिमाण निश्चित कर लेने के बाद भी उसमें से प्रयोजन के अनुसार समय-समय पर क्षेत्र का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर अधर्म-कार्य से सर्वथा निवृत्त होना देशविरति-व्रत है। ८ अपने भोगरूप प्रयोजन के लिए होनेवाले अधर्म-व्यापार के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण अधर्म-व्यापार से निवृत्त होना अर्थात् कोई निरर्थक प्रवृत्ति न करना अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

चार शिक्षाव्रत—९ काल का अभिग्रह लेकर अर्थात् अमुक समय तक अधर्म-प्रवृत्ति का त्याग करके धर्मप्रवृत्ति में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है। १०. अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा या किसी दूसरी तिथि में उपवास करके और सब प्रकार की शरीर-विभूषा का त्याग करके धर्म-जागरण मे तत्पर रहना पौषधोपवास-व्रत है। ११ अधिक अधर्म की संभावनावाले खान-पान, आभूषण, वस्त्र, बर्तन आदि का त्याग करके अल्प अधर्मवाली वस्तुओ की भी भोग के लिए मर्यादा बाँधना उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत है। १२. न्याय से उपार्जित और खपनेवाली खान-पान आदि के योग्य वस्तुओ का शुद्ध भक्तिभावपूर्वक सुपात्र को इस प्रकार दान देना कि उससे उभय पक्ष का हित हो—अतिथिसंविभागव्रत है।

संलेखना—कषायो को नष्ट करने के लिए उनके निर्वाहक और पोषक कारणो को कम करते हुए कषायो को मन्द करना सलेखनाव्रत है। यह व्रत वर्तमान शरीर का अन्त होने तक के लिए लिया जाता है। इसको मारणान्तिक सलेखना कहते है। गृहस्थ भी श्रद्धापूर्वक सलेखनाव्रत स्वीकार करके उसका सम्पूर्णतया पालन करते है, इसीलिए उन्हे इस व्रत का आराधक कहा गया है।

प्रश्न—सलेखनाव्रत धारण करनेवाला मनुष्य अनशन आदि द्वारा शरीर का अन्त करता है। यह तो आत्महत्या है और यह स्वहिंसा ही है। फिर इसको व्रत मानकर त्यागधर्म में स्थान देना कहाँ तक उचित है?

उत्तर—यह भले ही दु ख या प्राणनाश दिखाई दे, पर इतने मात्र से यह व्रत हिंसा की कोटि में नही आता। वास्तविक हिंसा का स्वरूप तो राग, द्वेष एवं मोह की वृत्ति से ही बनता है। सलेखनाव्रत मे प्राणनाश है, पर वह राग, द्वेष एव मोह के न होने से हिंसा की कोटि में नही आता, अपितु निर्मो-

हत्व और वीतरागत्व साधने की भावना में से ही यह व्रत उत्पन्न होता है और इस भावना की सिद्धि के प्रयत्न के कारण ही यह व्रत पूर्ण बनता है। इसलिए यह हिंसा नहीं है, अपितु शुभध्यान अथवा शुद्धध्यान की कोटि का होने से इसको त्यागधर्म में स्थान प्राप्त है।

प्रश्न—जैनेतर पन्थों में प्राणनाश करने की और धर्म मानने की कमलपूजा, भैरवजप, जलसमाधि आदि अनेक प्रथाएँ प्रचलित थी एवं हैं; उनमें और सलेखना में क्या अन्तर है ?

उत्तर—प्राणनाश की स्थूल दृष्टि से भले ही ये समान दिखाई दें, किन्तु भेद तो उनमें निहित भावना में ही होता है। कमलपूजा आदि के पीछे कोई भौतिक आशा या दूसरा प्रलोभन न हो और केवल भक्ति का आवेश या अर्पण की वृत्ति हो, ऐसी स्थिति में तथा आवेश या प्रलोभन से रहित सलेखना की स्थिति में अगर कोई अन्तर कहा जा सकता है तो वह भिन्न-भिन्न तत्त्वज्ञान पर अवलम्बित भिन्न-भिन्न उपासनाओं में निहित भावनाओं का ही है। जैन-उपासना का ध्येय उसके तत्त्वज्ञान के अनुसार परार्पण या परप्रसन्नता नहीं है, अपितु आत्म-शोधन मात्र है। पुराने समय से चली आई धर्म्य प्राणनाश की विविध प्रथाओं का उसी ध्येय की दृष्टि से संशोधित रूप जो कि जैन संप्रदाय में प्रचलित है, सलेखनाव्रत है। इसीलिए सलेखनाव्रत का विधान विशिष्ट संयोगों में किया गया है।

जब जीवन का अन्त निश्चित रूप से समीप दिखाई दे, धर्म एवं आवश्यक कर्तव्यों का नाश हो रहा हो तथा किसी तरह का दुर्ध्यान न हो उसी स्थिति में यह व्रत विधेय माना गया है। १५–१७।

सम्यग्दर्शन के अतिचार

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः
सम्यग्दृष्टेरतिचाराः। १८।

शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा तथा अन्यदृष्टिसंस्तव ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

ऐसे स्खलन अतिचार कहलाते हैं जिनसे कोई भी स्वीकार किया हुआ गुण मलिन हो जाता है और धीरे-धीरे ह्रास होते-होते नष्ट हो जाता है।

सम्यक्त्व ही चारित्रधर्म का मूल आधार है। उसकी शुद्धि पर ही चारित्र-शुद्धि अवलम्बित है। इसलिए जिनसे सम्यक्त्व की शुद्धि में विघ्न पहुँचने की

सम्भावना है ऐसे अतिचारों का यहाँ पाँच भागों में वर्णन किया गया है। वे इस प्रकार है :

१. शङ्कातिचार—आर्हत्-प्रवचन की दृष्टि स्वीकार करने के बाद उसमें वर्णित अनेक सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों (जो केवल केवलज्ञानगम्य तथा आगमगम्य हो) के विषय में शङ्का करना कि 'वे ऐसे होंगे या नही ?' संशय और तत्पूर्वक परीक्षा का जैन तत्त्वज्ञान में पूर्ण स्थान होने पर भी यहाँ शङ्का को अतिचार कहने का अभिप्राय इतना ही है कि तर्कवाद से परे के पदार्थों को तर्कदृष्टि से कसने का प्रयत्न नही होना चाहिए। क्योंकि साधक श्रद्धागम्य प्रदेश को बुद्धिगम्य नही कर सकता, जिससे अन्त में वह बुद्धिगम्य प्रदेश को भी छोड़ देता है। अत जिससे साधना के विकास में बाधा आती हो वैसी शङ्का अतिचार के रूप में त्याज्य है।

२. काक्षातिचार—ऐहिक और पारलौकिक विषयो की अभिलाषा करना। यदि ऐसी काक्षा होगी तो साधक गुणदोष का विचार किए बिना ही चाहे जब अपना सिद्धान्त छोड देगा, इसीलिए उसे अतिचार कहा गया है।

३. विचिकित्सातिचार—जहाँ भी मतभेद या विचारभेद का प्रसंग उपस्थित हो वहाँ अपने-आप कोई निर्णय न करके केवल मतिमन्दता या अस्थिर-बुद्धि के कारण यह सोचना कि 'यह बात भी ठीक है और वह बात भी ठीक हो सकती है'। बुद्धि की यह अस्थिरता साधक को किसी एक तत्त्व पर कभी स्थिर नही रहने देती, इसीलिए इसे अतिचार कहा गया है।

४–५. मिथ्यादृष्टिप्रशंसा व मिथ्यादृष्टिसंस्तव अतिचार—जिसकी दृष्टि मिथ्या हो उसकी प्रशसा करना या उससे परिचय करना। भ्रान्तदृष्टि से युक्त व्यक्तियो में भी कई बार विचार, त्याग आदि गुण मिलते है। गुण और दोष का भेद किए बिना उन गुणो से आकृष्ट होकर वैसे व्यक्ति की प्रशंसा करने अथवा उससे परिचय करने से अविवेकी साधक के सिद्धान्त से स्खलित होने का डर रहता है। इसीलिए अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव को अतिचार माना गया है। मध्यस्थता और विवेकपूर्वक गुण को गुण और दोष को दोष समझनेवाले साधक के लिए भी उक्त प्रकार के प्रशसा और सस्तव सर्वथा हानिकारक होते है, ऐसी बात नही है।

उक्त पाँचो अतिचार व्रती श्रावक और साधु के लिए समान है, क्योंकि दोनो के लिए सम्यक्त्व साधारण धर्म है। १८।

व्रत व शील के अतिचारों की संख्या तथा नाम-निर्देश

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् । १९ ।
बन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः । २० ।
मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः । २१ ।
स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः । २२ ।
परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः । २३ ।
क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः । २४ ।
ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि । २५ ।
आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः । २६ ।
कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि । २७ ।
योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि । २८ ।
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि । २९ ।
सचित्तसम्बद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः । ३० ।
सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः । ३१ ।
जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकरणानि । ३२ ।

व्रतों और शीलों के पाँच-पाँच अतिचार हैं। वे क्रमश इस प्रकार है :

बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार का लादना और अन्न-पान का निरोध ये पाँच अतिचार प्रथम अहिंसा अणुव्रत के हैं।

मिथ्योपदेश, रहस्याभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकार-मन्त्रभेद ये पाँच अतिचार दूसरे सत्य अणुव्रत के हैं।

स्तेनप्रयोग, स्तेनाहृतादान, विरोधी राज्य का अतिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच अतिचार तीसरे अचौर्य अणुव्रत के है।

परविवाहकरण, इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और तीव्रकामाभिनिवेश ये पाँच अतिचार चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रत के हैं।

क्षेत्र और वास्तु, हिरण्य और सुवर्ण, धन और धान्य, दासी और दास एव कुप्य के प्रमाण का अतिक्रम ये पाँच अतिचार पाँचवें परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के हैं।

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान ये पांच अतिचार छठे दिग्विरति व्रत के हैं।

आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप ये पाँच अतिचार सातवें देशविरति व्रत के हैं।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्य-अधिकरण और उपभोग का आधिक्य ये पांच अतिचार आठवे अनर्थदण्डविरमण व्रत के है।

कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृति का अनुपस्थापन ये पाँच अतिचार सामायिक व्रत के हैं।

अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित मे आदान-निक्षेप, अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित सस्तार का उपक्रम, अनादर और स्मृति का अनुपस्थापन ये पाँच अतिचार पौषध व्रत के हैं।

सचित्त आहार, सचित्तसम्बद्ध आहार, सचित्तसंमिश्र आहार, अभिषव आहार और दुष्पक्व आहार ये पांच अतिचार भोगोपभोग व्रत के है।

सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाँच अतिचार अतिथिसंविभाग व्रत के हैं।

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदानकरण ये पाँच अतिचार मारणान्तिक संलेखना के हैं।

श्रद्धा और ज्ञान-पूर्वक स्वीकार किए जानेवाले नियम को व्रत कहते है। इसके अनुसार श्रावक के बारह व्रत 'व्रत' शब्द में आ जाते हैं। फिर भी यहाँ व्रत और शील इन दो शब्दो के प्रयोग द्वारा यह निर्देश किया गया है कि चारित्र-धर्म के मूल नियम अहिंसा-सत्य आदि पाँच हैं, दिग्विरमण आदि शेष नियम इन मूल नियमो की पुष्टि के लिए ही है। प्रत्येक व्रत और शील के पांच-पांच अतिचार मध्यमदृष्टि से ही गिनाए गए हैं, क्योंकि संक्षेपदृष्टि से तो कम भी सोचे जा सकते है एव विस्तारदृष्टि से पांच से अधिक भी हो सकते हैं।

चारित्र का अर्थ है रागद्वेष आदि विकारों का अभाव साधकर समभाव का परिशीलन करना। चारित्र के इस मूल स्वरूप को सिद्ध करने के लिए अहिंसा, सत्य आदि जो नियम व्यावहारिक जीवन में उतारे जाते है वे सभी चारित्र

कहलाते हैं। व्यावहारिक जीवन देश, काल आदि की परिस्थिति तथा मानव-बुद्धि की संस्कारिता के अनुसार बनता है, अत उक्त परिस्थिति और संस्कारिता के परिवर्तन के साथ ही जीवन-व्यवहार भी बदलता रहता है। यही कारण है कि चारित्र का मूल स्वरूप एक होने पर भी उसके पोषक रूप में स्वीकार किए जानेवाले नियमो की सख्या तथा स्वरूप में परिवर्तन अनिवार्य है। इसीलिए शास्त्रो में श्रावक के व्रत व नियम भी अनेक प्रकार से विभिन्न रूप में मिलते हैं और भविष्य में भी इनमें परिवर्तन होता रहेगा। फिर भी यहाँ ग्रन्थकार ने श्रावक-धर्म के तेरह भेद मानकर प्रत्येक भेद के अतिचारों का कथन किया है। वे क्रमश. इस प्रकार हैं

अहिंसाव्रत के अतिचार—१. बन्ध—किसी भी प्राणी को उसके इष्टस्थान पर जाते हुए रोकना या बाँधना। २. वध—लाठी या चाबुक आदि से प्रहार करना। ३. छविच्छेद—कान, नाक, चमडी आदि अवयवो का भेदन या छेदन करना। ४. अतिभारारोपण—मनुष्य या पशु आदि पर शक्ति से ज्यादा भार लादना। ५. अन्नपाननिरोध—किसी के खाने-पीने में रुकावट डालना। उत्सर्ग मार्ग यह है कि किसी भी प्रयोजन के बिना व्रतधारी गृहस्थ इन दोषो का कदापि सेवन न करे, परन्तु घर-गृहस्थी का कार्य आ पडने पर विशेष प्रयोजन के कारण यदि इनका सेवन करना ही पडे तब भी कोमलभाव से ही काम लेना चाहिए। १९-२०।

सत्यव्रत के अतिचार—१. मिथ्योपदेश—सही-गलत समझाकर किसी को विपरीत मार्ग में डालना। २. रहस्याभ्याख्यान—रागवश विनोद के लिए किसी पति-पत्नी को अथवा अन्य स्नेही जनों को एक-दूसरे से अलग कर देना अथवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोपण करना। ३ कूटलेखक्रिया—मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढी करना तथा खोटा सिक्का आदि चलाना। ४ न्यासापहार—कोई धरोहर रखकर भूल जाय तो उसका लाभ उठाकर थोडी या पूरी धरोहर दबा जाना। ५. साकारमन्त्रभेद—किन्ही की आपसी प्रीति तोडने के विचार से एक-दूसरे की चुगली करना या किसी की गुप्त बात प्रकट कर देना। २१।

अस्तेयव्रत के अतिचार—१. स्तेनप्रयोग—किसी को चोरी करने के लिए स्वयं प्रेरित करना या दूसरे के द्वारा प्रेरणा दिलाना अथवा वैसे कार्य में सहमत होना। २ स्तेन-आहृतादान—प्रेरणा या सम्मति के बिना चोरी करके लाई गई चीज ले लेना। ३ विरुद्धराज्यातिक्रम—वस्तुओ के आयात-निर्यात पर राज्य की ओर से कुछ बन्धन लगे होते हैं अथवा कर आदि की व्यवस्था रहती है, राज्य के इन नियमों का उल्लघन करना। ४. हीनाधिक मानोन्मान—न्यूनाधिक नाप, बाट

या तराजू आदि से लेन-देन करना। ५. प्रतिरूपकव्यवहार—असली के बदले नकली वस्तु चलाना। २२।

ब्रह्मचर्यव्रत[1] के अतिचार—१. परविवाहकरण—निजी संतति के उपरात कन्यादान के फल की इच्छा से अथवा स्नेह-सम्बन्ध से दूसरे की संतति का विवाह करना। २. इत्वरपरिगृहीतागमन—किसी दूसरे के द्वारा स्वीकृत अमुक समय तक वेश्या या वैसी साधारण स्त्री का उसी कालावधि में भोग करना। ३. अपरिगृहीतागमन—वेश्या का, जिसका पति विदेश चला गया है उस वियोगिनी स्त्री का अथवा किसी अनाथ या किसी पुरुष के कब्जे में न रहनेवाली स्त्री का उपभोग करना। ४. अनंगक्रीड़ा—अस्वाभाविक अर्थात् सृष्टिविरुद्ध काम का सेवन। ५. तीव्रकामाभिलाष—बार-बार उद्दीपन करके विविध प्रकार से कामक्रीडा करना। २३।

अपरिग्रहव्रत के अतिचार—१. क्षेत्रवास्तु-प्रमाणातिक्रम—जो जमीन खेती-बाडी के योग्य हो वह क्षेत्र और जो रहने योग्य हो वह वास्तु, इन दोनों का प्रमाण निश्चित करने के बाद लोभवश मर्यादा का अतिक्रमण करना। २. हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम—गढे हुए या बिना गढे हुए चाँदी और स्वर्ण दोनों के स्वीकृत प्रमाण का उल्लंघन करना। ३. धनधान्य-प्रमाणातिक्रम—गाय, भैंस आदि पशुधन और गेहूँ, बाजरा आदि धान्य के स्वीकृत प्रमाण का उल्लंघन करना। ४. दासीदास-प्रमाणातिक्रम—नौकर, चाकर आदि कर्मचारियों के प्रमाण का अतिक्रमण करना। ५. कुप्यप्रमाणातिक्रम—बर्तनों और वस्त्रों के प्रमाण का अतिक्रमण करना। २४।

दिग्विरमणव्रत के अतिचार—१. ऊर्ध्वव्यतिक्रम—वृक्ष, पर्वत आदि पर चढने की ऊँचाई के स्वीकृत प्रमाण का लोभ आदि विकार के कारण भंग करना। २-३. अधो तथा तिर्यग्व्यतिक्रम—इसी प्रकार नीचे तथा तिरछे जाने के प्रमाण का मोहवश भङ्ग करना। ४. क्षेत्रवृद्धि—भिन्न-भिन्न दिशाओं का भिन्न-भिन्न प्रमाण स्वीकार करने के बाद कम प्रमाणवाली दिशा में मुख्य प्रसंग आ पडने पर दूसरी दिशा के स्वीकृत प्रमाण में से अमुक भाग घटाकर इष्ट दिशा के प्रमाण में वृद्धि करना। ५. स्मृत्यन्तर्धान—प्रत्येक नियम के पालन का आधार स्मृति है, यह जानकर भी प्रमाद या मोह के कारण नियम के स्वरूप या उसकी मर्यादा को भूल जाना। २५।

---

१. इसकी विशेष व्याख्या के लिए देखें—'जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य' नामक गुजराती निबन्ध।

देशावकाशिकव्रत के अतिचार—१. आनयनप्रयोग—जितने प्रदेश का नियम लिया हो, आवश्यकता पड़ने पर स्वयं न जाकर संदेश आदि द्वारा दूसरे से उसके बाहर की वस्तु मँगवा लेना। २. प्रेष्यप्रयोग— स्थान सम्बन्धी स्वीकृत मर्यादा के बाहर काम पड़ने पर स्वयं न जाना और न दूसरे से ही उस वस्तु को मँगवाना किन्तु नौकर आदि से आज्ञापूर्वक वहीं बैठे-बिठाए काम करा लेना। ३. शब्दानुपात—स्वीकृत मर्यादा के बाहर स्थित व्यक्ति को बुलाकर काम कराने के लिए खाँसी आदि द्वारा उसे पास आने के लिए सावधान करना। ४. रूपानुपात—किसी तरह का शब्द न कर आकृति आदि बतलाकर दूसरे को अपने पास आने के लिए सावधान करना। ५. पुद्गलक्षेप—कंकड़, ढेला आदि फेंककर किसी को अपने पास आने के लिए सूचना देना। २६।

अनर्थदंडविरमणव्रत के अतिचार—१. कन्दर्प—रागवश असभ्य भाषण तथा परिहास आदि करना। २. कौत्कुच्य—परिहास व अशिष्ट भाषण के अतिरिक्त भट-भाँड जैसी शारीरिक कुचेष्टाएँ करना। ३. मौखर्य—निर्लज्जता से सम्बन्धरहित एवं अधिक बकवाद करना। ४ असमीक्ष्याधिकरण—अपनी आवश्यकता का बिना विचार किए अनेक प्रकार के सावद्य उपकरण दूसरे को उसके काम के लिए देते रहना। ५. उपभोगाधिक्य—आवश्यकता से अधिक वस्त्र, आभूषण, तेल, चन्दन आदि रखना। २७।

सामायिकव्रत के अतिचार—१. कायदुष्प्रणिधान—हाथ, पैर आदि अंगों को व्यर्थ और बुरी तरह से चलाते रहना। २. वचनदुष्प्रणिधान—संस्कार-रहित तथा अर्थ-रहित एवं हानिकारक भाषा बोलना। ३. मनोदुष्प्रणिधान—क्रोध, द्रोह आदि विकारों के वश होकर चिन्तन आदि मनोव्यापार करना। ४. अनादर—सामायिक में उत्साह का न होना अर्थात् समय होने पर भी प्रवृत्त न होना अथवा ज्यों-त्यों प्रवृत्ति करना। ५. स्मृति-अनुपस्थापन—एकाग्रता का अभाव अर्थात् चित्त के अव्यवस्थित होने से सामायिक की स्मृति का न रहना। २८।

पौषधव्रत के अतिचार—१. अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित में उत्सर्ग—आँखों से बिना देखे ही कि कोई जीव है या नहीं, एवं कोमल उपकरण से प्रमार्जन किए बिना ही जहाँ-तहाँ मल, मूत्र, श्लेष्म आदि का त्याग करना। २. अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदाननिक्षेप—इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किए बिना ही लकड़ी, चौकी आदि वस्तुओं को लेना व रखना। ३. अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित संस्तार का उपक्रम—प्रत्यवेक्षण एवं प्रमार्जन किए बिना ही बिछौना करना या आसन बिछाना। ४. अनादर—पौषध में उत्साहरहित ज्यों-त्यों करके

प्रवृत्ति करना। ५. स्मृत्यनुपस्थापन—पौषध कब और कैसे करना या न करना एवं किया है या नहीं इत्यादि का स्मरण न रहना। २९।

भोगोपभोगव्रत के अतिचार—१. सचित्त-आहार—किसी भी वनस्पति आदि सचेतन पदार्थ का आहार करना। २. सचित्तसम्बद्ध आहार—कड़े बीज या गुठली आदि सचेतन पदार्थ से युक्त बेर या आम आदि पके फलों को खाना। ३. सचित्त-संमिश्र आहार—तिल, खसखस आदि सचित्त वस्तु से मिश्रित लड्डू आदि का भोजन अथवा चींटी, कुन्थु आदि से मिश्रित वस्तु का सेवन करना। ४. अभिषव-आहार—किसी भी प्रकार के एक मादक द्रव्य का सेवन करना अथवा विविध द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न मद्य आदि रस का सेवन करना। ५. दुष्पक्व-आहार—अधपके या ठीक से न पके हुए पदार्थ को खाना। ३०।

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार—१. सचित्तनिक्षेप—खाने-पीने की देने योग्य वस्तु को काम में न आने जैसी बना देने की बुद्धि से किसी सचेतन वस्तु में रख देना। २. सचित्तपिधान—इसी प्रकार देय वस्तु को सचेतन वस्तु से ढँक देना। ३. परव्यपदेश—अपनी देय वस्तु को दूसरे की बताकर उसके दान से अपने को मानपूर्वक बचा लेना। ४. मात्सर्य—दान देते हुए भी आदर न रखना अथवा दूसरे के दानगुण की ईर्ष्या से दान देने के लिए तत्पर होना। ५. कालाति-क्रम—किसी को कुछ देना न पड़े इस आशय से भिक्षा का समय न होने पर भी खा पी लेना। ३१।

संलेखनाव्रत के अतिचार—१. जीविताशंसा—पूजा, सत्कार आदि विभूति देखकर लालचवश जीवन की अभिलाषा। २. मरणाशंसा—सेवा, सत्कार आदि करने के लिए किसी को पास आते न देखकर उद्वेग के कारण मृत्यु को चाहना। ३. मित्रानुराग—मित्रों पर या मित्रतुल्य पुत्रादि पर स्नेह-बन्धन रखना। ४. सुखा-नुबन्ध—अनुभूत सुखों का स्मरण करके उन्हें ताजा बनाना। ५. निदानकरण—तप व त्याग का बदला किसी भी तरह के भोग के रूप में चाहना।

ऊपर वर्णित अतिचारों का यदि जानबूझकर अथवा वक्रतापूर्वक सेवन किया जाय तब तो वे व्रत के खण्डनरूप होकर अनाचार कहलाएँगे और भूल से असावधानीपूर्वक सेवन किए जाने पर अतिचार कहे जाएँगे। ३२।

दान तथा उसकी विशेषता

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्। ३३।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः। ३४।

अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।

विधि, देयवस्तु, दाता और पात्र की विशेषता से दान की विशेषता है।

दानधर्म समस्त सद्गुणो का मूल है, अतः पारमार्थिक दृष्टि से उसका विकास अन्य सद्गुणो के उत्कर्ष का आधार है और व्यवहार-दृष्टि से मानवीय व्यवस्था के सामंजस्य का आधार है।

दान का अर्थ है न्यायपूर्वक प्राप्त वस्तु का दूसरे के लिए अर्पण। यह अर्पण करनेवाले तथा स्वीकार करनेवाले दोनो का उपकारक होना चाहिए। इसमें अर्पणकर्ता का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु पर से उसकी ममता हटे और इस प्रकार उसे सन्तोष और समभाव की प्राप्ति हो। स्वीकारकर्ता का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसे अपनी जीवनयात्रा में मदद मिले और परिणामस्वरूप उसके सद्गुणो का विकास हो।

दानरूप में सभी दान समान होने पर भी उनके फल में तरतमभाव रहता है। यह तरतमभाव दानधर्म की विशेषता के कारण होता है। यह विशेषता मुख्यतया दानधर्म के चार अङ्गो की विशेषता के अनुसार होती है। इन चार अङ्गो की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—१. विधि—विधि की विशेषता में देश, काल का औचित्य और प्राप्तकर्ता के सिद्धान्त को बाधा न पहुँचे ऐसी कल्पनीय वस्तु का अर्पण इत्यादि बातो का समावेश है। २. द्रव्य—द्रव्य की विशेषता में देय वस्तु के गुणों का समावेश होता है। जिस वस्तु का दान किया जाय वह प्राप्तकर्ता पात्र की जीवनयात्रा में पोषक तथा परिणामतः उसके निजी गुणविकास में निमित्त बननेवाली हो। ३. दाता—दाता की विशेषता में पात्र के प्रति श्रद्धा का होना, उसके प्रति तिरस्कार या असूया का न होना तथा दान देते समय या बाद में विषाद न करना इत्यादि दाता के गुणो का समावेश है। ४ पात्र—सत्पुरुषार्थ के लिए जागरूक रहना दान लेनेवाले पात्र की विशेषता है। ३३-३४।

●

: ८ :

बन्ध

आस्रव के विवेचन के प्रसंग से व्रत और दान का वर्णन करने के पश्चात् अब इस आठवें अध्याय में बन्धतत्त्व का वर्णन किया जाता है।

बन्धहेतुओ का निर्देश

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः । १ ।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँच बन्ध के हेतु हैं।

बन्ध के स्वरूप का वर्णन आगे सूत्र २ में आया है। यहाँ उसके हेतुओ का निर्देश है। बन्ध के हेतुओ की संख्या के विषय में तीन परम्पराएँ दिखाई देती है। एक परम्परा के अनुसार कषाय और योग ये दो ही बन्धहेतु हैं। दूसरी परम्परा में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बन्धहेतु माने गए हैं। तीसरी परम्परा में उक्त चार हेतुओ में प्रमाद को बढाकर पाँच बन्धहेतुओ का वर्णन है। संख्या और उसके कारण नामों में भेद दिखाई देने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन परम्पराओ में कोई अन्तर नहीं है। प्रमाद एक तरह का असंयम ही है, अत. वह अविरति या कषाय के अन्तर्गत ही है। इसी दृष्टि से कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थो में चार बन्धहेतु कहे गए हैं। मिथ्यात्व और असंयम ये दोनो कषाय के स्वरूप से भिन्न नही पडते, अत. कषाय और योग को ही बन्धहेतु कहा गया है।

प्रश्न—सचमुच यदि ऐसी ही बात है तब प्रश्न होता है कि उक्त सख्याभेद की विभिन्न परम्पराओ का आधार क्या है?

उत्तर—कोई भी कर्मबन्ध हो, उस समय उसमे अधिक-से-अधिक जिन चार अंशो का निर्माण होता है, कषाय और योग ये दोनो ही उनके अलग-अलग कारण है, क्योकि प्रकृति एवं प्रदेश अंशो का निर्माण योग से होता है एव स्थिति तथा अनुभागरूप अंशो का निर्माण कषाय से। इस प्रकार एक ही कर्म मे उत्पन्न होनेवाले उक्त चार अशो के कारणो का विश्लेषण करने के विचार से शास्त्र में

कषाय और योग इन दो बन्धहेतुओं का कथन है तथा आध्यात्मिक विकास की चढाव-उतारवाली भूमिकास्वरूप गुणस्थानों में बँधनेवाली कर्मप्रकृतियों के तरतम-भाव के कारण को दर्शाने के लिए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्धहेतुओं का कथन है। जिस गुणस्थान में जितने अधिक बन्धहेतु होंगे उस गुणस्थान में कर्मप्रकृतियो का बन्ध भी उतना ही अधिक होगा और जहाँ ये बन्धहेतु कम होंगे वहाँ कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी कम ही होगा। इस प्रकार मिथ्यात्व आदि चार हेतुओं के कथन की परम्परा अलग-अलग गुणस्थानो में तर-तमभाव को प्राप्त होनेवाले कर्मबन्ध के कारण के स्पष्टीकरण के लिए है और कषाय एवं योग इन दो हेतुओं के कथन की परम्परा किसी एक ही कर्म में सम्भा-वित चार अंशों के कारण का पृथक्करण करने के लिए है। पाँच बन्धहेतुओं की परम्परा का आशय चार बन्धहेतुओ की परम्परा से किसी प्रकार भी भिन्न नही है और यदि है भी तो केवल इतना ही कि जिज्ञासु शिष्यो को बन्धहेतुओं का विस्तार से ज्ञान हो जाय।

बन्धहेतुओ की व्याख्या

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्यादर्शन, जो सम्यग्दर्शन से विपरीत होता है। सम्यग्दर्शन वस्तु का तात्त्विक श्रद्धान होने से विपरीतदर्शन दो तरह का फलित होता है—१. वस्तुविषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और २. वस्तु का अयथार्थ श्रद्धान। पहले और दूसरे में इतना ही अन्तर है कि पहला बिलकुल मूढदशा में भी हो सकता है, जब कि दूसरा विचारदशा में ही होता है। अभिनिवेश के कारण विचारशक्ति का विकास होने पर भी जब किसी एक ही दृष्टि को पकड लिया जाता है तब अतत्त्व में पक्षपात होने से वह दृष्टि मिथ्या-दर्शन कहलाती है जो उपदेशजन्य होने से अभिगृहीत कही जाती है। जब विचार-दशा जाग्रत न हुई हो तब अनादिकालीन आवरण के कारण केवल मूढता होती है। उस समय तत्त्व का श्रद्धान नही होता तो अतत्त्व का भी श्रद्धान नही होता। इस दशा में मात्र मूढता होने से उसे तत्त्व का अश्रद्धान कह सकते हैं। वह नैसर्गिक या उपदेशनिरपेक्ष होने से अनभिगृहीत कहा जाता है। दृष्टि या पन्थ सम्बन्धी सभी ऐकान्तिक कदाग्रह अभिगृहीत मिथ्यादर्शन है जो मनुष्य जैसी विकसित जाति में हो सकते हैं। दूसरा अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन कीट, पतंग आदि मूर्च्छित चेतना-वाली जातियो में ही सम्भव है।

अविरति, प्रमाद—अविरति अर्थात् दोषो से विरत न होना। प्रमाद अर्थात् आत्मविस्मरण अर्थात् कुशल कार्यों में अनादर, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति में असावधानी।

कषाय, योग—कषाय अर्थात् समभाव की मर्यादा तोड़ना। योग का अर्थ है मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति।

छठे अध्याय में वर्णित तत्प्रदोष आदि बन्धहेतुओ और यहाँ पर निर्दिष्ट मिथ्यात्व आदि बन्धहेतुओ में इतना ही अन्तर है कि तत्प्रदोषादि प्रत्येक कर्म के विशिष्ट बन्धहेतु होने से विशेष है, जब कि मिथ्यात्व आदि समस्त कर्मों के समान बन्धहेतु होने से सामान्य है। मिथ्यात्व से लेकर योग तक पाँचों हेतुओ में से जहाँ पूर्व-पूर्व के बन्धहेतु होगे वहाँ बाद के भी सभी होंगे यह नियम है, जैसे मिथ्यात्व के होने पर अविरति आदि चार और अविरति के होने पर प्रमाद आदि शेष तीन अवश्य होगे। परन्तु जब उत्तर बन्धहेतु होगा तब पूर्व बन्धहेतु हो और न भी हो, जैसे अविरति के होने पर पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व होगा परन्तु दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नही रहता। इसी प्रकार दूसरे हेतुओं के विषय में भी समझना चाहिए। १।

बन्ध का स्वरूप

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते। २।

स बन्धः। ३।

कषाय के सम्बन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्गलो का ग्रहण करता है। वह बन्ध है।

पुद्गल की अनेक वर्गणाएँ (प्रकार) है। उनमें से जो वर्गणाएँ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती है उन्हीं को जीव ग्रहण करके अपने आत्मप्रदेशों के साथ विशिष्ट रूप से जोड देता है, अर्थात् स्वभाव से जीव अमूर्त होने पर भी अनादिकाल से कर्मसम्बन्धवाला होने से मूर्तवत् हो जाता है। अत. वह मूर्त कर्मपुद्गलो का ग्रहण करता है। जैसे दीपक बत्ती द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला में परिणत कर लेता है वैसे ही जीव काषायिक विकार से योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे कर्मरूप में परिणत कर लेता है। आत्मप्रदेशों के साथ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त पुद्गलों का यह सम्बन्ध ही बन्ध कहलाता है। ऐसे बन्ध में मिथ्यात्व आदि अनेक निमित्त होते है, फिर भी यहाँ कषाय के सम्बन्ध से पुद्गलो का ग्रहण होने की बात अन्य हेतुओ की अपेक्षा कषाय की प्रधानता प्रदर्शित करने के लिए ही कही गई है। २-३।

बन्ध के प्रकार

प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः। ४।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश ये चार उसके (बन्ध के) प्रकार है।

कर्मपुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किए जाने पर कर्मरूप परिणाम को प्राप्त होते हैं। इसका अर्थ यही है कि उसी समय उसमें चार अंशों का निर्माण होता है और वे अंश ही बन्ध के प्रकार हैं। उदाहरणार्थ बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाई हुई घास आदि चीजें जब दूध के रूप में परिणत होती है तब उसमें मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है, वह स्वभाव अमुक समय तक उसी रूप में बना रह सके ऐसी कालमर्यादा उसमें निर्मित होती है, इस मधुरता में तीव्रता, मन्दता आदि विशेषताएँ भी होती हैं और साथ ही इस दूध का पौद्गलिक परिणाम भी बनता है। इसी प्रकार जीव द्वारा ग्रहण होकर-उसके प्रदेशों में संश्लेष को प्राप्त कर्म-पुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है। वे अंश ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश हैं।

१. कर्मपुद्गलों में ज्ञान को आवरित करने, दर्शन को रोकने, सुख-दुःख देने आदि का जो स्वभाव बनता है वह स्वभावनिर्माण ही प्रकृतिबन्ध है। २. स्वभाव बनने के साथ ही उस स्वभाव से अमुक काल तक च्युत न होने की मर्यादा भी पुद्गलों में निर्मित होती है, यह कालमर्यादा का निर्माण ही स्थिति-बन्ध है। ३. स्वभावनिर्माण के साथ ही उसमें तीव्रता, मन्दता आदि रूप में फलानुभव करानेवाली विशेषताएँ बँधती हैं, यही अनुभावबन्ध है। ४. ग्रहण किए जाने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणत होनेवाली कर्मपुद्गलराशि स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिमाण में बँट जाती है, यह परिमाणविभाग ही प्रदेशबन्ध है।

बन्ध के इन चार प्रकारों में से पहला और अन्तिम दोनों योग के आश्रित हैं, क्योंकि योग के तरतमभाव पर ही प्रकृति और प्रदेश बन्ध का तरतमभाव अवलम्बित है। दूसरा और तीसरा प्रकार कषाय के आश्रित हैं, क्योंकि कषाय की तीव्रता-मन्दता पर ही स्थिति और अनुभाव बन्ध की अल्पाधिकता अव-लम्बित है। ४।

मूलप्रकृति-भेदों का नामनिर्देश

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः। ५।

प्रथम अर्थात् प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप है।

अध्यवसाय-विशेष से जीव द्वारा एक ही बार में गृहीत कर्मपुद्गलराशि में एक साथ आध्यवसायिक शक्ति की विविधता के अनुसार अनेक स्वभाव निर्मित होते हैं। वे स्वभाव अदृश्य होते हैं, फिर भी उनका परिगणन उनके कार्य प्रभाव—को देखकर किया जा सकता है। एक या अनेक जीवों पर होनेवाले कर्म के

असंख्य प्रभाव अनुभव में आते हैं। वास्तव में इन प्रभावों के उत्पादक स्वभाव भी असंख्यात हैं। फिर भी संक्षेप में वर्गीकरण करके उन सभी को आठ भागो में बाँट दिया गया है। यही मूलप्रकृतिबन्ध है। इन्ही आठ मूलप्रकृति-भेदो का नाम-निर्देश यहाँ किया गया है। वे हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अन्तराय।

१. ज्ञानावरण—जिसके द्वारा ज्ञान (विशेषबोध) का आवरण हो। २ दर्शनावरण—जिसके द्वारा दर्शन (सामान्यबोध) का आवरण हो। ३. वेदनीय—जिससे सुख या दु:ख का अनुभव हो। ४. मोहनीय—जिससे आत्मा मोह को प्राप्त हो। ५. आयुष्क—जिससे भव धारण हो। ६. नाम—जिससे विशिष्ट गति, जाति आदि की प्राप्ति हो। ७. गोत्र—जिससे ऊँचपन या नीचपन मिले। ८. अन्तराय—जिससे दान के देने-लेने तथा भोगादि में विघ्न पड़े।

कर्म के विविध स्वभावों के संक्षेप में आठ भाग हैं, फिर भी विस्तृतरुचि के जिज्ञासुओ के लिए मध्यममार्ग का अवलंबन करके उन आठ का पुन: दूसरे प्रकार से वर्णन किया गया है, जो उत्तरप्रकृतिभेदो के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे उत्तर-प्रकृति-भेद ९७ हैं। वे मूलप्रकृति के क्रम से आगे बतलाए गए हैं। ५।

उत्तरप्रकृति-भेदों की संख्या और नामनिर्देश

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम्। ६।

मत्यादीनाम्। ७।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च। ८।

सदसद्वेद्ये। ९।

दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः। १०।

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि। ११।

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च। १२।

उच्चैर्नीचैश्च। १३।

दानादीनाम्। १४।

आठ मूलप्रकृतियो के क्रमश पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो तथा पाँच भेद हैं।

मति आदि पाँच ज्ञानों के आवरण पाँच ज्ञानावरण हैं।

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चारों के आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि-रूप पाँच वेदनीय—ये नौ दर्शनावरणीय हैं।

प्रशस्त (सुखवेदनीय) और अप्रशस्त (दु.खवेदनीय)—ये दो वेदनीय हैं।

दर्शनमोह, चारित्रमोह, कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय इन चारो के क्रमश. तीन, दो, सोलह और नौ भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, तदुभय (सम्यक्त्वमिथ्यात्व) ये तीन दर्शनमोहनीय के भेद हैं। कषाय और नोकषाय ये दो चारित्रमोहनीय के भेद हैं। इनमें से क्रोध, मान, माया और लोभ ये प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन के रूप में चार-चार प्रकार के होने से कषायचारित्रमोहनीय के सोलह भेद बनते हैं तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नौ नोकषायचारित्रमोहनीय के भेद हैं।

नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार आयु के भेद हैं।

गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, सघात, संस्थान, सहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति तथा साधारण और प्रत्येक, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दु स्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयश और यश एव तीर्थंकरत्व—ये बयालीस नामकर्म के प्रकार हैं।

उच्च और नीच—ये दो गोत्रकर्म के प्रकार हैं।

दान आदि के पांच अन्तराय है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म की प्रकृतियाँ—१. मति आदि पाँच ज्ञान और चक्षुर्दर्शन आदि चार दर्शनो का वर्णन पहले हो चुका है।[1] उनमें से प्रत्येक का आवरण करनेवाले स्वभाव से युक्त कर्म क्रमशः मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण,

---

१. देखें—अ० १, सू० ९ से ३३; अ० २, सू० ९।

अवधिज्ञानावरण, मन.पर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण हैं, तथा चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार दर्शनावरण हैं। उक्त चार के अतिरिक्त अन्य पाँच दर्शनावरण इस प्रकार हैं—१. जिस कर्म के उदय से ऐसी निद्रा आये कि सुखपूर्वक जागा जा सके वह निद्रावेदनीय दर्शनावरण है। २. जिस कर्म के उदय से निद्रा से जागना अत्यन्त कठिन हो वह निद्रानिद्रा-वेदनीय दर्शनावरण है। ३. जिस कर्म के उदय से बैठे-बैठे या खडे-खडे ही नीद आ जाय वह प्रचलावेदनीय दर्शनावरण है। ४. जिस कर्म के उदय से चलते-चलते ही नीद आ जाय वह प्रचलाप्रचलावेदनीय दर्शनावरण है। ५ जिस कर्म के उदय से जाग्रत अवस्था में सोचे हुए काम को निद्रावस्था में करने का सामर्थ्य प्रकट हो जाय वह स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण है, इस निद्रा में सहज बल से अनेकगुना अधिक बल प्रकट होता है। ७-८।

वेदनीय कर्म की प्रकृतियाँ—१. जिस कर्म के उदय से प्राणी को सुख का अनुभव हो वह सातावेदनीय और २. जिस कर्म के उदय से प्राणी को दु ख का अनुभव हो वह असातावेदनीय है। ९।

दर्शनमोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ—१. जिस कर्म के उदय से तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप में रुचि न हो वह मिथ्यात्वमोहनीय है। २. जिस कर्म के उदय-समय मे यथार्थता की रुचि या अरुचि न होकर डाँवाटोल स्थिति रहे वह मिश्रमोहनीय है। ३. जिसका उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिक-भाववाली तत्त्वरुचि का प्रतिबन्ध करता है वह सम्यक्त्वमोहनीय है।

चारित्रमोहनीय कर्म की पच्चीस प्रकृतियाँ

सोलह कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय के मुख्य चार भेद हैं। तीव्रता के तरतमभाव की दृष्टि से प्रत्येक के चार-चार प्रकार हैं। जो कर्म क्रोध आदि चार कषायो को इतना अधिक तीव्र बना दे कि जिसके कारण जीव् को अनन्तकाल तक संसार मे भ्रमण करना पडे वह कर्म अनुक्रम से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ है। जिन कर्मो के उदय से आविर्भाव को प्राप्त कषाय केवल इतने ही तीव्र हो कि विरति का ही प्रतिबन्ध कर सकें वे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। जिनका विपाक देशविरति का प्रतिबन्ध न करके केवल सर्वविरति का ही प्रतिबन्ध करे वे प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। जिनके विपाक की तीव्रता सर्वविरति का प्रतिबन्ध तो न करे लेकिन उसमें स्खलन और मालिन्य उत्पन्न करे वे संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।

नौ नोकषाय—१. हास्य की उत्पादक प्रकृतिवाला कर्म हास्यमोहनीय है। २-३. कही प्रीति और कही अप्रीति के उत्पादक कर्म अनुक्रम से रतिमोहनीय और अरतिमोहनीय हैं। ४. भयशीलता का जनक भयमोहनीय है। ५. शोकशीलता का जनक शोकमोहनीय है। ६. घृणाशीलता का जनक जुगुप्सामोहनीय है। ७. स्त्रैण-भाव-विकार का उत्पादक कर्म स्त्रीवेद है। ८. पौरुषभाव-विकार का उत्पादक कर्म पुरुषवेद है। ९. नपुंसकभाव-विकार का उत्पादक कर्म नपुंसकवेद है। ये नौ मुख्य कषाय के सहचारी एव उद्दीपक होने से नोकषाय हैं। १०।

आयुष्कर्म के चार प्रकार—जिन कर्मो के उदय से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक गति मिलती है वे क्रमशः देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक के आयुष्य हैं। ११।

नामकर्म की बयालीस प्रकृतियाँ

चौदह पिण्डप्रकृतियाँ—१. सुख-दुःख भोगने के योग्य पर्यायविशेषरूप देवादि चार गतियो को प्राप्त करानेवाला कर्म गति है। २. एकेन्द्रियत्व से लेकर पंचेन्द्रियत्व तक समान परिणाम को अनुभव करानेवाला कर्म जाति है। ३. औदारिक आदि शरीर प्राप्त करानेवाला कर्म शरीर है। ४. शरीरगत अङ्गो और उपाङ्गो का निमित्तभूत कर्म अङ्गोपाङ्ग है। ५-६. प्रथम गृहीत औदारिक आदि पुद्गलो के साथ ग्रहण किए जानेवाले नवीन पुद्गलो का सम्बन्ध जो कर्म कराता है वह बन्धन है और बद्धपुद्गलो को शरीर के नानाविध आकारो में व्यवस्थित करनेवाला कर्म संघात है। ७-८. अस्थिबन्ध की विशिष्ट रचनारूप संहनन और शरीर की विविध आकृतियो का निमित्त कर्म संस्थान है। ९-१२. शरीरगत श्वेत आदि पाँच वर्ण, सुरभि आदि दो गन्ध, तिक्त आदि पाँच रस, शीत आदि आठ स्पर्श—इनके नियामक कर्म अनुक्रम से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श है। १३. विग्रह द्वारा जन्मान्तर-गमन के समय जीव को आकाश-प्रदेश की श्रेणी के अनुसार गमन करानेवाला कर्म आनुपूर्वी है। १४. प्रशस्त और अप्रशस्त गमन का नियामक कर्म विहायोगति है। ये चौदह पिण्डप्रकृतियाँ कहलाती हैं। इसके अवान्तर भेद भी हैं, इसीलिए यह नामकरण है।

त्रसदशक और स्थावरदशक—१-२. जिस कर्म के उदय से स्वतन्त्रभाव से गमन करने की शक्ति प्राप्त हो वह त्रस और इसके विपरीत जिसके उदय से वैसी शक्ति प्राप्त न हो वह स्थावर है। ३-४. जिस कर्म के उदय से जीवो को चर्मचक्षु-गोचर बादर शरीर की प्राप्ति हो वह बादर, इसके विपरीत जिससे चर्मचक्षु के अगोचर सूक्ष्मशरीर की प्राप्ति हो वह सूक्ष्म है। ५-६ जिस कर्म के उदय

से प्राणी स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण करे वह पर्याप्त, इसके विपरीत जिसके उदय से स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न कर सके वह अपर्याप्त है। ७-८. जिस कर्म के उदय से जीव को भिन्न-भिन्न शरीर की प्राप्ति हो वह प्रत्येक और जिसके उदय से अनन्त जीवो का एक ही साधारण शरीर हो वह साधारण है। ९-१०. जिस कर्म के उदय से हड्डी, दाँत आदि स्थिर अवयव प्राप्त हों वह स्थिर और जिसके उदय से जिह्वा आदि अस्थिर अवयव प्राप्त हो वह अस्थिर है। ११-१२. जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव प्रशस्त हों वह शुभ और जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अप्रशस्त हो वह अशुभ है। १३-१४. जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर श्रोता में प्रीति उत्पन्न करे वह सुस्वर और जिस कर्म के उदय से श्रोता में अप्रीति उत्पन्न हो वह दुःस्वर है। १५-१६. जिस कर्म के उदय से कोई उपकार न करने पर भी जो सबको प्रिय लगे वह सुभग और जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर भी सबको प्रिय न लगे वह दुर्भग है। १७-१८. जिस कर्म के उदय से वचन बहुमान्य हो वह आदेय और जिस कर्म के उदय से वैसा न हो वह अनादेय है। १९-२०. जिस कर्म के उदय से दुनिया में यश व कीर्ति प्राप्त हो वह यशःकीर्ति और जिस कर्म के उदय से यश व कीर्ति प्राप्त न हो वह अयशःकीर्ति है।

आठ प्रत्येकप्रकृतियाँ—१ जिस कर्म के उदय से शरीर गुरु या लघु परिणाम को न पाकर अगुरुलघु के रूप में परिणत होता है वह अगुरुलघु है। २. प्रति-जिह्वा, चौरदन्त, रसौली आदि उपघातकारी अवयवों को प्राप्त करानेवाला कर्म उपघात है। ३. दर्शन या वाणी से दूसरे को निष्प्रभ कर देनेवाली दशा प्राप्त करानेवाला कर्म पराघात है। ४. श्वास लेने व छोड़ने की शक्ति का नियामक कर्म श्वासोच्छ्वास है। ५-६. अनुष्ण शरीर में उष्ण प्रकाश का नियामक कर्म आतप और शीत प्रकाश का नियामक कर्म उद्योत है। ७. शरीर में अङ्ग-प्रत्यङ्गो को यथोचित स्थान में व्यवस्थित करनेवाला कर्म निर्माण है। ८. धर्म व तीर्थ प्रवर्तन करने की शक्ति देनेवाला कर्म तीर्थंकर है। १२।

गोत्र-कर्म की दो प्रकृतियाँ—१. प्रतिष्ठा प्राप्त करानेवाले कुल में जन्म दिलानेवाला कर्म उच्चगोत्र और २ शक्ति रहने पर भी प्रतिष्ठा न मिल सके ऐसे कुल में जन्म दिलानेवाला कर्म नीचगोत्र है। १३।

अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ—जो कर्म कुछ भी देने, लेने, एक बार या बार-बार भोगने और सामर्थ्य में अन्तराय (विघ्न) पैदा कर देते हैं वे क्रमशः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्म हैं।-१४।

स्थितिबन्ध

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः । १५ ।

सप्ततिर्मोहनीयस्य । १६ ।

नामगोत्रयोर्विंशतिः । १७ ।

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य । १८ ।

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य । १९ ।

नामगोत्रयोरष्टौ । २० ।

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् । २१ ।

प्रथम तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय इन चार कर्म-प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम है।

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागरोपम है।

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम है।

आयुष्क की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है।

वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है।

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

शेष पाँच अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय और आयुष्य की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

प्रत्येक कर्म की उत्कृष्ट स्थिति के अधिकारी मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय जीव होते है, जघन्य स्थिति के अधिकारी भिन्न-भिन्न जीव होते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छहो की जघन्य स्थिति सूक्ष्म-सम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में सम्भव है। मोहनीय की जघन्य स्थिति नवें अनिवृत्तिबादरसम्पराय नामक गुणस्थान में सम्भव है। आयुष्य की जघन्य स्थिति संख्यातवर्षजीवी तिर्यंच और मनुष्य में सम्भव है। मध्यम स्थिति के असंख्यात प्रकार है और उनके अधिकारी भी काषायिक परिणाम की तरतमता के अनुसार असंख्यात है। १५-२१।

अनुभावबन्ध

विपाकोऽनुभावः । २२ ।

स यथानाम । २३ ।

ततश्च निर्जरा । २४ ।

Jain Vishva Bharati Institute
Accn No 29250

विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति ही अनुभाव है।

अनुभाव का वेदन भिन्न-भिन्न कर्म की प्रकृति अथवा स्वभाव के अनुसार किया जाता है।

उससे अर्थात् वेदन से निर्जरा होती है।

अनुभाव और उसका बन्ध—बन्धनकाल में उसके कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्र मन्द भाव के अनुसार प्रत्येक कर्म में तीव्र-मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है। फल देने का यह सामर्थ्य ही अनुभाव है और उसका निर्माण ही अनुभावबन्ध है।

अनुभाव का फल—अनुभाव समय आने पर ही फल देता है, परन्तु इस विषय में इतना ज्ञातव्य है कि प्रत्येक अनुभाव (फलप्रद)—शक्ति स्वयं जिस कर्म में निष्ठ हो उस कर्म के स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार ही फल देती है, अन्य कर्म के स्वभावानुसार नही। उदाहरणार्थ ज्ञानावरण कर्म का अनुभाव उस कर्म के स्वभावानुसार ही तीव्र या मन्द फल देता है—वह ज्ञान को ही आवृत करता है, दर्शनावरण, वेदनीय आदि अन्य कर्म के स्वभावानुसार फल नही देता। साराश यह है कि वह न तो दर्शनशक्ति को आवृत करता है और न सुख-दुःख के अनुभाव आदि कार्य को ही उत्पन्न करता है। इसी प्रकार दर्शनावरण का अनुभाव दर्शन-शक्ति को तीव्र या मन्द रूप से आवृत करता है, ज्ञान के आच्छादन आदि अन्य कर्मों के कार्यों को नही करता।

कर्म के स्वभावानुसार विपाक के अनुभावबन्ध का नियम भी मूलप्रकृतियो पर ही लागू होता है, उत्तरप्रकृतियों पर नही। क्योंकि किसी भी कर्म की एक उत्तरप्रकृति बाद में अध्यवसाय के बल से उसी कर्म की अन्य उत्तरप्रकृति के रूप में बदल जाती है, जिससे पहली का अनुभाव परिवर्तित उत्तरप्रकृति के स्वभावानुसार तीव्र या मन्द फल देता है। जैसे मतिज्ञानावरण जब श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय उत्तरप्रकृति के रूप में संक्रमण करता है तब मतिज्ञानावरण का अनुभाव भी श्रुतज्ञानावरण आदि के स्वभावानुसार ही श्रुतज्ञान या अवधि आदि ज्ञान को आवृत करने का काम करता है। लेकिन उत्तरप्रकृतियो में कितनी ही ऐसी हैं जो सजातीय होने पर भी परस्पर संक्रमण नही करती। जैसे दर्शनमोह और चारित्रमोह में से दर्शनमोह चारित्रमोह के रूप में अथवा चारित्रमोह दर्शनमोह के रूप में संक्रमण नही करता। इसी प्रकार नारकआयुष्क तिर्यंचआयुष्क के रूप में अथवा अन्य किसी आयुष्क के रूप में संक्रमण नही करता।

प्रकृतिसंक्रमण की भाँति ही बन्धकालीन रस और स्थिति में भी बाद में अध्यवसाय के कारण परिवर्तन हो सकता है, तीव्ररस मन्द और मन्दरस तीव्र हो सकता है। इसी प्रकार स्थिति भी उत्कृष्ट से जघन्य और जघन्य से उत्कृष्ट हो सकती है।

फलोदय के बाद मुक्त कर्म की दशा—अनुभावानुसार कर्म के तीव्र-मन्द फल का वेदन हो जाने पर वह कर्म आत्मप्रदेशो से अलग हो जाता है अर्थात् फिर संलग्न नही रहता। यही कर्मनिवृत्ति—निर्जरा है। जैसे कर्म की निर्जरा उसके फल-वेदन से होती है वैसे ही प्राय तप से भी होती है। तप के बल से अनुभावानुसार फलोदय के पहले ही कर्म आत्मप्रदेशो से अलग हो सकते है। यह बात सूत्र में 'च' शब्द द्वारा व्यक्त की गई है। २२-२४।

प्रदेशबन्ध

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः। २५।

कर्म (प्रकृति) के कारणभूत सूक्ष्म, एकक्षत्र को अवगाहन करके रहे हुए तथा अनन्तानन्त प्रदेशवाले पुद्गल योगविशेष से सभी ओर से सभी आत्मप्रदेशो मे बन्ध को प्राप्त होते है।

प्रदेशबन्ध एक प्रकार का सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध के दो आधार है—कर्मस्कन्ध और आत्मा। इनके विषय मे जो आठ प्रश्न उत्पन्न होते है उन्ही का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है। प्रश्न इस प्रकार है

१ जब कर्मस्कन्धो का बन्ध होता है तब उनमें क्या निर्माण होता है? २. इन स्कन्धो का ऊँचे, नीचे या तिरछे किन आत्मप्रदेशो द्वारा ग्रहण होता है? ३. सभी जीवो का कर्मबन्ध समान होता है या असमान? यदि असमान होता है तो क्यो? ४ वे कर्मस्कन्ध स्थूल होते है या सूक्ष्म? ५. जीव-प्रदेशवाले क्षेत्र में रहे हुए कर्मस्कन्धो का ही जीवप्रदेश के साथ बन्ध होता है या उससे भिन्न क्षेत्र में रहे हुए का भी होता है? ६ वे बन्ध के समय गतिशील होते है या स्थितिशील? ७. उन कर्मस्कन्धो का सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशो में बन्ध होता है या कुछ ही आत्मप्रदेशो में? ८ वे कर्मस्कन्ध संख्यात, असंख्यात, अनन्त या अनन्तानन्त में से कितने प्रदेशवाले होते हैं?

इन आठों प्रश्नो के सूत्रगत उत्तर क्रमश इस प्रकार हैं:

१ आत्मप्रदेशों के साथ बँधनेवाले पुद्गलस्कन्धो में कर्मभाव अर्थात् ज्ञानावरणत्व आदि प्रकृतियाँ बनती है। साराश यह है कि वैसे स्कन्धों से उन प्रकृतियों

का निर्माण होता है। इसीलिए उन स्कन्धो को सभी प्रकृतियो का कारण कहा गया है। २. ऊँची, नीची और तिरछी सभी दिशाओ में रहे हुए आत्मप्रदेशो के द्वारा कर्मस्कन्धो का ग्रहण होता है, किसी एक ही दिशा के आत्मप्रदेशो द्वारा नही। ३ सभी जीवो के कर्मबन्ध के असमान होने का कारण यह है कि सभी के मानसिक, वाचिक और कायिक योग (व्यापार) समान नही होते। यही कारण है कि योग के तरतमभाव के अनुसार प्रदेशबन्ध में भी तरतमभाव आ जाता है। ४. कर्मयोग्य पुद्गलस्कन्ध स्थूल (बादर) नही होते, सूक्ष्म ही होते है, वैसे सूक्ष्मस्कन्धों का ही कर्मवर्गणा में से ग्रहण होता है। ५. जीवप्रदेश के क्षेत्र में रहे हुए कर्मस्कन्धो का ही बन्ध होता है, उसके बाहर के क्षेत्र के कर्मस्कन्धो का नही। ६. केवल स्थिर होने से ही बन्ध होता है, क्योकि गतिशील स्कन्ध अस्थिर होने से बन्ध को प्राप्त नही होते। ७. प्रत्येक कर्म के अनन्त स्कन्धो का सभी आत्मप्रदेशों में बन्ध होता है। ८. बँधनेवाले समस्त कर्मयोग्य स्कन्ध अनन्तानन्त परमाणुओ के ही बने होते है, कोई भी संख्यात, असख्यात या अनन्त परमाणुओ का बना हुआ नही होता। २५।

पुण्य और पाप प्रकृतियाँ

सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्। २६।

सातावेदनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप है (शेष सभी प्रकृतियाँ पापरूप हैं)।

जिन कर्मो का बन्ध होता है उनका विपाक केवल शुभ या अशुभ ही नही होता अपितु अध्यवसायरूप कारण की शुभाशुभता के निमित्त से वे शुभाशुभ दोनों प्रकार के होते है। शुभ अध्यवसाय से निर्मित विपाक शुभ (इष्ट) होता है और अशुभ अध्यवसाय से निर्मित विपाक अशुभ (अनिष्ट) होता है। जिस परिणाम मे संक्लेश जितना कम होगा वह परिणाम उतना ही अधिक शुभ और जिस परिणाम में संक्लेश जितना अधिक होगा वह परिणाम उतना ही अशुभ होगा। कोई भी एक परिणाम ऐसा नही है जिसे केवल शुभ या केवल अशुभ कहा जा सके। प्रत्येक परिणाम शुभ-अशुभ अथवा उभयरूप होने पर भी उसमें शुभत्व-अशुभत्व का व्यवहार गौणमुख्यभाव की अपेक्षा से किया जाता है, इसीलिए जिस शुभ परिणाम से पुण्य-प्रकृतियो में शुभ अनुभाग बँधता है उसी परिणाम से पाप-प्रकृतियो में अशुभ अनुभाग भी बँधता है। इसके विपरीत जिस परिणाम से अशुभ अनुभाग बँधता है उसी परिणाम से पुण्य-प्रकृतियों में शुभ अनुभाग

भी बँधता है। इतना ही अन्तर है कि जैसे प्रकृष्ट शुभ परिणाम से होनेवाला शुभ अनुभाग प्रकृष्ट होता है और अशुभ अनुभाग निकृष्ट होता है वैसे ही प्रकृष्ट अशुभ परिणाम से बँधनेवाला अशुभ अनुभाग प्रकृष्ट होता है और शुभ अनुभाग निकृष्ट होता है।

पुण्यरूप में प्रसिद्ध ४२ प्रकृतियाँ[1]—सातावेदनीय, मनुष्यायुष्क, देवायुष्क, तिर्यंच-आयुष्क, मनुष्यगति, देवगति, पचेन्द्रियजाति; औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण ये पाँच शरीर, औदारिक-अंगोपांग, वैक्रिय-अंगोपांग, आहारक-अंगोपांग, समचतुरस्र-संस्थान, वज्रर्षभनाराच-सहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, निर्माणनाम, तीर्थंकरनाम और उच्चगोत्र।

पापरूप में प्रसिद्ध ८२ प्रकृतियाँ—पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, असाता-वेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौ नोकषाय, नारकायुष्क, नरकगति, तिर्यंच-गति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, प्रथम सहनन को छोड़ शेष पाँच सहनन—अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त, प्रथम संस्थान को छोड शेष पाँच संस्थान—न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुड, अप्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, नारकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, नीचगोत्र और पाँच अन्तराय। २६।

---

१ ये ४२ पुण्य-प्रकृतियाँ कर्मप्रकृति व नवतत्त्व आदि अनेक ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर ग्रन्थों में भी ये ही प्रकृतियाँ पुण्यरूप से प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत सूत्र में पुण्य-रूप में निर्दिष्ट सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद इन चार प्रकृतियों का अन्य किसी ग्रन्थ में पुण्यरूप से वर्णन नहीं है।

इन चार प्रकृतियों को पुण्यरूप माननेवाला मतविशेष बहुत प्राचीन है, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में उपलब्ध इनके उल्लेख के उपरांत भाष्यवृत्तिकार ने भी मतभेद को दरसानेवाली कारिकाएँ दी हैं और लिखा है कि इस मंतव्य का रहस्य सम्प्रदाय-विच्छेद के कारण हमें मालूम नहीं होता। हाँ, चतुर्दशपूर्वधारी जानते होंगे।

: ९ :

संवर-निर्जरा

बन्ध के वर्णन के बाद अब इस नवें अध्याय में संवर एवं निर्जरा तत्त्व का निरूपण किया जाता है।

संवर का स्वरूप

आस्रवनिरोधः संवरः । १ ।

आस्रव का निरोध संवर है।

जिस निमित्त से कर्म का बन्ध होता है वह आस्रव है। आस्रव की व्याख्या पहले की जा चुकी है। आस्रव का निरोध अर्थात् प्रतिबन्ध करना ही संवर है। आस्रव के ४२ भेद पहले बतलाए जा चुके हैं। उनका जितने-जितने अंश में निरोध होगा उतने-उतने अंश में संवर कहा जाएगा। आध्यात्मिक विकास का क्रम ही आस्रव-निरोध के विकास पर आश्रित है। अतः जैसे-जैसे आस्रव-निरोध बढ़ता जाता है वैसे-वैसे गुणस्थान[1] की भी वृद्धि होती है।

संवर के उपाय

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः । २ ।

तपसा निर्जरा च । ३ ।

वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है।

तप से संवर और निर्जरा होती है।

---

१. जिस गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरति आदि चार हेतुओं में से जो-जो हेतु सम्भव हों और उनके कारण जिन-जिन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध सम्भव हो उन हेतुओं और तज्जन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का विच्छेद ही उस गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान का संवर है अर्थात् पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान के आस्रव या तज्जन्य बन्ध का अभाव ही उत्तर-उत्तरवर्ती गुणस्थान का संवर है। इसके लिए देखें—दूसरे कर्मग्रन्थ में बन्धप्रकरण और चौथा कर्मग्रन्थ (गाथा ५१-५८) तथा प्रस्तुत सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका।

सामान्यतः संवर का एक ही स्वरूप है, फिर भी प्रकारान्तर से उसके अनेक भेद कहे गए हैं। संक्षेप में से इसके ७ और विस्तार में ६९ उपाय बताए गए हैं। यह संख्या धार्मिक आचारो के विधानो पर अवलम्बित है।

जैसे तप संवर का उपाय है वैसे ही वह निर्जरा का भी प्रमुख कारण है। सामान्यतया तप अभ्युदय (लौकिक सुख) की प्राप्ति का साधन माना जाता है, फिर भी वह निःश्रेयस (आध्यात्मिक सुख) का भी साधन है क्योंकि तप एक होने पर भी उसके पीछे की भावना के भेद के कारण वह सकाम और निष्काम दो प्रकार का हो जाता है। सकाम तप अभ्युदय का साधक है और निष्काम तप निःश्रेयस का। २-३।

गुप्ति का स्वरूप

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। ४।

योगों का भलीभाँति निग्रह करना गुप्ति है।

कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया अर्थात् योग का सभी प्रकार से निग्रह करना गुप्ति नही है, किन्तु प्रशस्त निग्रह ही गुप्ति होकर संवर का उपाय बनता है। प्रशस्त निग्रह का अर्थ है सोचसमझकर तथा श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया गया अर्थात् बुद्धि और श्रद्धापूर्वक मन, वचन और काय को उन्मार्ग से रोकना और सन्मार्ग में लगाना। योग के संक्षेप में तीन भेद हैं, अतः निग्रहरूप गुप्ति के भी तीन भेद होते हैं

१. किसी भी वस्तु के लेने व रखने में अथवा बैठने-उठने व चलने-फिरने में कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक हो, इस प्रकार शारीरिक व्यापार का नियमन करना ही कायगुप्ति है। २. बोलने के प्रत्येक प्रसग पर या तो वचन का नियमन करना या मौन धारण करना वचनगुप्ति है। ३. दुष्ट संकल्प एवं अच्छे-बुरे मिश्रित संकल्प का त्याग करना और अच्छे सकल्प का सेवन करना मनोगुप्ति है।

समिति के भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः। ५।

सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादान-निक्षेप और सम्यगुत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं।

सभी समितियाँ विवेकयुक्त प्रवृत्तिरूप होने से संवर का उपाय बनती है। पाँचों समितियाँ इस प्रकार हैं :

१. ईर्यासमिति—किसी भी जन्तु (प्राणी) को क्लेश न हो, इसलिए सावधानीपूर्वक चलना। २. भाषासमिति—सत्य, हितकारी, परिमित और संदेहरहित बोलना। ३. एषणासमिति—जीवन-यात्रा में आवश्यक निर्दोष साधनों को जुटाने के लिए सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना। ४. आदाननिक्षेपसमिति—वस्तुमात्र को भलीभाँति देखकर एवं प्रमार्जित करके लेना या रखना। ५. उत्सर्गसमिति—जीवरहित प्रदेश में देखभालकर एवं प्रमार्जित करके ही अनुपयोगी वस्तुओं का विसर्जन करना।

प्रश्न—गुप्ति और समिति में क्या अन्तर है ?

उत्तर—गुप्ति में असत्क्रिया के निषेध की मुख्यता है और समिति में सत्क्रिया प्रवर्तन की मुख्यता है। ५।

धर्म के भेद

उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः। ६।

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस उत्तम धर्म हैं।

क्षमा आदि गुणों को जीवन में उतारने से ही क्रोध आदि दोषों का अभाव होता है, इसीलिए इन गुणों को संवर का उपाय कहा गया है। क्षमा आदि दस प्रकार का धर्म जब अहिंसा, सत्य आदि मूलगुणों तथा स्थान, आहार-शुद्धि आदि उत्तरगुणों के प्रकर्ष से युक्त होता है तभी यतिधर्म बनता है, अन्यथा नहीं। अभिप्राय यह है कि अहिंसा आदि मूलगुणों या उत्तरगुणों के प्रकर्ष से रहित क्षमा आदि गुण भले ही सामान्य धर्म कहलाएँ पर यतिधर्म की कोटि में नहीं आ सकते। ये दस धर्म इस प्रकार हैं—

१. क्षमा—सहनशील रहना अर्थात् क्रोध पैदा न होने देना और उत्पन्न क्रोध को विवेक तथा नम्रता से निष्फल कर डालना। क्षमा की साधना के पाँच उपाय हैं : अपने में क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन करना, क्रोधवृत्ति के दोषों का विचार करना, बालस्वभाव का विचार करना, अपने किए हुए कर्म के परिणाम का विचार करना और क्षमा के गुणों का चिन्तन करना।

(क) कोई क्रोध करे तब उसके कारण को अपने में ढूँढना। यदि दूसरे के क्रोध का कारण अपने में दृष्टिगोचर हो तो ऐसा विचार करना कि भूल तो मेरी अपनी ही है, दूसरे की बात तो सच है। कदाचित् अपने में दूसरे के क्रोध का

कारण दिखाई न पड़े तो सोचना चाहिए कि यह बेचारा अज्ञान से मेरी भूल निकालता है। यही अपने में क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन है।

(ख) जिसे क्रोध आता है वह विभ्रममतियुक्त होने से आवेश में आकर दूसरे के साथ शत्रुता बाँधता है, फिर उसे मारता या हानि पहुँचाता है और इस तरह अपने अहिंसाव्रत को नष्ट करता है। इस प्रकार के अनर्थं का चिन्तन ही क्रोधवृत्ति के दोषों का चिन्तन कहलाता है।

(ग) कोई पीठपीछे निन्दा करे तो ऐसा चिन्तन करना कि बाल (नासमझ) लोगों का यह स्वभाव ही है, इसमें बात ही क्या है ? उलटा लाभ है जो बेचारा पीठपीछे गाली देता है, सामने तो नही आता। यही प्रसन्नता की बात है। जब कोई सामने आकर गाली दे तब ऐसा सोचना कि यह तो बालजनों की ही बात है, जो अपने स्वभाव के अनुसार ऐसा करते हैं, इससे अधिक तो कुछ करते नहीं। सामने आकर गाली ही देते हैं, प्रहार तो नही करते, यह भी लाभ ही है। इसी प्रकार यदि कोई प्रहार करे तो उपकार मानना कि वह प्राणमुक्त तो नही करता और यदि कोई प्राणमुक्त करे तब धर्मभ्रष्ट न कर सकने का लाभ मानकर अपने प्रति उसकी दया का चिन्तन करना। इस प्रकार जैसे-जैसे अधिक कठिनाइयाँ आयें वैसे-वैसे अपने में विशेष उदारता और विवेक का विकास करके उपस्थित कठिनाइयो को सरल बनाना ही बालस्वभाव का चिन्तन है।

(घ) कोई क्रोध करे तब यह सोचना कि इस अवसर पर दूसरा तो निमित्तमात्र है, वास्तव में यह प्रसंग मेरे अपने ही पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है। यही अपने कृत कर्मों का चिन्तन है।

(ङ) कोई क्रोध करे तब यह सोचना कि 'क्षमा धारण करने से चित्त स्वस्थ रहता है, बदला लेने या प्रतिकार करने में व्यय होनेवाली शक्ति का उपयोग सन्मार्ग में किया जा सकता है'। यही क्षमा के गुणो का चिन्तन है।

२. मार्दव—चित्त में मृदुता और व्यवहार में भी नम्रवृत्ति का होना मार्दव गुण है। इसकी सिद्धि के लिए जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, विज्ञान (बुद्धि), श्रुत (शास्त्र), लाभ (प्राप्ति), वीर्य (शक्ति) के विषय में अपने को बड़ा या ऊँचा मानकर गर्वित न होना और इन वस्तुओ की विनश्वरता का विचार करके अभिमान के काँटे को निकाल फेंकना।

३ आर्जव—भाव की विशुद्धि अर्थात् विचार, भाषण और व्यवहार की एकता ही आर्जव गुण है। इसकी प्राप्ति के लिए कुटिलता या मायाचारी के दोषों के परिणाम का विचार करना।

४. शौच—धर्म के साधनो तथा शरीर तक में भी आसक्ति न रखना—ऐसी निर्लोभता शौच है।

५. सत्य—सत्पुरुषो के लिए हितकारी व यथार्थ वचन बोलना ही सत्य है। भाषासमिति और सत्य में अन्तर यह है कि प्रत्येक मनुष्य के साथ बोलचाल में विवेक रखना भाषासमिति है और अपने समशील साधु पुरुषों के साथ सम्भाषण-व्यवहार में हित, मित और यथार्थ वचन का उपयोग करना सत्य नामक यति-धर्म है।

६. संयम—मन, वचन और काय का नियमन करना अर्थात् विचार, वाणी और गति, स्थिति आदि में यतना (सावधानी) का अभ्यास करना संयम है।[1]

७. तप—मलिन वृत्तियों को निर्मूल करने के निमित्त अपेक्षित शक्ति की साधना के लिए किया जानेवाला आत्मदमन तप है।[2]

८. त्याग—पात्र को ज्ञानादि सद्गुण प्रदान करना त्याग है।

९. आकिंचन्य—किसी भी वस्तु में ममत्वबुद्धि न रखना आकिंचन्य है।

१०. ब्रह्मचर्य—त्रुटियो को दूर करने के लिए ज्ञानादि सद्गुणों का अभ्यास करना एवं गुरु[3] की अधीनता के सेवन के लिए ब्रह्म (गुरुकुल) में चर्य (बसना) ब्रह्मचर्य है। इसके परिपालनार्थ अतिशय उपकारक अनेक गुण हैं, जैसे आकर्षक

१. संयम के सत्रह प्रकार है, जो भिन्न-भिन्न रूप में हैं: पांच इंद्रियों का निग्रह, पाँच अव्रतों का त्याग, चार कषायों का जय तथा मन, वचन और काय की विरति। इसी प्रकार पाँच स्थावर और चार त्रस ये नौ संयम तथा प्रेक्ष्यसंयम, उपेक्ष्यसंयम, अपहृत्य-संयम, प्रमृज्यसंयम, कायसंयम, वाक्संयम, मनसंयम और उपकरणसंयम इस तरह कुल सत्रह प्रकार का संयम है।

२. इसका वर्णन इसी अध्याय के सूत्र १९-२० में है। इसके उपरांत अनेक तपस्वियों द्वारा आचरित अलग-अलग प्रकार के तप जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं। जैसे यवमध्य और वज्रमध्य ये दो, चान्द्रायण; कनकावली, रत्नावली और मुक्तावली ये तीन, क्षुल्लक और महा ये दो सिंहविक्रीडित; सप्तसप्तमिका, अष्टअष्टमिका, नवनवमिका, दशदशमिका ये चार प्रतिमाएँ; क्षुद्र और महा ये दो सर्वतोभद्र; भद्रोत्तर आचाम्ल; वर्धमान एवं बारह भिक्षुप्रतिमाएँ इत्यादि। इनके विशेष वर्णन के लिए देखें—आत्मानन्द सभा द्वारा प्रकाशित तपोरत्नमहोदधि नामक ग्रन्थ।

३. गुरु (आचार्य) पाँच प्रकार के हैं—प्रव्राजक, दिगाचार्य, श्रुतोद्देष्टा, श्रुतसमुद्देष्टा, आम्नायार्थवाचक। जो प्रव्रज्या देता है वह प्रव्राजक, जो वस्तुमात्र की अनुज्ञा प्रदान करे वह दिगाचार्य, जो आगम का प्रथम पाठ पढ़ाए वह श्रुतोद्देष्टा, जो स्थिर परिचय कराने के लिए आगम का विशेष प्रवचन करे वह श्रुतसमुद्देष्टा और जो आम्नाय के उत्सर्ग और अपवाद का रहस्य बतलाए वह आम्नायार्थवाचक कहलाता है।

स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द और शरीर-संस्कार आदि में न उलझना। इसी प्रकार अध्याय ७ के सूत्र ३ में वर्णित चतुर्थ महाव्रत की पाँच भावनाओं का विशेष रूप से अभ्यास करना। ६।

अनुप्रेक्षा के भेद

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः। ७।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभत्व और धर्मस्वाख्याततत्व—इनका अनुचिन्तन ही अनुप्रेक्षाएँ हैं।

अनुप्रेक्षा अर्थात् गहन चिन्तन। तात्त्विक और गहरे चिन्तन द्वारा रागद्वेष आदि वृत्तियाँ रुक जाती हैं, इसीलिए ऐसे चिन्तन को संवर का उपाय कहा गया है।

जीवनशुद्धि में विशेष उपयोगी बारह विषयो को चुनकर उनके चिन्तन को बारह अनुप्रेक्षाओ के रूप में गिनाया गया है। अनुप्रेक्षा को भावना भी कहते हैं। बारह अनुप्रेक्षाओं का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

१ अनित्यानुप्रेक्षा—किसी भी प्राप्त वस्तु के वियोग से दुःख न हो इसलिए उन सभी वस्तुओं में आसक्ति कम करना आवश्यक है। इसके लिए ही शरीर और घरबार आदि वस्तुएँ एवं उनके सम्बन्ध नित्य और स्थिर नही है, ऐसा चिन्तन करना ही अनित्यानुप्रेक्षा है।

२. अशरणानुप्रेक्षा—एकमात्र शुद्ध धर्म को ही जीवन का शरणभूत स्वीकार करने के लिए अन्य सभी वस्तुओ से ममत्व हटाना आवश्यक है। इसके लिए ऐसा चिन्तन करना कि जैसे सिंह के पंजे में पड़े हुए हिरन का कोई शरण नहीं वैसे ही आधि (मानसिक रोग), व्याधि (शारीरिक रोग) और उपाधि से ग्रस्त मैं भी सर्वदा के लिए अशरण हूँ। यह अशरणानुप्रेक्षा है।

३. संसारानुप्रेक्षा—संसारतृष्णा का त्याग करने के लिए सांसारिक वस्तुओं में निर्वेद (उदासीनता) की साधना आवश्यक है। इसीलिए ऐसी वस्तुओं से मन को हटाने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि इस अनादि जन्म-मरण-संसार में न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन, क्योंकि प्रत्येक के साथ तरह-तरह के सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर में हुए हैं। इसी प्रकार राग, द्वेष और मोह से संतप्त प्राणी विषयतृष्णा के कारण एक-दूसरे को हड़पने की नीति से असह्य दुःखों का

अनुभव करते हैं। यह संसार हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का स्थान है और सचमुच कष्टमय है। इस प्रकार का चिन्तन संसारानुप्रेक्षा है।

४. **एकत्वानुप्रेक्षा**—मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से रागद्वेष के प्रसंगों में निर्लेपता की साधना आवश्यक है। अतः स्वजन-विषयक राग तथा परजन-विषयक द्वेष को दूर करने के लिए ऐसा विचार करना कि 'मैं अकेला ही जन्मता-मरता हूँ, अकेला ही अपने बोये हुए कर्मबीजों के सुख-दुःखादि फलों का अनुभव करता हूँ, वास्तव में मेरे सुख-दुःख का कोई कर्ता-हर्ता नहीं है'। यह एकत्वानुप्रेक्षा है।

५. **अन्यत्वानुप्रेक्षा**—मनुष्य मोहावेश से शरीर और अन्य वस्तुओं की ह्रास-वृद्धि में अपनी ह्रास-वृद्धि को मानने की भूल करके मूल कर्तव्य को भूल जाता है। इस स्थिति के निरासार्थ शरीर आदि अन्य वस्तुओं में अपनी आदत को दूर करना आवश्यक है। इसीलिए इन दोनों के गुण-धर्मों की भिन्नता का चिन्तन करना कि शरीर तो जड़, स्थूल तथा आदि अन्त युक्त है और मैं तो चेतन, सूक्ष्म-आदि, अन्तरहित हूँ। यह अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

६. **अशुचित्वानुप्रेक्षा**—सबसे अधिक घृणास्पद शरीर ही है, अतः उस पर से मूर्च्छा घटाने के लिए ऐसा सोचना कि शरीर स्वयं अशुचि है, अशुचि से ही पैदा हुआ है, अशुचि वस्तुओं से इसका पोषण हुआ है, अशुचि का स्थान है और अशुचि-परम्परा का कारण है। यह अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

७. **आस्रवानुप्रेक्षा**—इन्द्रिय-भोगों की आसक्ति कम करने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के भोगसम्बन्धी राग से उत्पन्न होनेवाले अनिष्ट परिणामों का चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

८. **संवरानुप्रेक्षा**—दुर्वृत्ति के द्वारों को बन्द करने के लिए सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है।

९. **निर्जरानुप्रेक्षा**—कर्म-बन्धन को नष्ट करने की वृत्ति दृढ़ करने के लिए विविध कर्म-विपाकों का चिन्तन करना कि दुःख के प्रसंग दो प्रकार के होते हैं—एक तो इच्छा और सज्ञान प्रयत्न के बिना प्राप्त हुआ, जैसे पशु, पक्षी और बहरे, गूँगे आदि दुःखप्रधान जन्म तथा उत्तराधिकार में प्राप्त गरीबी; दूसरा सदुद्देश्य से संज्ञान प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया हुआ, जैसे तप और त्याग के कारण प्राप्त गरीबी और शारीरिक कृशता आदि। पहले में वृत्ति का समाधान न होने से वह अरुचि का कारण होकर अकुशल परिणामदायक बनता है और दूसरा सद्वृत्ति-जनित होने से उसका परिणाम कुशल ही होता है। अतः अचानक प्राप्त हुए कटुक विपाकों में समाधान-वृत्ति साधना तथा जहाँ सम्भव हो वहाँ तप और

त्याग द्वारा कुशल परिणाम की प्राप्ति हो इस प्रकार संचित कर्मों को भोगना श्रेयस्कर है। यह निर्जरानुप्रेक्षा है।

१० लोकानुप्रेक्षा—तत्त्वज्ञान की विशुद्धि के निमित्त विश्व के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है।

११. बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा—प्राप्त हुए मोक्षमार्ग में अप्रमत्तभाव की साधना के लिए ऐसा विचार करना कि 'अनादिप्रपंच-जाल में, विविध दुःखो के प्रवाह में तथा मोह आदि कर्मों के तीव्र आघातो को सहन करते हुए जीव को शुद्ध दृष्टि और शुद्ध चारित्र प्राप्त होना दुर्लभ है'। यह बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है।

१२ धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा—धर्ममार्ग से च्युत न होने और उसके अनुष्ठान में स्थिरता लाने के लिए ऐसा चिंतन करना कि 'यह कितना बड़ा सौभाग्य है कि जिससे समस्त प्राणियों का कल्याण होता है ऐसे सर्वगुणसम्पन्न धर्म का सत्पुरुषो ने उपदेश किया है'। यह धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। ७।

परीषह

मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसो[1]ढव्याः परीषहाः। ८।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि। ९।

सूक्ष्मसम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश। १०।

एकादश जिने। ११।

बादरसम्पराये सर्वे। १२।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने। १३।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ। १४।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः। १५।

वेदनीये शेषाः। १६।

एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः। १७।

मार्ग से च्युत न होने एवं कर्मों के क्षय के लिए जो सहन करने योग्य हो वे परीषह हैं।

---

१ श्वेताम्बर व दिगम्बर सभी पुस्तकों में 'ष' छपा हुआ मिलता है, परन्तु यह परीषह शब्द के 'ष' के साम्य के कारण व्याकरणविषयक भ्रान्ति-मात्र है। वस्तुत. व्याकरण के अनुसार 'परिसोढव्याः' ही शुद्ध रूप है। जैसे देखें—सिद्धहेम व्याकरण २ ३.४८ तथा पाणिनीय व्याकरण, ८ ३ ११५

क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन—ये बाईस परीषह हैं।

सूक्ष्मसम्पराय व छद्मस्थवीतराग में चौदह परीषह सम्भव हैं।

जिन भगवान् में ग्यारह परीषह सम्भव हैं।

बादरसम्पराय में बाईसो परीषह सम्भव हैं।

ज्ञानावरणरूप निमित्त से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।

दर्शनमोह से अदर्शन और अन्तराय कर्म से अलाभ परीषह होते हैं।

चारित्रमोह से नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं।

वेदनीय से शेष सभी परीषह होते हैं।

एक साथ एक आत्मा मे १ से १९ तक परीषह विकल्प से सम्भव है।

सवर के उपाय के रूप में सूत्रकार ने परीषहो के पांच अगो का निरूपण किया हैं—१ परीषहो का लक्षण, २ उनकी सख्या, ३. अधिकारी भेद से उनका विभाग, ४ उनके कारणो का निर्देश और ५. एक साथ एक जीव में सम्भाव्य परीषह। यहाँ प्रत्येक अग का विशेष विचार किया जाता है।

१ लक्षण—अङ्गीकृत धर्ममार्ग में स्थिर रहने और कर्मबन्धन के विनाश के लिए जो स्थिति समभावपूर्वक सहन करने योग्य है उसे परीषह कहते हैं। ८।

२. संख्या—यद्यपि परीषहों की सख्या संक्षेप मे कम और विस्तार में अधिक भी कल्पित की जा सकती है तथापि त्याग के विकास के लिए विशेषरूप मे बाईस परीषह शास्त्र में बतलाए गए हैं। वे ये हैं—१-२ क्षुधा और पिपासा—भूख और प्यास की चाहे जैसी वेदना हो, फिर भी अङ्गीकृत मर्यादा के विपरीत आहार-जल न लेते हुए समभावपूर्वक इन वेदनाओ को सहना। ३-४. शीत व उष्ण– ठंड और गरमी से चाहे जितना कष्ट होता हो, फिर भी उसके निवारणार्थ किसी भी अकल्प्य वस्तु का सेवन न करके समभावपूर्वक उन वेदनाओ को सहना। ५ दंशमशक—डाँस, मच्छर आदि जन्तुओ के उपद्रव को खिन्न न होते हुए समभावपूर्वक सहन करना। ६. नग्नता[1]—नग्नता को समभावपूर्वक सहन

१. इस परीषह के विषय में श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में विशेष मतभेद है और इसी के कारण श्वेताम्बर–दिगम्बर नाम पड़े है। श्वेताम्बर शास्त्र विशिष्ट साधकों के

करना। ७ अरति—अंगीकृत मार्ग में अनेक कठिनाइयों के कारण अरुचि का प्रसंग आने पर उस समय अरुचि न लाते हुए धैर्यपूर्वक उसमें रस लेना। ८ स्त्री—पुरुष या स्त्री साधक का अपनी साधना में विजातीय आकर्षण के प्रति न ललचाना। ९ चर्या—स्वीकृत धर्मजीवन को पुष्ट रखने के लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानों में विहार करना और किसी भी एक स्थान में नियतवास स्वीकार न करना। १०. निषद्या—साधना के अनुकूल एकान्त स्थान में मर्यादित समय तक आसन लगाकर बैठे हुए साधक के ऊपर यदि भय का प्रसंग आ जाय तो उसे अकम्पितभाव से जीतना अथवा आसन से च्युत न होना। ११. शय्या—कोमल या कठोर, ऊँची या नीची, जैसी भी जगह सहजभाव से मिले वहाँ समभावपूर्वक शयन करना। १२. आक्रोश—कोई पास आकर कठोर या अप्रिय वचन कहे तब भी उसे सत्कार समझना। १३. वध—किसी के द्वारा ताडन-तर्जन किये जाने पर भी उसे सेवा ही मानना। १४ याचना—दीनता या अभिमान न रखते हुए सहज धर्मयात्रा के निर्वाहार्थ याचकवृत्ति स्वीकार करना। १५ अलाभ—याचना करने पर भी यदि अभीष्ट वस्तु न मिले तो प्राप्ति के बजाय अप्राप्ति को ही सच्चा तप मानकर संतोष रखना। १६. रोग—व्याकुल न होकर समभावपूर्वक किसी भी रोग को सहन करना। १७ तृणस्पर्श—संथारे में या अन्यत्र तृण आदि की तीक्ष्णता अथवा कठोरता अनुभव हो तो मृदुशय्या के सेवन जैसी प्रसन्नता रखना। १८. मल—शारीरिक मैल चाहे जितना हो, फिर भी उससे उद्विग्न न होना और स्नान आदि संस्कारों की इच्छा न करना। १९. सत्कार-पुरस्कार—चाहे जितना सत्कार मिले पर उससे प्रसन्न न होना और सत्कार न मिलने पर खिन्न न होना। २०. प्रज्ञा—प्रज्ञा अर्थात् चमत्कारिणी बुद्धि होने पर उसका गर्व न करना और वैसी बुद्धि न होने पर खेद न करना। २१. अज्ञान—विशिष्ट शास्त्रज्ञान से गर्वित न होना और उसके अभाव में आत्मावमानना न रखना। २२. अदर्शन—सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन न होने से स्वीकृत त्याग निष्फल प्रतीत होने पर विवेकपूर्वक श्रद्धा रखना और प्रसन्न रहना। ९।

—

लिए सर्वथा नग्नत्व को स्वीकार करके भी अन्य साधकों के लिए मर्यादित वस्त्र-पात्र की आज्ञा देते हैं और तदनुसार अमूर्छित भाव से वस्त्रपात्र रखनेवाले को भी वे साधु मानते हैं, जब कि दिगम्बर शास्त्र मुनिनामधारक सभी साधकों के लिए समानरूप से ऐकान्तिक नग्नत्व का विधान करते हैं। नग्नत्व को अचेलक परीषह भी कहते हैं। आधुनिक शोधक विद्वान् वस्त्रपात्र धारण करनेवाली श्वेतांबर परंपरा में भगवान् पार्श्वनाथ की सवस्त्र परम्परा का मूल देखते हैं और सर्वथा नग्नत्ववाली दिगंबर परंपरा में भ० महावीर की अवस्त्र परंपरा का मूल देखते हैं।

३. अधिकारी-भेद—जिसमें सम्पराय (लोभकषाय) की बहुत कम सम्भावना हो उस सूक्ष्मसम्पराय नामक गुणस्थान में तथा उपशान्तमोह व क्षीणमोह नामक गुणस्थानो में चौदह परीषह ही सम्भव हैं। वे ये हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। शेष आठ सम्भव नही हैं, क्योकि वे मोहजन्य है, एवं ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानो में मोहोदय का अभाव है। यद्यपि दसवें गुणस्थान में मोह होता है पर वह इतना अल्प होता है कि न होने जैसा ही कह सकते हैं। इसीलिए इस गुणस्थान में भी मोहजन्य आठ परीषहों की शक्यता का उल्लेख न करके केवल चौदह की शक्यता का उल्लेख किया गया है।

तेरहवें और चौदहवें[1] गुणस्थानो में केवल ग्यारह ही परीषह सम्भव हैं। वे हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। शेष ग्यारह घातिकर्मजन्य होते हैं और इन गुणस्थानों में घातिकर्मों का अभाव होने से वे सम्भव नही हैं।

जिसमें सम्पराय (कषाय) की बादरता अर्थात् विशेष रूप में सम्भावना हो उस बादरसम्पराय[2] नामक नवें गुणस्थान में बाईस परीषह होते हैं, क्योकि परीषहों के कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं। नवें गुणस्थान में बाईस परीषहों की सम्भावना का कथन करने से उसके पहले के छठे आदि गुणस्थानो में उतने ही परीषह सम्भव हैं, यह स्वतः फलित हो जाता है। १०–१२।

४. कारण-निर्देश—कुल चार कर्म परीषहो के कारण माने गये हैं।

---

१. इन दो गुणस्थानों में परीषहों के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में मतभेद है, जो सर्वज्ञ में कवलाहार मानने और न मानने के कारण है। इसीलिए दिगम्बर व्याख्याग्रन्थ 'एकादश जिने' सूत्र को मानते हुए भी इसकी व्याख्या तोड-मरोड कर करते प्रतीत होते हैं। व्याख्या एक नहीं बल्कि दो की गई है और वे तीव्र साम्प्रदायिक मतभेद के बाद की ही हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। पहली व्याख्या के अनुसार ऐसा अर्थ किया जाता है कि जिन (सर्वज्ञ) में क्षुधा आदि ग्यारह परीषह (वेदनीय कर्मजन्य) हैं, लेकिन मोह न होने से वे क्षुधा आदि वेदना रूप न होने के कारण उपचार मात्र से द्रव्य परीषह हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'न' शब्द का अध्याहार करके यह अर्थ किया जाता है कि जिनमें वेदनीय कर्म होने पर भी तदाश्रित क्षुधा आदि ग्यारह परीषह मोह के अभाव के कारण बाधा-रूप न होने से हैं ही नहीं।

२. दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थ यहाँ बादरसम्पराय शब्द को संज्ञा न मानकर विशेषण मानते हैं, जिस पर से वे छठे आदि चार गुणस्थानो का अर्थ घटित करते हैं।

ज्ञानावरण प्रज्ञा[1] व अज्ञान परीषहों का कारण है, अन्तरायकर्म अलाभपरीषह का कारण है, मोहनीय में से दर्शनमोहनीय अदर्शन का और चारित्रमोहनीय नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार इन सात परीषहों का कारण है, वेदनीय कर्म ऊपर निर्दिष्ट सर्वज्ञ में सम्भाव्य ग्यारह परीषहों का कारण है। १३-१६।

५ एक साथ एक जीव मे संभाव्य परीषह—बाईस परीषहों म अनेक परीषह परस्परविरोधी हैं, जैसे शीत, उष्ण, चर्या, शय्या और निषद्या। इनमें से पहले दो और बाद के तीन एक साथ सम्भव ही नहीं हैं। शीत परीषह के होने पर उष्ण और उष्ण के होने पर शीत सम्भव नहीं। इसी प्रकार चर्या, शय्या और निषद्या इन तीनों में से भी एक समय में एक ही परीषह सम्भव है। इसीलिए उक्त पाँचो में से एक समय में किन्ही भी दो को सम्भव और तीन को असम्भव मानकर एक आत्मा में एक साथ अधिक-से-अधिक १९ परीषह सम्भव माने गये है। १७।

चारित्र के भेद

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातानि चारित्रम्। १८।

सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात—यह पाँच प्रकार का चारित्र है।

आत्मिक शुद्धदशा में स्थिर रहने का प्रयत्न करना चारित्र है। परिणाम-शुद्धि के तरतमभाव की अपेक्षा से चारित्र के सामायिक आदि पाँच भेद है। वे इस प्रकार है :

१ सामायिकचारित्र—समभाव में स्थित रहने के लिए समस्त अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिकचारित्र है। छेदोपस्थापन आदि शेष चार चारित्र सामायिकरूप तो हैं ही, फिर भी आचार और गुण की कुछ विशेषताओं के कारण इन चारो का सामायिक से पृथक् रूप में वर्णन किया गया है। इत्वरिक अर्थात् कुछ समय के लिए अथवा यावत्कथिक अर्थात् सम्पूर्ण जीवन के लिए जो पहले-पहल मुनि-दीक्षा ली जाती है वह सामायिक है।

२. छेदोपस्थापनचारित्र—प्रथम दीक्षा के पश्चात् विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर लेने पर विशेष शुद्धि के लिए जीवनपर्यंत पुन जो दीक्षा ली जाती है, एवं

---

[1] चमत्कारिणी बुद्धि कितनी ही क्यों न हो, परिमित होने के कारण ज्ञानावरण के आश्रित ही होती है, अत प्रज्ञापरीषह ज्ञानावरणजन्य ही है।

प्रथम दीक्षा में दोषापत्ति आने से उसका छेद करके फिर नये सिरे से जो दीक्षा का आरोपण किया जाता है, वह छेदोपस्थापनचारित्र है। इसमें पहला निरतिचार और दूसरा सातिचार छेदोपस्थापनचारित्र है।

३. परिहारविशुद्धिचारित्र—जिसमें विशिष्ट प्रकार के तप प्रधान आचार का पालन किया जाता है वह परिहारविशुद्धिचारित्र है।[1]

४ सूक्ष्मसंपरायचारित्र—जिसमें क्रोध आदि कषायों का तो उदय नहीं होता, केवल लोभ का अंश अतिसूक्ष्मरूप में रहता है, वह सूक्ष्मसम्पराय-चारित्र है।

५ यथाख्यातचारित्र—जिसमें किसी भी कषाय का बिलकुल उदय नहीं रहता वह यथाख्यात अर्थात् वीतरागचारित्र है।[2]

तप

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः । १९ ।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् । २० ।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्या-सन और कायक्लेश—ये बाह्य तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान—ये आभ्यन्तर तप हैं।

वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक शक्ति की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है वे सभी तप कहे जाते हैं। तप के बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद हैं। बाह्य तप वह है जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा-सहित होने से दूसरों को दिखाई दे। आभ्यन्तर तप वह है जिसमें मानसिक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो मुख्यरूप से बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा से रहित होने से दूसरों को दिखाई न भी दे। स्थूल तथा लोगों द्वारा ज्ञात होने पर भी बाह्य तप का आभ्यन्तर तप की पुष्टि में उपयोगी होने से ही महत्त्व माना गया है। बाह्य और आभ्यन्तर तप के वर्गीकरण में समग्र स्थूल और सूक्ष्म धार्मिक नियमों का समावेश हो जाता है।

---

१ देखें—हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ, पृ० ५९-६१।

२. इसके अथाख्यात और तथाख्यात नाम भी मिलते हैं।

बाह्य तप—बाह्य तप के छ प्रकार ये है—१. अनशन—विशिष्ट अवधि तक या आजीवन सब प्रकार के आहार का त्याग करना। इनमें पहला इत्वरिक और दूसरा यावत्कथिक है। २. अवमौदर्य या ऊनोदरी—जितनी भूख हो उसमे कम आहार करना। ३. वृत्तिपरिसंख्यान—विविध वस्तुओ की लालसा कम करना। ४. रसपरित्याग—घी, दूध आदि तथा मद्य, मधु, मक्खन आदि विकारवर्धक रसो का त्याग करना। ५. विविक्त शय्यासन—बाधारहित एकान्त स्थान में रहना। ६. कायक्लेश—ठंड, गरमी या विविध आसनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना।

आभ्यन्तर तप—आभ्यन्तर तप के छ प्रकार ये है—१ प्रायश्चित्त—धारण किए हुए व्रत में प्रमादजनित दोषो का शोधन करना। २. विनय—ज्ञान आदि सद्गुणो में आदरभाव। ३ वैयावृत्त्य—योग्य साधनो को जुटाकर अथवा अपने आपको काम में लगाकर सेवाशुश्रूषा करना। विनय और वैयावृत्त्य में यही अन्तर है कि विनय मानसिक धर्म है और वैयावृत्त्य शारीरिक धर्म है। ४. स्वाध्याय—ज्ञानप्राप्ति के लिए विविध प्रकार का अध्ययन करना। ५. व्युत्सर्ग—अहंता और ममता का त्याग करना। ६ ध्यान—चित्त के विक्षेपों का त्याग करना। १९-२०।

प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तपों के भेद

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्। २१।

ध्यान के पूर्ववर्ती आभ्यन्तर तपों के क्रमश नौ, चार, दस, पाँच और दो भेद है।

ध्यान का विचार विस्तृत होने से उसे अन्त में रखकर उसके पहले के प्रायश्चित्त आदि पाँच आभ्यन्तर तपों के भेदों की संख्या ही यहाँ निर्दिष्ट की गई है। २१।

प्रायश्चित्त के भेद

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि। २२।

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन—ये प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं।

दोष अर्थात् भूल के शोधन के अनेक प्रकार है और वे सभी प्रायश्चित्त है। संक्षेप में वे नौ है—१. गुरु के समक्ष शुद्धभाव से अपनी भूल प्रकट करना आलोचन है। २. हुई भूल का अनुताप करके उससे निवृत्त होना और आगे भूल न हो इसके

लिए सावधान रहना प्रतिक्रमण है। ३. उक्त आलोचन और प्रतिक्रमण दोनो साथ करना तदुभय अर्थात् मिश्र है। ४. खाने-पीने आदि की यदि अकल्पनीय वस्तु आ जाय और बाद में पता चले तो उसका त्याग करना विवेक है। ५ एकाग्रता-पूर्वक शरीर और वचन के व्यापारो को छोडना व्युत्सर्ग है। ६. अनशन आदि बाह्य तप करना तप है। ७ दोष के अनुसार दिवस, पक्ष, मास या वर्ष की प्रव्रज्या कम करना छेद है। ८. दोषपात्र व्यक्ति से दोष के अनुसार पक्ष, मास आदि पर्यन्त किसी प्रकार का संसर्ग न रखकर उसे दूर से परिहरना परिहार है। ९ अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतो का भंग होने पर पुनः शुरू से उन महाव्रतो का आरोपण करना उपस्थापन है।[1] २२।

विनय के भेद

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः। २३।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार—ये विनय के चार भेद हैं।

विनय वस्तुत. गुणरूप में एक ही है, फिर भी उसके ये भेद विषय की दृष्टि से ही वर्णित है। विनय के विषय को मुख्यत यहाँ चार भागो में विभाजित किया गया है, जैसे—१. ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास जारी रखना और भूलना नही—यह ज्ञान का विनय है। २ तत्त्व की यथार्थ प्रतीतिस्वरूप सम्यग्दर्शन से विचलित न होना, उसके प्रति उत्पन्न होनेवाली शङ्काओं का निवारण करके नि.शंकभाव की साधना करना दर्शनविनय है। ३. सामायिक आदि चारित्रो मे चित्त का समाधान रखना चारित्रविनय है। ४. जो अपने से सद्गुणो में श्रेष्ठ हो उसके प्रति अनेक प्रकार से योग्य व्यवहार करना, जैसे उसके सम्मुख जाना, उसके आने पर खड़े होना, आसन देना, वन्दन करना इत्यादि उपचारविनय है। २३।

वैयावृत्त्य के भेद

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधुसमनोज्ञानाम्। २४।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और समनोज्ञ—यह दस प्रकार का वैयावृत्त्य है।

वैयावृत्त्य सेवारूप है। अत दस प्रकार के सेव्य (सेवायोग्य पात्रों) के होने

---

१ परिहार और उपस्थापन इन दोनों के स्थान पर मूल, अनवस्थाप्य व पाराञ्चिक इन तीन प्रायश्चित्तों के होने से कई ग्रन्थों में इन प्रायश्चित्तों का वर्णन है। प्रत्येक प्रायश्चित्त किन-किन और कैसे-कैसे दोषों पर लागू होता है इसका विशेष स्पष्टीकरण व्यवहार, जीतकल्पसूत्र आदि प्रायश्चित्त-प्रधान ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

से वैयावृत्य के भी दस प्रकार है—१. मुख्यरूप से जिसका कार्य व्रत और आचार ग्रहण कराना हो वह आचार्य है। २. मुख्यरूप से जिसका कार्य श्रुताभ्यास कराना हो वह उपाध्याय है। ३ महान् और उग्र तप करनेवाला तपस्वी है। ४ नव-दीक्षित होकर शिक्षण प्राप्त करने का उम्मीदवार शैक्ष है। ५ रोग आदि से क्षीण ग्लान है। ६. भिन्न-भिन्न आचार्यों के शिष्यरूप साधु यदि परस्पर सहाध्यायी होने से समान वाचनावाले हो तो उनका समुदाय गण है। ७ एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य-परिवार कुल है। ८ धर्म का अनुयायी समुदाय संघ है जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप में चार प्रकार का है। ९ प्रव्रज्याधारी को साधु कहते है। १० ज्ञान आदि गुणों में समान समनोज्ञ या समानशील कहलाता है। २४।

स्वाध्याय के भेद

वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः । २५ ।

वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश—ये स्वाध्याय के पाँच भेद हैं।

ज्ञान प्राप्त करने, उसे सन्देहरहित, विशद और परिपक्व बनाने एवं उसका प्रचार करने का प्रयत्न—ये सभी स्वाध्याय में आते है, अत. उसके यहाँ पाँच भेद अभ्यासशैली के क्रमानुसार कहे गए है . १. शब्द या अर्थ का पहला पाठ लेना वाचना है। २ शंका दूर करने अथवा विशेष निर्णय के लिए पूछना प्रच्छना है। ३ शब्द, पाठ या उसके अर्थ का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। ४ सीखी हुई वस्तु का शुद्धिपूर्वक पुन.-पुन उच्चारण करना आम्नाय अर्थात् पुनरावर्तन है। ५ जानी हुई वस्तु का रहस्य समझाना अथवा धर्म का कथन करना धर्मोपदेश है। २५।

व्युत्सर्ग के भेद

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः । २६ ।

बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का त्याग—ये व्युत्सर्ग के दो प्रकार हैं।

वास्तव में अहंता-ममता की निवृत्ति के रूप में त्याग एक ही है, फिर भी त्याज्य वस्तु बाह्य और आभ्यन्तर के रूप में दो प्रकार की होती है, इसीलिए व्युत्सर्ग या त्याग के भी दो प्रकार कहे गए है—१ धन, धान्य, मकान, क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थों की ममता का त्याग करना बाह्योपधि-व्युत्सर्ग है और २. शरीर की ममता का त्याग करना एवं काषायिक विकारो की तन्मयता का त्याग करना आभ्यन्तरोपधि-व्युत्सर्ग है। २६।

ध्यान

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । २७ ।

आमुहूर्तात् । २८ ।

उत्तम संहननवाले का एक विषय[1] मे अन्त करण की वृत्ति का स्थापन ध्यान है ।

वह मुहूर्त तक अर्थात् अन्तर्मुहूर्त पर्यंत रहता है ।

यहाँ ध्यान से सम्बन्धित अधिकारी, स्वरूप और काल का परिमाण ये तीन बातें वर्णित हैं ।

१. अधिकारी—छ प्रकार के संहननो[2] (शारीरिक संघटनो) में वज्रर्षभनाराच[3], अर्धवज्रर्षभनाराच और नाराच ये तीन उत्तम माने जाते हैं । उत्तम संहननवाला ही ध्यान का अधिकारी होता है, क्योंकि ध्यान करने में आवश्यक मानसिक बल के लिए जितना शारीरिक बल आवश्यक है वह उक्त तीन संहननवाले शरीर में सम्भव है, शेष तीन संहननवाले में नही । मानसिक बल का एक प्रमुख आधार शरीर है और शरीरबल शारीरिक संघटन पर निर्भर करता है, अत. उत्तम संहननवाले के अतिरिक्त दूसरा कोई ध्यान का अधिकारी नही है । शारीरिक संघटन जितना कम होगा उतना ही मानसिक बल भी कम होगा और मानसिक बल जितना कम होगा उतनी ही चित्त की स्थिरता भी कम होगी । इसलिए कमजोर शारीरिक संघटन या अनुत्तम संहननवाला किसी भी प्रशस्त विषय में जितनी एकाग्रता साध सकता है वह इतनी कम होती है कि ध्यान मे उसकी गणना ही नही हो सकती ।

---

१. भाष्य के अनुसार इस सूत्र में दो प्रकार के ध्यान कहे गए हैं—१. एकाग्रचिन्ता और २. निरोध । किन्तु ऐसा लगता है कि किसी अन्य टीकाकार की दृष्टि में यह बात नहीं आई । अत. हमने भी यहाँ पर पुराने टीकाकारों का ही अनुसरण किया है । वस्तुतः यही दो प्रकार सूत्रकार द्वारा यहाँ निर्दिष्ट हैं । देखें—प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित दशवैकालिक की अगस्त्यसिंहकृत चूर्णि, पृ० १६ तथा पं० दलसुख मालवणिया का लेख, गुर्जरात युनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित पत्रिका विद्या, भाग १५, अंक २, अगस्त १९७२, पृ० ६१ ।

२. दिगम्बर ग्रन्थों में तीन उत्तम संहननवाले को ही ध्यान का अधिकारी माना गया है लेकिन भाष्य और उसकी वृत्ति में प्रथम दो संहननवाले को ध्यान का अधिकारी माना गया है ।

३. इसकी जानकारी के लिए देखें—अ० ८, सू० १२ ।

२. स्वरूप—सामान्यत. क्षण में एक, क्षण में दूसरे, क्षण में तीसरे ऐसे अनेक विषयों को अवलबन करके प्रवृत्त ज्ञानधारा भिन्न-भिन्न दिशाओं से बहती हुई हवा में स्थित दीपशिखा की भाँति अर्थात् अस्थिर होती है। ऐसी ज्ञानधारा—चिन्ता को विशेष प्रयत्नपूर्वक शेष विषयों से हटाकर किसी एक ही इष्ट विषय में स्थिर रखना अर्थात् ज्ञानधारा को अनेक विषयगामिनी न बनने देकर एक विषय-गामिनी बना देना ही ध्यान है। ध्यान का यह स्वरूप असर्वज्ञ (छद्मस्थ) में ही सम्भव है। इसलिए ऐसा ध्यान बारहवें गुणस्थान तक होता है।

सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के बाद अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में भी ध्यान स्वीकार तो अवश्य किया गया है, पर उसका स्वरूप भिन्न है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में जब मानसिक, वाचिक और कायिक योग-व्यापार के निरोध का क्रम प्रारम्भ होता है तब स्थूल कायिक व्यापार के निरोध के बाद सूक्ष्म कायिक व्यापार के अस्तित्व के समय में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्ल ध्यान माना गया है और चौदहवें गुणस्थान की सम्पूर्ण अयोगिपन की दशा में शैलेशीकरण के समय में समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नामक चौथा शुक्लध्यान माना गया है। ये दोनो ध्यान उक्त दशाओ में चित्तव्यापार न होने से छद्मस्थ की भाँति एकाग्रचिन्तानिरोधरूप तो हैं ही नहीं, अत उक्त दशाओं में ध्यान को घटाने के लिए सूत्रगत प्रसिद्ध अर्थ के उपरान्त 'ध्यान' शब्द का अर्थ विशेष विशद किया गया है कि केवल कायिक स्थूल व्यापार के निरोध का प्रयत्न भी ध्यान है और आत्मप्रदेशो की निष्प्रकम्पता भी ध्यान है।

फिर भी ध्यान के विषय में एक प्रश्न रहता है कि तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ से योगनिरोध का क्रम शुरू होता है, तब तक की अवस्था में अर्थात् सर्वज्ञ हो जाने के बाद की स्थिति में क्या कोई ध्यान होता है? यदि होता है तो कौन-सा? इसका उत्तर दो प्रकार से मिलता है : १. विहरमाण सर्वज्ञ की दशा में ध्यानान्तरिका कहकर उसमें अध्यानित्व ही मानकर कोई ध्यान स्वीकार नहीं किया गया है। २. सर्वज्ञदशा में मन, वचन और शरीर के व्यापारसम्बन्धी सुदृढ़ प्रयत्न को ही ध्यान के रूप में मान लिया गया है।

३. काल का परिमाण—उपर्युक्त एक ध्यान अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही टिकता है, बाद में उसे टिकाना कठिन है, अत. उसका कालपरिमाण अन्तर्मुहूर्त है।

कई लोग श्वास-उच्छ्वास रोक रखने को ही ध्यान मानते हैं तथा अन्य

कुछ लोग मात्रा से काल की गणना[1] करने को ही ध्यान मानते है। परन्तु जैन-परम्परा में यह कथन स्वीकार नही किया गया है, क्योंकि यदि सम्पूर्णतया श्वास-उच्छ्वास क्रिया रोक दी जाय तो शरीर ही नही टिकेगा। इसलिए मन्द या मन्दतम श्वास का सचार तो ध्यानावस्था मे रहता ही है। इसी प्रकार जब कोई मात्रा से काल को गिनेगा तब तो गिनती के काम में अनेक क्रियाएँ करने में लग जाने से उसके मन को एकाग्र के स्थान पर व्यग्र ही मानना पडेगा। यही कारण है कि दिवस, मास और उससे अधिक समय तक ध्यान के टिकने की लोकमान्यता भी जैन-परम्परा को ग्राह्य नही है। इसका कारण यह है कि लम्बे समय तक ध्यान साधने से इन्द्रियों का उपघात सम्भव है, अत. ध्यान को अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक बढाना कठिन है। 'एक दिवस, एक अहोरात्र अथवा उससे अधिक समय तक ध्यान किया'—इस कथन का अभिप्राय इतना ही है कि उतने समय तक ध्यान का प्रवाह चलता रहा। किसी भी एक आलबन का एक बार ध्यान करके पुनः उसी आलम्बन का कुछ रूपान्तर से या दूसरे ही आलम्बन का ध्यान किया जाता है और पुन. इसी प्रकार आगे भी ध्यान किया जाता है तो वह ध्यानप्रवाह बढ जाता है। यह अन्तर्मुहूर्त का कालपरिमाण छद्मस्थ के ध्यान का है। सर्वज्ञ के ध्यान का कालपरिमाण तो अधिक भी हो सकता है, क्योंकि सर्वज्ञ मन, वचन और शरीर के प्रवृत्तिविषयक सुदृढ प्रयत्न को अधिक समय तक भी बढा सकता है।

जिस आलम्बन पर ध्यान चलता है वह आलम्बन सम्पूर्ण द्रव्यरूप न होकर उसका एकदेश (एक पर्याय) होता है, क्योंकि द्रव्य का चिन्तन उसके किसी-न-किसी पर्याय द्वारा ही सम्भव होता है। २७–२८।

ध्यान के भेद और उनका फल

आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि। २९।

परे मोक्षहेतू। ३०।

आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल—ये ध्यान के चार प्रकार है।

अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं।

उक्त चार में से आर्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के कारण होने से दुर्ध्यान है और हेय (त्याज्य) है। धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान मोक्ष के कारण होने से सुध्यान है और उपादेय (ग्राह्य) है। २९–३०।

---

१. 'अ, इ' आदि एक-एक ह्रस्व स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे एक मात्रा कहते है। स्वरहीन व्यञ्जन के उच्चारण में अर्धमात्रा जितना समय लगता है। मात्रा या अर्धमात्रा परिमित समय को जानने का अभ्यास करके उसी के अनुसार अन्य क्रियाओं के समय की गणना करना कि अमुक काम में इतनी मात्राएँ हुई—मात्रा द्वारा काल की गणना कहलाती है।

चारों ध्यानों के भेद और अधिकारी

आर्तध्यान

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः। ३१।

वेदनायाश्च। ३२।

विपरीतं मनोज्ञानाम्। ३३।

निदानं च। ३४।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्। ३५।

अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए सतत चिन्ता करना पहला आर्तध्यान है।

दुःख आ पड़ने पर उसके निवारण की सतत चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है।

प्रिय वस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है।

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए संकल्प करना या सतत चिन्ता करना चौथा आर्तध्यान है।

वह (आर्तध्यान) अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत—इन गुणस्थानों में ही सम्भव है।

यहाँ आर्तध्यान के भेद और उसके अधिकारी का निरूपण किया गया है। अर्ति का अर्थ है पीडा या दुःख, उसमें से जो उत्पन्न हो वह आर्त। दुःख की उत्पत्ति के मुख्य कारण चार हैं—१. अनिष्ट वस्तु का संयोग, २. इष्ट वस्तु का वियोग, ३. प्रतिकूल वेदना और ४. भोग की लालसा। इन्हीं के आधार पर आर्तध्यान के चार प्रकार कहे गये हैं। १ अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर तद्भव दुःख से व्याकुल आत्मा उसे दूर करने के लिए जो सतत चिन्ता करता रहता है वही अनिष्टसंयोग-आर्तध्यान है। २ इसी प्रकार किसी इष्ट वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना इष्टवियोग-आर्तध्यान है। ३. शारीरिक या मानसिक पीड़ा होने पर उसके निवारण की व्याकुलतापूर्वक चिन्ता करना रोगचिन्ता-आर्तध्यान है। ४. भोगों की लालसा की उत्कटता के कारण अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का तीव्र संकल्प निदान-आर्तध्यान है।

प्रथम के चार तथा देशविरत व प्रमत्तसंयत इन छः गुणस्थानों में उक्त आर्तध्यान सम्भव है। इनमें भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान में निदान को छोड़कर तीन ही आर्तध्यान सम्भव है। ३१–३५।

रौद्रध्यान

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः। ३६।

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयरक्षण के लिए सतत चिन्ता करना रौद्रध्यान है, जो अविरत और देशविरत में सम्भव है।

प्रस्तुत सूत्र में रौद्रध्यान के भेद और उसके अधिकारियों का वर्णन है। रौद्रध्यान के चार भेद उसके कारणों के आधार पर आर्तध्यान की भाँति ही बतलाए गए हैं। जिसका चित्त क्रूर व कठोर होता है वह रुद्र कहलाता है और ऐसी आत्मा द्वारा किया जानेवाला ध्यान रौद्र है। हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने और प्राप्त विषयों के संरक्षण की वृत्ति से क्रूरता व कठोरता उत्पन्न होती है। इन्हीं के कारण जो सतत चिन्ता होती है वह क्रमशः हिंसानुबन्धी, अनृतानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। इस ध्यान के स्वामी या अधिकारी पहले पाँच गुणस्थानवाले होते हैं। ३६।

धर्मध्यान

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। ३७।

उपशान्तक्षीणकषाययोश्च। ३८।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान की विचारणा के लिए मनोवृत्ति को एकाग्र करना धर्मध्यान है, जो अप्रमत्तसंयत में सम्भव है।

वह धर्मध्यान उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानों में भी सम्भव है।

यहाँ धर्मध्यान के भेद और उसके अधिकारियों का निर्देश है।

भेद—१. वीतराग तथा सर्वज्ञ पुरुष की आज्ञा क्या है और वह कैसी होनी चाहिए? इसकी परीक्षा करके वैसी आज्ञा का पता लगाने के लिए मनोयोग लगाना आज्ञाविचय-धर्मध्यान है। २. दोषों के स्वरूप और उनसे छुटकारा पाने के विचारार्थ मनोयोग लगाना अपायविचय-धर्मध्यान है। ३. अनुभव में आनेवाले विपाकों में से कौन-कौन-सा विपाक किस-किस कर्म का आभारी है तथा अमुक कर्म का अमुक विपाक सम्भव है इसके विचारार्थ मनोयोग लगाना विपाकविचय-

धर्मध्यान है। ४ लोकस्वरूप का विचार करने में मनोयोग लगाना संस्थान-विचय-धर्मध्यान है।

स्वामी—धर्मध्यान के स्वामियो (अधिकारियो) के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओ में मतैक्य नही है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार उक्त दो सूत्रो में निर्दिष्ट सातवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में तथा इस कथन से सूचित आठवें आदि बीच के तीन गुणस्थानो में अर्थात् सातवें से बारहवें तक के छहो गुणस्थानो में धर्मध्यान सम्भव है। दिगम्बर परम्परा में चौथे से सातवें तक के चार गुणस्थानो में ही धर्मध्यान की सम्भावना मान्य है। उसका तर्क यह है कि श्रेणी के आरम्भ के पूर्व तक ही सम्यग्दृष्टि में धर्मध्यान सम्भव है और श्रेणी का आरम्भ आठवें गुणस्थान से होने के कारण आठवें आदि में यह ध्यान किसी भी प्रकार सम्भव नही है। ३७–३८।

शुक्लध्यान

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः[1] । ३९ ।

परे केवलिनः । ४० ।

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि । ४१ ।

तत्र्येककाययोगायोगानाम् । ४२ ।

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे । ४३ ।

अविचारं[2] द्वितीयम् । ४४ ।

वितर्कः श्रुतम् । ४५ ।

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिः । ४६ ।

उपशान्तमोह और क्षीणमोह में पहले के दो शुक्लध्यान सम्भव हैं। ये दो शुक्लध्यान पूर्वधर को होते हैं।

बाद के दो केवली को होते हैं।

---

१. 'पूर्वविद.' अंश प्रस्तुत सूत्र का ही है और इतना सूत्र अलग नहीं है, यह भाष्य के टीकाकार का कथन है। दिगंबर परंपरा में भी इस अंश को सूत्र के रूप में अलग स्थान नहीं दिया गया है। अतः यहाँ भी वैसे ही रखा गया है। फिर भी भाष्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'पूर्वविद' स्वतंत्र सूत्र है।

२. प्रस्तुत सूत्र में अधिकतर 'अवीचार' रूप ही देखने में आता है, फिर भी यहाँ सूत्र व विवेचन में ह्रस्व 'वि' के प्रयोग द्वारा एकता रखी गई है।

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रिया-निवृत्ति—ये चार शुक्लध्यान हैं।

वह (शुक्लध्यान) अनुक्रम से तीन योगवाले, किसी एक योगवाले, काययोगवाले और योगरहित को होता है।

पहले के दो एकाश्रित एव सवितर्क होते हैं।

इनमे से पहला सविचार है, दूसरा अविचार है।

वितर्क अर्थात् श्रुत।

विचार अर्थात् अर्थ, व्यञ्जन एव योग की सक्रान्ति।

यहाँ शुक्लध्यान से सम्बन्धित स्वामी, भेद और स्वरूप ये तीन बातें वर्णित हैं।

स्वामी—स्वामी-विषयक कथन यहाँ दो प्रकार से किया गया है—पहला गुणस्थान की दृष्टि से और दूसरा योग की दृष्टि से।

गुणस्थान की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार भेदों में से पहले दो भेदों के स्वामी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवाले ही होते हैं जो कि पूर्वधर भी हो। 'पूर्वधर' विशेषण से सामान्यत यह अभिप्राय है कि जो पूर्वधर न हो पर ग्यारह आदि अङ्गो का धारक हो उसके ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान न होकर धर्मध्यान ही होगा। इस सामान्य विधान का एक अपवाद यह है कि जो पूर्वधर न हो उन माषतुष, मरुदेवी आदि जैसी आत्माओ में भी शुक्लध्यान सम्भव है। शुक्लध्यान के शेष दो भेदो के स्वामी केवली अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवाले ही हैं।

योग की दृष्टि से तीन योगवाला ही चार में से पहले शुक्लध्यान का स्वामी होता है। मन, वचन और काय में से किसी भी एक योगवाला शुक्लध्यान के दूसरे भेद का स्वामी होता है। इस ध्यान के तीसरे भेद का स्वामी केवल काययोगवाला और चौथे भेद का स्वामी एकमात्र अयोगी होता है।

भेद—शुक्लध्यान के भी अन्य ध्यानो की भाँति चार भेद हैं, जो इसके चार पाये भी कहलाते हैं। उनके नाम इस प्रकार है—१ पृथक्त्ववितर्क-सविचार, २ एकत्ववितर्क-निर्विचार, ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, ४. व्युपरतक्रिया-निवृत्ति (समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति)

पहले दो शुक्लध्यानो का आश्रय एक है अर्थात् उन दोनो का आरम्भ पूर्वज्ञानधारी आत्मा द्वारा होता है। इसीलिए ये दोनो ध्यान वितर्क—श्रुतज्ञान

सहित हैं। दोनो में वितर्क का साम्य होने पर भी यह वैषम्य है कि पहले में पृथक्त्व (भेद) है, जब कि दूसरे में एकत्व (अभेद) है। इसी प्रकार पहले में विचार (संक्रम) है, जब कि दूसरे में विचार नहीं है। इसी कारण इन दोनों ध्यानों के नाम क्रमश. पृथक्त्ववितर्क-सविचार और एकत्ववितर्क-निर्विचार हैं।

पृथक्त्ववितर्क-सविचार—जब ध्यान करनेवाला पूर्वधर हो तब वह पूर्वगत श्रुत के आधार पर और जब पूर्वधर न हो तब अपने में सम्भावित श्रुत के आधार पर किसी भी परमाणु आदि जड में या आत्मरूप चेतन में—एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक आदि विविध नयों के द्वारा भेदप्रधान चिन्तन करता है और यथासम्भव श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्यरूप अर्थ पर से दूसरे द्रव्यरूप अर्थ पर या एक द्रव्यरूप अर्थ पर से पर्यायरूप अन्य अर्थ पर अथवा एक पर्यायरूप अर्थ पर से अन्य पर्यायरूप अर्थ पर या एक पर्यायरूप अर्थ पर से अन्य द्रव्यरूप अर्थ पर चिन्तन के लिए प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार अर्थ पर से शब्द पर और शब्द पर से अर्थ पर चिन्तन के लिए प्रवृत्त होता है तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोडकर अन्य योग का अवलम्बन लेता है, तब वह ध्यान पृथक्त्व-वितर्क-सविचार कहलाता है। कारण यह है कि इसमें वितर्क (श्रुतज्ञान) का अवलम्बन लेकर किसी भी एक द्रव्य में उसके पर्यायो के भेद (पृथक्त्व) का विविध दृष्टियो से चिन्तन किया जाता है और श्रुतज्ञान को अवलम्बित करके एक अर्थ पर से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द पर से दूसरे शब्द पर, अर्थ पर से शब्द पर, शब्द पर से अर्थ पर तथा एक योग से दूसरे योग पर संक्रम (संचार) करना पडता है।

एकत्ववितर्क-निर्विचार—उक्त कथन के विपरीत जब ध्यान करनेवाला अपने में सम्भाव्य श्रुत के आधार पर किसी एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर एकत्व (अभेदप्रधान) चिन्तन करता है और मन आदि तीन योगों में से किसी एक ही योग पर अटल रहकर शब्द और अर्थ के चिन्तन एवं भिन्न-भिन्न योगों में संचार का परिवर्तन नही करता, तब वह ध्यान एकत्ववितर्क-निर्विचार कहलाता है, क्योंकि इसमें वितर्क (श्रुतज्ञान) का अवलम्बन होने पर भी एकत्व (अभेद) का चिन्तन प्रधान रहता है और अर्थ, शब्द अथवा योगों का परिवर्तन नही होता।

उक्त दोनो में से पहले भेदप्रधान का अभ्यास दृढ हो जाने के बाद ही दूसरे अभेदप्रधान ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। जैसे समग्र शरीर में व्याप्त सर्पादि के जहर को मन्त्र आदि उपचारो से डक की जगह लाकर स्थापित किया जाता है

वैसे ही सम्पूर्ण जगत् में भिन्न-भिन्न विषयो में अस्थिर रूप में भटकते हुए मन को ध्यान के द्वारा किसी भी एक विषय पर केन्द्रित करके स्थिर किया जाता है। स्थिरता दृढ हो जाने पर जैसे बहुत-सा ईंधन निकाल लेने और बचे हुए थोड़े से ईंधन को सुलगा देने से अथवा पूरे ईंधन को हटा देने से आग बुझ जाती है वैसे ही उपर्युक्त क्रम से एक विषय पर स्थिरता प्राप्त होते ही मन भी सर्वथा शान्त हो जाता है अर्थात् चंचलता मिट जाने से निष्प्रकम्प बन जाता है। परिणामतः ज्ञान के सकल आवरणों का विलय हो जाने पर सर्वज्ञता प्रकट होती है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती—जब सर्वज्ञ भगवान् योगनिरोध के क्रम में[1] अन्ततः सूक्ष्मशरीर योग का आश्रय लेकर शेष योगों को रोक देते है तब वह सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती ध्यान कहलाता है, क्योंकि उसमें श्वास-उच्छ्वास के समान सूक्ष्मक्रिया ही शेष रह जाती है और उससे पतन भी सम्भव नही है।

समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति—जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी बन्द हो जाती है और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं तब वह समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान कहलाता है, क्योंकि इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया नही होती. और वह स्थिति बाद में नष्ट भी नही होती। इस चतुर्थ ध्यान के प्रभाव से समस्त आस्रव और बन्ध के निरोधपूर्वक शेष कर्मों के क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। तीसरे और चौथे शुक्लध्यान में किसी भी प्रकार के श्रुतज्ञान का आलंबन नही होता, अत. वे दोनो अनालंबन भी कहलाते हैं। ३९-४६।

सम्यग्दृष्टियों की कर्मनिर्जरा का तरतमभाव

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः। ४७।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन—ये दस क्रमशः असख्येयगुण निर्जरावाले होते हैं।

---

१. यह क्रम यों है—स्थूल काययोग के आश्रय से वचन और मन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, उसके बाद वचन और मन के सूक्ष्म योग को अवलम्बित करके शरीर के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है। फिर शरीर के सूक्ष्म योग को अवलम्बित करके वचन और मन के सूक्ष्म योग का निरोध किया जाता है और अन्त में सूक्ष्म-शरीरयोग का भी निरोध किया जाता है।

सर्व कर्मबन्धनों का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है और कर्मों का अंशतः क्षय निर्जरा है। दोनों के लक्षणों पर विचार करने से स्पष्ट है कि निर्जरा मोक्ष का पूर्वगामी अंग है। प्रस्तुत शास्त्र में मोक्षतत्त्व का प्रतिपादन मुख्य है, अतः उसकी नितान्त अंगभूत निर्जरा का विचार करना भी यहाँ उपयुक्त है। इसलिए यद्यपि सकल संसारी आत्माओं में कर्मनिर्जरा का क्रम जारी रहता है तथापि यहाँ विशिष्ट आत्माओं की ही कर्मनिर्जरा के क्रम का विचार किया गया है। वे विशिष्ट अर्थात् मोक्षाभिमुख आत्माएँ हैं। यथार्थ मोक्षाभिमुखता सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से ही प्रारम्भ हो जाती है और वह जिन (सर्वज्ञ) अवस्था में पूरी होती है। स्थूलदृष्टि की प्राप्ति से लेकर सर्वज्ञदशा तक मोक्षाभिमुखता के दस विभाग किए गए हैं, जिनमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर विभाग में परिणाम की विशुद्धि सविशेष होती है। परिणाम की विशुद्धि जितनी अधिक होगी, कर्मनिर्जरा भी उतनी ही विशेष होगी। अतः प्रथम-प्रथम अवस्था में जितनी कर्मनिर्जरा होती है उसकी अपेक्षा आगे-आगे की अवस्था में परिणामविशुद्धि की विशेषता के कारण कर्मनिर्जरा भी असंख्यातगुनी बढ़ती जाती है। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते अन्त में सर्वज्ञ-अवस्था में निर्जरा का प्रमाण सबसे अधिक हो जाता है। कर्म-निर्जरा के इस तरतमभाव में सबसे कम निर्जरा सम्यग्दृष्टि की और सबसे अधिक निर्जरा सर्वज्ञ की होती है। इन दस अवस्थाओं का स्वरूप इस प्रकार है :

१ सम्यग्दृष्टि—जिस अवस्था में मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। २ श्रावक—जिसमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से अल्पांश में विरति (त्याग) प्रकट होती है। ३ विरत—जिसमें प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से सर्वांश में विरति प्रकट होती है। ४ अनन्तवियोजक—जिसमें अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है। ५ दर्शनमोह-क्षपक—जिसमें दर्शनमोह का क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है। ६. उप-शमक—जिस अवस्था में मोह की शेष प्रकृतियों का उपशम जारी हो। ७. उप-शान्तमोह—जिसमें उपशम पूर्ण हो चुका हो। ८. क्षपक—जिसमें मोह की शेष प्रकृतियों का क्षय जारी हो। ९ क्षीणमोह—जिसमें मोह का क्षय पूर्ण सिद्ध हो चुका हो। १०. जिन—जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गई हो। ४७।

निर्ग्रन्थ के भेद

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः। ४८।

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक—ये निर्ग्रन्थ के पाँच प्रकार हैं।

निर्ग्रन्थ शब्द का तात्त्विक (निश्चयनयसिद्ध) अर्थ भिन्न है और व्यावहारिक (साम्प्रदायिक) अर्थ भिन्न है। दोनो अर्थों के एकीकरण को ही यहा निर्ग्रन्थ-सामान्य मानकर उसी के पाँच भेद कहे गए है। निर्ग्रन्थ वह है जिसमें रागद्वेष की गाँठ बिलकुल न रहे। निर्ग्रन्थ शब्द का यही तात्त्विक अर्थ है। अपूर्ण होने पर भी तात्त्विक निर्ग्रन्थता का अभिलाषी हो—भविष्य में यह स्थिति प्राप्त करना चाहता हो—वह व्यावहारिक निर्ग्रन्थ है। पाँच भेदो में से प्रथम तीन व्यावहारिक हैं और शेष दो तात्त्विक। इन पाँच भेदो का स्वरूप इस प्रकार है .

१. पुलाक—मूलगुण तथा उत्तरगुण में परिपूर्णता प्राप्त न करते हुए भी वीतराग-प्रणीत आगम से कभी विचलित न होनेवाला निर्ग्रन्थ। २. बकुश—शरीर और उपकरण के संस्कारो का अनुसरण करनेवाला, सिद्धि तथा कीर्ति का अभिलाषी, सुखशील, अविविक्त (ससग), परिवारवाला तथा छेद (चारित्र) पर्याय की हानि तथा शबल अतिचार दोषों से युक्त निर्ग्रन्थ। ३. कुशील—इसके दो प्रकार है। इन्द्रियो का वशवर्ती होने से उत्तरगुणो की विराधनामूलक प्रवृत्ति करनेवाला प्रतिसेवना-कुशील है और कभी भी तीव्र कषाय के वश न होकर कदाचित् मन्द कषाय के वशीभूत हो जानेवाला कषाय-कुशील है। ४. निर्ग्रन्थ—सर्वज्ञता न होने पर भी जिसमें रागद्वेप का अत्यन्त अभाव हो और अन्तर्मुहूर्त के बाद ही सर्वज्ञता प्रकट होनेवाली हो। ५. स्नातक—जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गई हो। ४८।

निर्ग्रन्थों की विशेषता-द्योतक आठ बातें

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः। ४९।

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपात और स्थान के भेद से इन निर्ग्रन्थों की विशेषताएँ सिद्ध होती हैं।

ऊपर जिन पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थो का वर्णन हुआ है उनका विशेष स्वरूप जानने के लिए यहाँ यह विचार किया गया है कि सयम आदि आठ बातो का प्रत्येक निर्ग्रन्थ से कितना सम्बन्ध है।

१ संयम—सामायिक आदि पाँच संयमो में से सामायिक और छेदोपस्थापनीय इन दो संयमों में पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये तीन निर्ग्रन्थ होते हैं; कषायकुशील उक्त दो एवं परिहारविशुद्धि व सूक्ष्मसम्पराय इन चार सयमो में होता है। निर्ग्रन्थ और स्नातक एकमात्र यथाख्यातसंयमवाले होते हैं।

२. श्रुत—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील इन तीनों का उत्कृष्ट श्रुत पूर्ण दशपूर्व और कषायकुशील एवं निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट श्रुत चतुर्दश पूर्व होता है,

जघन्य श्रुत पुलाक का आचारवस्तु[1] होता है, बकुश, कुशील एवं निर्ग्रन्थ का अष्ट प्रवचनमाता (पाँच समिति और तीन गुप्ति) प्रमाण होता है। स्नातक सर्वज्ञ होने से श्रुत से परे ही होता है।

३. प्रतिसेवना (विराधना)—पुलाक पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण इन छहों में से किसी भी व्रत का दूसरे के दबाव या बलात्कार के कारण खण्डन करता है। कुछ आचार्यों के मत से पुलाक चतुर्थ व्रत का विराधक होता है। बकुश दो प्रकार के होते हैं—उपकरणबकुश और शरीरबकुश। उपकरण में आसक्त बकुश नाना प्रकार के मूल्यवान् और अनेक विशेषताओं से युक्त उपकरण चाहता है, संग्रह करता है और नित्य उनका संस्कार करता है। शरीर में आसक्त बकुश शरीर-शोभा के लिए शरीर का संस्कार करता रहता है। प्रतिसेवनाकुशील मूल-गुणों की विराधना तो नहीं करता पर उत्तरगुणों की कुछ विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के द्वारा विराधना होती ही नहीं।

४. तीर्थ (शासन)—पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों के शासन में होते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये तीन तीर्थ में नित्य होते हैं और शेष कषायकुशील आदि तीर्थ में भी होते हैं और अतीर्थ में भी होते हैं।

५. लिङ्ग—लिङ्ग (चिह्न) दो प्रकार का होता है—द्रव्य और भाव चारित्रगुण भावलिङ्ग है और विशिष्ट वेश आदि बाह्य स्वरूप द्रव्यलिङ्ग है। पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थों में भावलिङ्ग अवश्य होता है, परन्तु द्रव्यलिङ्ग सबमें होता भी है और नहीं भी होता।

६ लेश्या—पुलाक में तेज, पद्म और शुक्ल ये अंतिम तीन लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील में छहों लेश्याएँ होती हैं। कषायकुशील यदि परिहारविशुद्धि चारित्रवाला हो तब तो तेज आदि तीन[2] लेश्याएँ होती हैं और यदि सूक्ष्मसम्पराय चारित्रवाला हो तब एक शुक्ल लेश्या ही होती है। निर्ग्रन्थ और स्नातक में शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोगी स्नातक अलेश्य ही होता है।

७ उपपात (उत्पत्तिस्थान)—पुलाक आदि चार निर्ग्रन्थों का जघन्य उपपात सौधर्म कल्प में पल्योपमपृथक्त्व[3] स्थितिवाले देवों में होता है, पुलाक का उत्कृष्ट उपपात सहस्रार कल्प में बीस सागरोपम की स्थिति में होता है। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील का उत्कृष्ट उपपात आरण और अच्युत कल्प में बाईस

---

१. इस नाम का नवें पूर्व का तीसरा प्रकरण।

२ दिगम्बर ग्रन्थों में चार लेश्याओं का कथन है।

३ दिगम्बर ग्रन्थों में दो सागरोपम की स्थिति का उल्लेख है।

सागरोपम की स्थिति में होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उपपात सर्वार्थसिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम की स्थिति में होता है। स्नातक का निर्वाण ही होता है।

८. स्थान (संयम के स्थान—प्रकार)—कषाय तथा योग का निग्रह ही संयम है। संयम सभी का सर्वदा समान नही होता, कषाय और योग के निग्रह के तारतम्य के अनुसार ही संयम में भी तरतमता होती है। जो निग्रह कम-से-कम संयमकोटि में गिना जाता है वहाँ से संपूर्ण निग्रहरूप संयम तक निग्रह की तीव्रता-मन्दता की विविधता के कारण संयम के असंख्यात प्रकार हैं। वे सभी प्रकार (भेद) संयमस्थान कहलाते हैं। इनमें जहाँ तक कषाय का लेशमात्र भी सम्बन्ध हो वहाँ तक के संयमस्थान कषायनिमित्तक और उसके बाद के योगनिमित्तक हैं। योग का सर्वथा निरोध हो जाने पर प्राप्त स्थिति अन्तिम संयमस्थान है। जैसे-जैसे पूर्व-पूर्ववर्ती संयमस्थान होगा वैसे-वैसे काषायिक परिणति-विशेष होगी और जैसे-जैसे ऊँचा संयमस्थान होगा वैसे-वैसे काषायिक भाव भी कम होगा, इसीलिए ऊपर-ऊपर के संयमस्थानों को अधिक-से-अधिक विशुद्धिवाले स्थान जानना चाहिए। योगनिमित्तक संयमस्थानों में निष्कषायत्वरूप विशुद्धि समान होने पर भी जैसे-जैसे योगनिरोध न्यूनाधिक होता है वैसे-वैसे स्थिरता भी न्यूनाधिक होती है, योगनिरोध की विविधता के कारण स्थिरता भी विविध प्रकार की होती है अर्थात् केवल योगनिमित्तक संयमस्थान भी असंख्यात प्रकार के होते हैं। अन्तिम संयमस्थान तो एक ही हो सकता है जिसमें परम प्रकृष्ट विशुद्धि और परम प्रकृष्ट स्थिरता होती है।

उक्त प्रकार के संयमस्थानों में से सबसे जघन्य स्थान पुलाक और कषायकुशील के हैं। ये दोनों असंख्यात संयमस्थानों तक साथ ही बढ़ते जाते हैं। उसके बाद पुलाक रुक जाता है, परन्तु कषायकुशील अकेला ही बाद में भी असंख्यात स्थानों तक चढ़ता जाता है। तत्पश्चात् असंख्यात संयमस्थानों तक कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश एक साथ बढ़ते जाते हैं। उसके बाद बकुश रुक जाता है, प्रतिसेवनाकुशील भी उसके असंख्यात स्थानों तक चढ़कर रुक जाता है। तत्पश्चात् असंख्यात स्थानों तक चढ़कर कषायकुशील रुक जाता है। तदनन्तर अकषाय अर्थात् केवल योगनिमित्तक संयमस्थान आते हैं, जिन्हें निर्ग्रन्थ प्राप्त करता है और वह भी उसी प्रकार असंख्यात स्थानों तक जाकर रुक जाता है। सबके बाद एक मात्र अन्तिम, सर्वोपरि, विशुद्ध और स्थिर संयम आता है, जिसका सेवन करके स्नातक निर्वाण प्राप्त करता है। उक्त स्थान असंख्यात होने पर भी उनमें से प्रत्येक में पूर्व की अपेक्षा उत्तरस्थान की शुद्धि अनन्तानन्तगुनी मानी गई है। ४९। ●

: १० :

मोक्ष

नवें अध्याय में संवर और निर्जरा का निरूपण किया गया। अब इस दसवें और अन्तिम अध्याय में मोक्षतत्त्व का निरूपण किया जा रहा है।

कैवल्य की उत्पत्ति के हेतु

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । १ ।

मोह के क्षय से और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है।

मोक्ष प्राप्त होने से पहले केवल-उपयोग (सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व) की उत्पत्ति जैनशासन में अनिवार्य मानी गई है। इसीलिए मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते समय केवल-उपयोग किन कारणों से होता है, यह पहले ही बतला दिया गया है। प्रतिबन्धक कर्म का नाश हो जाने से सहज चेतना निरावरण हो जाती है और इससे केवल-उपयोग का आविर्भाव होता है। चार प्रतिबन्धक कर्मों में से पहले मोह ही क्षीण होता है और फिर अन्तर्मुहूर्त के बाद ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन कर्मों का भी क्षय हो जाता है। मोह सबसे अधिक बलवान् है, अतः उसके नाश के बाद ही अन्य कर्मों का नाश सम्भव है। केवल-उपयोग अर्थात् सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का सम्पूर्ण बोध। यही स्थिति सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व की है। १।

कर्म के आत्यन्तिक क्षय के कारण और मोक्ष का स्वरूप

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् । २ ।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः । ३ ।

बन्धहेतुओं के अभाव और निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है।

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है।

एक बार बँधे हुए कर्म का कभी-न-कभी तो क्षय होता ही है, पर वैसे कर्म का बन्धन पुनः सम्भव हो अथवा वैसा कोई कर्म अभी शेष हो तो ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि कर्म का आत्यन्तिक क्षय हो गया है। आत्यन्तिक क्षय का अर्थ है पूर्वबद्ध कर्म तथा नवीन कर्म के बाँधने की योग्यता का अभाव। मोक्ष की स्थिति कर्म के आत्यन्तिक क्षय के बिना कदापि सम्भव नहीं, इसीलिए यहाँ आत्यन्तिक कर्म के क्षय के कारण वर्णित है। वे दो है . १. बन्धहेतुओं का अभाव और २. निर्जरा। बन्धहेतुओ का अभाव हो जाने से नवीन कर्म बँधते नही और पहले बँधे हुए कर्मो का अभाव निर्जरा से होता है। बन्धहेतु मिथ्या-दर्शन आदि पाँच है जिनका कथन पहले हो चुका है। उनका अभाव समुचित सवर द्वारा होता है और तप, ध्यान आदि द्वारा निर्जरा भी होती है।

मोहनीय आदि पूर्वोक्त चार कर्मो का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट होती है, फिर भी वेदनीय आदि चार कर्म अत्यन्त विरल रूप में शेष रहते है जिनके कारण मोक्ष नही होता। इसीलिए इन शेष विरल कर्मों का क्षय भी आवश्यक है। इसके बाद ही सम्पूर्ण कर्मो का अभाव होने से जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। यही मोक्ष है। २-३।

अन्य कारण

औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शन-सिद्धत्वेभ्यः। ४।

क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और सिद्धत्व के अति-रिक्त औपशमिक आदि भावों तथा भव्यत्व के अभाव से मोक्ष प्रकट होता है।

पौद्गलिक कर्म के आत्यन्तिक नाश की भाँति उस कर्म के साथ कितने ही सापेक्ष भावो का नाश भी मोक्षप्राप्ति के पूर्व आवश्यक है। इसीलिए यहाँ वैसे भावो के नाश का मोक्ष के कारणरूप से कथन किया गया है। ऐसे मुख्य भाव चार है—१. औपशमिक, २. क्षायोपशमिक, ३. औदयिक और ४. पारिणामिक। औपशमिक आदि पहले तीन प्रकार के भाव तो सर्वथा नष्ट होते ही है, पर पारिणामिक भाव के बारे में यह बात नही है। पारिणामिक भावो में से मात्र भव्यत्व का ही नाश होता है, अन्य का नही, क्योंकि जीवत्व, अस्तित्व आदि दूसरे सभी पारिणामिक भाव मोक्ष-अवस्था में भी रहते है। क्षायिकभाव कर्म-सापेक्ष अवश्य है, फिर भी उसका अभाव मोक्ष में नही होता। इसीलिए सूत्र में क्षायिकसम्यक्त्व आदि भावो के अतिरिक्त अन्य भावो के नाश को मोक्ष का

कारण कहा गया है। यद्यपि सूत्र में क्षायिकवीर्य, क्षायिकचारित्र और क्षायिक-सुख आदि भावों का वर्जन क्षायिकसम्यक्त्व आदि की तरह नहीं किया गया है तो भी सिद्धत्व के अर्थ में इन सभी भावों का समावेश कर लेने से इन भावों का वर्जन भी गृहीत है। ४।

मुक्त जीव का मोक्ष के बाद तुरन्त ऊर्ध्वगमन

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् । ५ ।

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने के पश्चात् मुक्त जीव तुरन्त लोक के अन्त तक ऊपर जाता है।

सम्पूर्ण कर्म और तदाश्रित औपशमिक आदि भावों का नाश होते ही तुरन्त एक साथ एक समय में तीन कार्य होते हैं—१. शरीर का वियोग, २. सिध्यमान गति और ३ लोकान्त-प्राप्ति। ५।

सिध्यमान गति के हेतु

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः । ६ ।

पूर्व प्रयोग से, संग के अभाव से, बन्धन के टूटने से और वैसी गति के परिणाम से मुक्त जीव ऊपर जाता है।

जीव कर्मों से छूटते ही तत्काल गति करता है, स्थिर नहीं रहता। गति ऊँची और लोक के अन्त तक ही होती है, उससे ऊपर नहीं; यह शास्त्रीय मान्यता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि कर्म या शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों की सहायता के बिना अमूर्त जीव गति कैसे करता है? ऊर्ध्वगति ही क्यों, अधोगति या तिरछी गति क्यों नहीं करता? इन प्रश्नों के उत्तर यहाँ दिये गए हैं।

जीवद्रव्य का स्वभाव पुद्गलद्रव्य की भाँति गतिशील है। अन्तर इतना ही है कि पुद्गल स्वभावतः अधोगतिशील है और जीव ऊर्ध्वगतिशील। जीव अन्य प्रतिबन्धक द्रव्य के संग या बंधन के कारण ही गति नहीं करता अथवा नीची या तिरछी दिशा में गति करता है। ऐसा द्रव्य कर्म है। कर्मसंग छूटने पर और उसके बन्धन टूटने पर कोई प्रतिबन्धक तो रहता नहीं, अतः मुक्त जीव को अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करने का अवसर मिलता है। यहाँ पूर्वप्रयोग निमित्त बनता है अर्थात् उसके निमित्त से मुक्त जीव ऊर्ध्वगति करता है। पूर्वप्रयोग का अर्थ है पूर्वबद्ध कर्म के छूट जाने के बाद भी उससे प्राप्त वेग (आवेश)। जैसे कुम्हार का चाक डंडे और हाथ के हटा लेने के बाद भी पहले से प्राप्त वेग के कारण घूमता रहता है वैसे ही कर्ममुक्त जीव भी पूर्व-कर्म से प्राप्त आवेश के कारण

स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति ही करता है। जीव की ऊर्ध्वगति लोक के अन्त से ऊपर नही होती, क्योकि लोकान्त के आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है। प्रतिबन्धक कर्म द्रव्य के हट जाने से जीव की ऊर्ध्वगति के लिए तुम्बे और एरंड के बीज का उदाहरण दिया गया है। अनेक लेपो से युक्त तुंबा पानी में पड़ा रहता है, परन्तु लेप के हटते ही वह स्वभावत पानी के ऊपर तैरने लगता है। कोश (फली) में रहा हुआ एरंड-बीज फली के टूटते ही छिटककर उपर उठता है। इसी प्रकार कर्म-बन्धन के टूटते ही जीव भी उर्ध्वगामी होता है। ६।

सिद्धो की विशेषता-द्योतक बारह बातें

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः । ७ ।

क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, सख्या और अल्प-बहुत्व—इन बारह बातों द्वारा सिद्धों की विशेषताओं का विचार किया जाता है।

सिद्ध जीवों के स्वरूप को विशेष रूप से जानने के लिए बारह बातो का निर्देश किया गया है। यहाँ प्रत्येक बात के आधार पर सिद्धों के स्वरूप का विचार अभिप्रेत है। यद्यपि सभी सिद्ध जीवों में गति, लिङ्ग आदि सासारिक भावो के न रहने से कोई विशेष भेद नही रहता तथापि भूतकाल की दृष्टि से उनमें भी भेद की कल्पना और विचार किया जा सकता है। यहाँ क्षेत्र आदि जिन बारह बातों से विचार किया गया है उनमें से प्रत्येक के विषय में यथा-सम्भव भूत और वर्तमान दृष्टि लगा लेनी चाहिए।

१. क्षेत्र (स्थान)—वर्तमान भाव की दृष्टि से सभी मुक्त जीवो के सिद्ध होने का स्थान एक ही सिद्धक्षेत्र अर्थात् आत्मप्रदेश या आकाशप्रदेश है। भूत भाव की दृष्टि से इनके सिद्ध होने का स्थान एक नहीं है, क्योंकि जन्म की दृष्टि से पन्द्रह में से भिन्न-भिन्न कर्मभूमियो से सिद्ध होते है, और संहरण की दृष्टि से समग्र मनुष्यक्षेत्र से सिद्ध हो सकते है।

२. काल (अवसर्पिणी आदि लौकिक काल)—वर्तमान दृष्टि से सिद्ध होने का कोई लौकिक कालचक्र नहीं है, क्योंकि एक ही समय में सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से जन्म की अपेक्षा से अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी तथा अनवसर्पिणी, अनुत्सर्पिणी में जन्मे जीव सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार संहरण की अपेक्षा से उक्त सभी कालों में सिद्ध होते हैं।

३ गति—वर्तमान दृष्टि से सिद्धगति में ही सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से यदि अन्तिम भाव को लेकर विचार करें तो मनुष्यगति से और अन्तिम से पहले के भाव को लेकर विचार करें तो चारों गतियों से सिद्ध होते हैं।

४ लिङ्ग—लिङ्ग वेद या चिह्न को कहते हैं। पहले अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अवेद ही सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से स्त्री, पुरुष, नपुंसक इन तीनों वेदों से सिद्ध हो सकते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अलिङ्ग ही सिद्ध होते हैं, भूत दृष्टि से यदि भावलिङ्ग अर्थात् आन्तरिक योग्यता का विचार करें तो स्वलिङ्ग (वीतरागता) से ही सिद्ध होते हैं और द्रव्यलिङ्ग का विचार करें तो स्वलिङ्ग (जैनलिङ्ग), परलिङ्ग (जैनेतर पन्थ का लिङ्ग) और गृहस्थलिङ्ग इन तीनों लिङ्गों से सिद्ध होते हैं।

५ तीर्थ—कोई तीर्थंकररूप में और कोई अतीर्थंकररूप में सिद्ध होते हैं। अतीर्थंकर में कोई तीर्थ प्रवर्तित हो तब होते हैं और कोई तीर्थ प्रवर्तित न हो तब भी होते हैं।

६ चारित्र—वर्तमान दृष्टि से सिद्ध जीव न तो चारित्री ही होते हैं और न अचारित्री। भूत दृष्टि से यदि अन्तिम समय को लें तब तो यथाख्यातचारित्री ही सिद्ध होते हैं और उसके पूर्व समय को लें तो तीन, चार तथा पाँच चारित्रों से सिद्ध होते हैं। सामायिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात ये तीन अथवा छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात ये तीन, सामायिक, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात ये चार एवं सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात ये पाँच चारित्र जानने चाहिए।

७ प्रत्येकबुद्धबोधित—प्रत्येकबोधित और बुद्धबोधित दोनों सिद्ध होते हैं। जो किसी के उपदेश के बिना अपनी ज्ञान-शक्ति से ही बोध प्राप्त करके सिद्ध होते हैं ऐसे स्वयंबुद्ध दो प्रकार के हैं—एक तो अरिहंत और दूसरे अरिहंत से भिन्न, जो किसी एकाध बाह्य निमित्त से वैराग्य और ज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होते हैं। ये दोनों प्रत्येकबोधित हैं। जो दूसरे ज्ञानी से उपदेश ग्रहण कर सिद्ध होते हैं वे बुद्धबोधित हैं। इनमें भी कोई तो दूसरे को बोध करानेवाले होते हैं और कोई मात्र आत्म-कल्याणसाधक होते हैं।

८. ज्ञान—वर्तमान दृष्टि से मात्र केवलज्ञानी ही सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से दो, तीन, चार ज्ञानवाले भी सिद्ध होते हैं। दो अर्थात् मति और श्रुत, तीन अर्थात् मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, मन.पर्याय; चार अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और मन पर्याय।

९. अवगाहना (ऊँचाई)—जघन्य अंगुलपृथक्त्वहीन सात हाथ और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष के ऊपर धनुषपृथक्त्व जितनी अवगाहना से सिद्ध हो सकते हैं, यह भूत दृष्टि की अपेक्षा से कहा गया है। वर्तमान दृष्टि से जिस अवगाहना से सिद्ध हुआ हो उसी की दो-तृतीयांश अवगाहना होती है।

१०. अन्तर (व्यवधान)—किसी एक के सिद्ध होने के बाद तुरन्त ही जब दूसरा जीव सिद्ध होता है तो उसे 'निरन्तर-सिद्ध' कहते हैं। जघन्य दो समय और उत्कृष्ट आठ समय तक निरन्तर-सिद्धि चलती रहती है। जब किसी की सिद्धि के बाद अमुक समय व्यतीत हो जाने पर कोई सिद्ध होता है तब वह 'सान्तर-सिद्ध' कहलाता है। दोनो के बीच की सिद्धि का अन्तर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः मास का होता है।

११. संख्या—एक समय में जघन्य (कम-से-कम) एक और उत्कृष्ट (अधिक-से-अधिक) एक सौ आठ सिद्ध होते हैं।

१२. अल्पबहुत्व—क्षेत्र आदि जिन ग्यारह बातो का विचार ऊपर किया गया है उनके विषय में संभाव्य भेदो की परस्पर में न्यूनाधिकता का विचार करना ही अल्पबहुत्व है। जैसे क्षेत्रसिद्ध में संहरण-सिद्ध की अपेक्षा जन्मसिद्ध संख्यातगुणाधिक होते हैं। ऊर्ध्वलोकसिद्ध सबसे कम होते हैं, अधोलोकसिद्ध उनसे संख्यातगुणाधिक और तिर्यग्लोकसिद्ध उनसे भी संख्यातगुणाधिक होते हैं। समुद्रसिद्ध सबसे कम होते है और द्वीपसिद्ध उनसे संख्यातगुणाधिक होते हैं। इसी प्रकार काल आदि प्रत्येक बात से अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। विशेष जिज्ञासु अन्य ग्रन्थो से अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

अनुक्रमणिका

त

द

ध

न

प

स